श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला

श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

पूर्वार्द्ध—पञ्चम किरण

सम्पादक—
श्री पं० श्रीप्रकाश शास्त्री,
न्याय-काव्य-तीर्थ

सम्पादक—
श्री पं० भँवरलाल जैन,
न्यायतीर्थ

प्रकाशिका—
श्री आचार्य सूर्यसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति,
जयपुर।

प्रथम संस्करण
६५०

वीर संवत्
२४७३

मूल्य—
पूरे ग्रन्थ का ३॥) रुपया।
पञ्चम किरण का ३/) रुपया।

प्रकाशकीय

संयम प्रकाश की यह पांचवीं किरण काफी विलम्ब से निकल रही है। यह विलम्ब पाठकों को असह्य हो उठा और स्वय हमें भी। इसका हमे दुःख है; पर हम विवश थे। श्री. पं० भवरलालजी व प० श्रीप्रकाशजी की अस्वस्थता, प्रेस-कर्मचारियों की अनुपस्थिति, प्रेस को विजली न मिलना अथवा सीमित मिलना और कागज का अभाव आदि विविध कठिनाइयो के कारण यह विलम्ब होगया। हमने वार २ इन कठिनाइयों पर विजय पाना चाहा पर असफल रहे। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त इस विलम्ब का एक यह भी कारण है कि यह किरण पीछे की सारी किरणो से बड़ी है। यह अकेली ही करीब दो किरणों के बराबर है। इसलिए प्रकाशित अन्य किरणों की अपेक्षा इसमे अधिक समय लगना उचित ही था। इसलिए अवश्य ही पाठक हमे इस विलम्ब के लिए क्षमा करेंगे।

इस वार टाइप पुराना हो जाने से इस किरण में गलतियें रह गईं और छपाई भी संतोप जनक न हो सकी। प्रेस के भूतों की असावधानी से कुछ और भी गल्तियां रह गई हैं। जैसे पृष्ठ नं० ६२८ के पश्चात् ६३३ लग गया है और इस तरह बीच के चार नम्बर रह गये हैं। पाठक इन्हें ठीक करलें।

एक बात पाठको से हमे और कहना है। वह यह है कि इस पांचवीं किरण को मिला कर अब तक की सब किरणो के एक हजार से भी अधिक पृष्ठ होगये हैं। विपय सूची इनसे अलग है। अनुमान होता है कि सारी दशों किरणों के लगभग सतरह सौ पत्र हो जावेंगे। हमने पहले पूरे ग्रंथ का मूल्य पन्द्रह रुपये घोषित किया था वह केवल लागत मूल्य की सभावना मात्र से निर्धारित किया था। तब से अब तक कागज और छपाई आदि सभी का मूल्य काफी बढ गया है। इसके सिवाय उस समय यह खयाल भी नहीं था कि ग्रंथ का परिमाण इतना अधिक बढ़ जायगा। उस समय दशो किरणो के पत्रों के परिमाण का हमने लगभग तेरह सौ के अंदाजा लगाया था। पर वह अंदाजा गलत होता दिखता है। ऐसी अवस्था मे अभी नहीं तो संभव है एक दो किरण और प्रकाशित होजाने के बाद हमें ग्रंथमाला के स्थायी ग्राहकों को मूल्य बढाने की प्रार्थना करने के लिए विवश होना पडे। आशा है ग्राहक महोदय हमारे इस उचित निवेदन पर ध्यान देकर कोई ऐसी व्यवस्था सुझावेंगे जिससे ग्रंथमाला को हानि न उठानी पड़े।

चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,

मन्त्री—

श्री आचार्य सूर्य सागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति.

मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

❋ विषय-सूची ❋

विषय	पृष्ठ संख्या
वृहत्समाधि अधिकार वर्णन	७३७
मंगलाचरण	"
समाधिमरण का अर्थ	"
समाधि की प्राप्ति	"
आयुबन्ध का नियम	७३८
समाधियुक्त मरण का स्वरूप	७३९
मरण के १७ भेद	७४०
१–आवीचिमरण	"
आवीचिमरण के भेद	७४१
१ प्रकृति आवीचिमरण	"
२ स्थिति " "	"
३ अनुभाग " "	"
४ प्रदेश " "	"
२ तद्भव मरण	७४२
३ अवधि मरण	७४२
१ सर्वावधिमरण	"
२ देशावधि मरण	"
४ आद्यंत मरण	"
५ बालमरण	७४३
१ अव्यक्त बाल	"
२ व्यवहार बाल	"
३ दर्शन बाल	"
४ ज्ञानबाल	"
५ चारित्रबाल	"
६ दर्शन बाल के दो भेद	"
(१) इच्छा प्रवृत्तबालमरण	"
(२) अनिच्छा प्रवृत्तबालमरण	७४४
६ पण्डित मरण	७४४
१ व्यवहार पण्डित मरण	"
२ दर्शन "	"
३ ज्ञान "	"

विषय	पृष्ठ संख्या
५ [illegible] मरण	७४४
७–ओसन्नमरण	७४५
८–बालपंडित मरण	”
९–सशल्य मरण	७४६
द्रव्य और भावशल्य	”
मायाशल्य	”
मिथ्याशल्य	”
निदानशल्य	”
१ प्रशस्तनिदान	”
२ अप्रशस्तनिदान	”
३ भोग निदान	”
१० पलायमरण	७४७
११ वशार्त्त (आर्त्तवश) मरण	”
१ इन्द्रिय वशार्त्त मरण	”
२ वेदना वशार्त्त मरण	७४८
३ कषाय वशार्त मरण	”
१ क्रोध वशार्त्त मरण	”
२ कुलादि आठ मान वशार्त्त मरण	”
३ निकृति आदि पाच माया वशार्त्त मरण	७४९
४ लोभ वशार्त्त मरण	”
४ नोकषाय वशार्त्त मरण	”
१२–विप्पाणस (विप्राण) मरण	”
१३–गृध्रपृष्ठ मरण	७५०

विषय	पृष्ठ संख्या
१४–भक्त प्रत्याख्यान मरण	७५०
१५–इंगिनी मरण	”
१६–प्रायोपगमन मरण	”
१७–केवली मरण	”
पंडितपंडितादि पांच मरणका विशेष वर्णन	७५०
मरण पांच ही क्यों ?	७५१
पंडितपंडितादि पांचों मरण का स्वरूप	”
पंडित मरण के तीन भेद	७५२
प्रायोपगमन मरण	७५३
इंगिनी मरण	”
भक्त-प्रतिज्ञा (भक्त प्रत्याख्यान) मरण	७५५
भक्त प्रत्याख्यान के दो भेद	७५५
सविचार भक्त प्रत्याख्यान	”
अविचार ”	”
सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण के अर्ह, लिंगादि चालीस भेद और उनका संक्षिप्त स्वरूप	७५५
उक्त अर्ह लिंगादि के अधिकार द्वारा विशेष वर्णन	७५६
अर्हाधिकार	”
आराधना योग्य साधु का वर्णन	”
भक्त प्रत्याख्यान करने वाले के कौनसा लिंग होना चाहिए	”
भक्त प्रत्याख्यान के समय आर्यिका के लिए नग्न भेष	७६१
उत्सर्ग लिंग के चार भेद	७६४

विषय	पृष्ठ संख्या
स्वाध्याय के सात गुण	७६५
१ आत्महित ज्ञान	७६६
२ भावसंवर	"
३ नवीन २ संवेगभाव	"
४ मोक्ष मार्ग में स्थिरता	७६७
५ तप वृद्धि	७६७
६ गुप्ति पालन में तत्परता	"
७ परोपदेश सामर्थ्य	"
बुराइयों का कारण अज्ञान	७६८
अज्ञानी के जो कार्य कर्म बन्ध करते हैं वे ही ज्ञानी के कर्म क्षय करते हैं	"
विनय की महिमा	७७१
विनय के भेद	७७२
१ दर्शन विनय	"
२ ज्ञान विनय	"
३ चारित्र विनय	७७३
४ तप विनय	"
५ उपचार विनय	"
मन को वश में करने की आवश्यकता	७७३
निरंतर विहार की उपयोगिता	७७४
समाधिमरण के लिए तत्परता	७७५
समाधिमरण में शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद	७७७
१ आलोचना शुद्धि	७७८
२ शय्यासंस्तर शुद्धि	"

विषय	पृष्ठ संख्या
३ उपकरण शुद्धि	७७८
४ भक्तपान शुद्धि	"
५ वैयावृत्यकरण शुद्धि	"
शुद्धियों के अन्य प्रकार से भेद	"
१ दर्शन शुद्धि	७७९
२ ज्ञान शुद्धि	"
३ चारित्र शुद्धि	"
४ विनय शुद्धि	"
५ आवश्यक शुद्धि	"
विवेक के भेद	७७९
१ इन्द्रिय विवेक	७८०
२ कषाय विवेक	"
३ उपधि विवेक	"
४ भक्त-पान विवेक	७८१
५ देह विवेक	"
विवेक के अन्य प्रकार से भेद	"
सल्लेखना के लिए उद्यत आचार्य का आचार्यपद त्याग	७८२
त्यागने योग्य ५ कुभावनाएं	७८३
पांच शुभ भावनाएं	"
१ तप भावना	"
तप भावना से रहित साधु में दोष	७८४
२ श्रुत भावना	७८५
३ सत्त्व (अभीरुत्व) भावना	७८६

विषय	पृष्ठ संख्या
भिन्न २ पर्यायों में प्राप्त दुःखों का स्वरूप दिखा कर आत्मा को निर्भय बनाना	७८७
४ एकत्व भावना	७६१
५ धृतिबल भावना	७६२
सल्लेखना के भेद	७६३
अनशन तप के दो भेद	७६५
अवमौदर्य तप	७६५
रसपरित्याग तप	७६६
वृत्ति परिसंख्यान तप	७६७
कायक्लेश तप	७६८
विविक्तशयासन तप	७६६
वसतिका सम्बन्धी आधाकर्म दोष	८००
१ उद्गम दोष के सोलह भेद और उनका स्वरूप	”
२ उत्पादन दोष के १६ भेद और उनका स्वरूप	८०२
३ एषणा दोष के दश भेद और उनका स्वरूप	८०४
वसतिका के अगारादि चार दोष और उनका स्वरूप	८०५
वसतिका के योग्य स्थान	८०६
बाह्यतप के गुण	८०८
सल्लेखना का आराधन अन्य २ प्रयोगों से	८१२
प्रतिमा योग	८१३
भिक्षु प्रतिमा और उसके सात भेद	”

विषय	पृष्ठ संख्या
आचाम्ल तप	८१४
भक्तप्रत्याख्यान का काल	”
भक्तप्रत्याख्यान काल की यापन विधि	८१५
कषाय से बचने के उपाय	८१७
सल्लेखना के आराधक आचार्य का कर्त्तव्य	८१८
शिष्य समूह आचार्य के लिए परिग्रह स्वरूप है	८१६
संघ का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेश	”
ज्ञान के अतिचार	८२०
दर्शन के ”	”
चारित्र के ”	८२१
आचार्य के लिए ध्यान देने योग्य विषय	८२१
आचार्यों के लिए आवश्यक विनय और उसके भेद	८२४
दर्शन विनय	”
ज्ञान विनय	”
चारित्र विनय	”
तपोविनय	८२५
उपचार विनय	”
मुनि के लिए निद्रा हास्य क्रीडादि के त्याग का वर्णन	८२५
मुनि संघ की वैयावृत्य भक्ति पूर्वक करने का विधान	८२७
जनापवाद मार्ग पर जाने का मुनि को निषेध	८२६

विषय	पृष्ठ संख्या
पार्श्वस्थादि साध्वाभासों की संगति से साधु का पतन है	८३१
साधु को परोपकारी होना आवश्यक है	८३३
साधु आत्म-प्रशंसक न बने	८३४
साधु पर निन्दा न करे	८३५
पूर्व आचार्य के उपदेश का नवीन आचार्य व मुनिसंघ द्वारा उत्तर	८३६
संन्यास के लिए आचार्य का दूसरे संघ में गमन	८३७
अपने ही संघ में रहने में दोष	८३८
निर्यापकाचार्य (नवीन संघ के आचार्य) का कर्तव्य	८३६
निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का क्रम	८३६
निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का काल	८४०
निर्यापकाचार्यके अन्वेषण के लिए विहार की पांच प्रकार की विधि	,,
१ एक रात्रि प्रतिमा कुशल	,,
२ स्वाध्याय कुशल	८४१
३ प्रश्न कुशल	,,
४ स्थंडिल शायी	,,
५ आसक्ति रहित	,,
यदि विहार काल में वाणी बन्द हो जावे या मृत्यु को प्राप्त हो जावे तो क्या वह आराधक है	८४१
निर्यापकाचार्य का आगत साधु के प्रति कर्तव्य	८४२
संघ के साधु व आगत साधु का परस्पर में परीक्षण	८४३
प्रति लेखन परीक्षा	८४५
वचन परीक्षा	,,
स्वाध्याय परीक्षा	,,
मलमूत्र-क्षेपण परीक्षा	,,
भिक्षा परीक्षा	८४४
आचार हीन साधु को आश्रय देने में हानि	८४५
निर्यापकाचार्य के गुण	८४६
१ आचारवान	,,
आचारवान का अन्य प्रकार से विवेचन	८४७
स्थित कल्प के दस भेद	८४८
१ नग्नत्व स्थिति कल्प	,,
२ उद्दिष्ट भोजनादि त्याग कल्प	८५०
३ शय्याधर के पिंड का त्याग	,,
४ राजपिंड त्याग	८५१
५ कृतिकर्म	८५२
६ मूलोत्तर गुण परिपालन	,,
७ ज्येष्ठत्व	८५३
८ प्रतिक्रमण	८५४
६ एकमास निवास	८५५
१० पज्ज	,,

विषय	पृष्ठ संख्या
आचारवान् आचार्य से क्षपक को लाभ	८५६
२ आचार्य का आधारत्व गुण	८५७
संयम की सफलता	८५५
क्षपक को सिद्धान्त के वेत्ता आचार्य की आवश्यकता	,,
क्षपक को परीषहों की बाधा से कैसे दूर किया जाय	८५६
३ आचार्य का व्यवहार ज्ञत्वगुण	८६२
व्यवहार के ५ भेद और उनका स्वरूप	,,
प्रायश्चित शास्त्र का सर्व साधारण को सुनने का अधिकार क्यों नहीं	,,
समान अपराध होने पर सबको प्रायश्चित समान रूप से देते हैं या उसमें भिन्नता होती है	८६४
आचार्य में व्यवहारज्ञत्व (प्रायश्चित शास्त्र ज्ञान) आवश्यक है	८६६
४ आचार्य का प्रकारत्व गुण	८६७
५ आचार्य का आयोपायदर्शित्व गुण	८६८
६ आचार्य का अवपीडकत्व गुण	८७०
क्षपक के प्रति आचार्य का उपदेश	,,
अवपीडक आचार्य का स्वरूप	८७३
७ आचार्य की विशिष्टता	८७५
(यहा अपरिस्रावी बना छपने से रह गया है, शुद्ध करलें)	
८ आचार्य का सुखकारी (निर्वापक) गुण	८७६
सगुण आचार्य की प्राप्ति कैसे हो	८७८
क्षपक गुरुकुल को आत्म-समर्पण कैसे करे ?	,,

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथम सामायिकादि षट् आवश्यक का विधान	८७८
वन्दना के पश्चात् सघ मे रहने की आज्ञा प्राप्ति	८७९
आचार्य में संघ में रखने की आज्ञा देना एवं आगत क्षपक की परीक्षा	८८०
क्षपक के लिए संघस्थ परिचारक साधुओं की सम्मति	८८०
एक आचार्य के पास कितने क्षपक समाधिमरण करते हैं	८८२
आचार्य का क्षपक के प्रति समस्त संघ के मध्य उपदेश	८८
आचार्य के ३६ गुण	८७७
प्रायश्चितादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरों को क्यों कहे	८७
आलोचना का स्वरूप और भेद	८८६
सामान्य आलोचना	८८६
विशेष आलोचना	,,
शल्य के भेद	,,
अतिचार शोधन बिना मृत्यु होने से हानि	८८८
क्षपक कायोत्सर्ग कैसे करे	८८९
आलोचना के लिए काल स्थान आदि का विधान (यहां आदि के स्थान में 'वादि' छप गया है शुद्ध करलें)	८९०
आलोचना के आकम्पितादि दस दोष और उनका स्वरूप	८९२
साधु किन २ दोषों की कैसे आलोचना करे	८९६
दर्पादि बीस अतिचार और उनका स्वरूप	८९९
आलोचना के पश्चात् आचार्य का कर्त्तव्य	९०२

विषय	पृष्ठ संख्या
निष्कपट और सकपट आलोचना और उनका प्रायश्चित	”
आचारत्वादि विशिष्ट निर्यापक आचार्य के न मिलने पर समाधिमरण कौन करावे ?	६०४
प्रायश्चित्ताचरण के पश्चात् देह त्याग काल न होने पर क्षपक क्या करे ?	६०४
समाधिमरण करने वाले क्षपक के लिए वसतिका कैसी हो	”
क्षपक का संस्तर कैसा हो	६०७
संस्तर के चार भेद	६०८
१ पृथ्वी संस्तर	”
२ शिलामय ”	”
३ काष्ठमय ”	”
४ तृण ”	”
संस्तर के आवश्यक गुण	”
वैयावृत्य-कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए	६१०
क्षपक की क्या परिचर्या की जाती है और कौनसी परिचर्या के लिए कितने मुनि नियुक्त किये जाते हैं	६११
क्षपक के सम्मुख न करने योग्य विकथाएं	६१२
क्षपक को किस प्रकार धर्मोपदेश किया जाय	”
क्षपक के लिए कौनसी कथा उपयुक्त है	६१३
कथाओं के चार भेद	”
आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा	”
संवेजनी और निर्वेजनी कथा	६१४

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा का निषेध	”
क्षपक की आहार विषयक योजना के लिए चार मुनि नियुक्त	६१५
चार मुनि पीने योग्य पदार्थ के लिए नियुक्त किए जाते हैं	६१८
चार मुनि भोजन पान के पदार्थों की रक्षा करते हैं	”
चार मुनि मलमूत्रादि की प्रतिष्ठापना एवं शय्यादि का प्रमार्जन करते हैं	६२०
चार मुनि द्वार पाल का काम करते हैं	”
चार मुनि रात्रि में जागते हैं	६२१
चार मुनि आगत श्रोताओं को उपदेश देते हैं	”
वाद विवाद के लिए चार वाग्मी मुनि नियुक्त	६२२
समाधिमरण के लिए ४८ परिचारक मुनि ही चाहिए या अधिक कम	”
सल्लेखना से प्राण त्याग करने वाला जीव संसार में कितने भव धारण करता है	६२५
समाधिमरण के काल का विभाजन	”
क्षपक के लिए तैल प्रयोग का विधान	६२६
क्षपक के समक्ष भोजनादि कथाएं नहीं करना चाहिए	”
क्षपक को तीन प्रकार के आहार का त्याग करना	”

नोट—पृष्ठ न० ६२८ के पश्चात् पृष्ठ० नं० ६३३ छपगया है, बीच के चार नम्बर छुट गये हैं। पाठक ठीक करले।)

विषय	पृष्ठ संख्या
पानक पदार्थ के ६ भेद और उनका स्वरूप	६३५
क्षपक के उदरस्थमल का निवारण	६३६

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक द्वारा क्षमायाचना	६३७
क्षपक को कर्ण जाप	६३८
मिथ्यात्व का त्याग	६४०
सम्यक्त्व का स्वरूप व गुण समझाना	६४१
मृत्यु समय श्रवण गोचर हुए णमोकार मंत्र का प्रभाव	६४४
भिन्न २ रीति द्वारा निर्यापकाचार्य उपदेश देकर क्षपक को सम्यक्त्व में दृढ करते हैं	६४५
क्षपक के रोग का औषधादि द्वारा प्रतीकार	„
बाह्य उपचार को छोडकर अंतरंग शुद्धि के लिए प्रयत्न व उपदेश	६४६
उपसर्गों से विचलित न होने वाले महा मुनियों के कुछ उदाहरण	६४६
नरकादि गतियों में भोगे हुए दुःखों का दिग्दर्शन कराते हुए क्षपक को सम्बोधन	६५४
नरक गति के दुःख	„
तिर्यंच गति के दुःख	६५७
मनुष्य गति में प्राप्त दुःख	६५८
देवगति के दुःखों का वर्णन	६६०
आत्मचिंतन व आराधना द्वारा प्राप्त शुभ फल को	६६३
आर्त रौद्रादि भावों से कुगति की प्राप्ति	६६६
समाधिमरण द्वारा प्राण छोड़ने पर शरीर की व्यवस्था	६६७

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक की निषीधिका (निषद्या)	६६८
निषीधिका किस दिशा में होनी चाहिए	„
क्षपक के मृत्यु समय की क्रियाएं	६६६
रात्रि में मरण होने पर जागरण बन्धन, और छेदन क्रियाएं	६७०
	„
शव की बन्धनादि क्रिया क्यों ?	६७१
व्यन्तर देवों का वर्णन	६७२
व्येन्तरो के भेद प्रभेद	६७३
मुनि के शव का क्या करना चाहिए	
आर्यिका का समाधिमरण मुनि की भांति ही होता है या भिन्न प्रकार से	६७४
	६७५
श्रावक कि सन्निधि से शव ले जावें	„
संस्तर कैसा हो	
क्षपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से शुभाशुभ फल का सूचक	६७६
मध्यम या उत्कृष्ट नक्षत्र में मरण होने पर उत्पात का निवारण	६७७
संघस्थ मुनि का मरण होने पर सङ्घ के मुनियों का कर्तव्य	६७८
मृत क्षपक की गति का ज्ञान	६७६
क्षपक की महानता	६८०
निर्यापक मुनि की महानता	„
क्षपक के दर्शन करने वाले धर्मात्माओं की पुण्य शालिता	६८१

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक के वासस्थान तीर्थ हैं	”
अविचारभक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप	६८२
अविचार भक्त प्रत्याख्यान के ३ भेद	६८३
१ निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान	”
निरुद्ध के भेद	६८४
२ निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान	”
३ परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान	६८५
अविचार भक्त प्रत्याख्यान के अल्प काल में मुक्ति-प्राप्ति कैसे ?	६८५
इंगिनी मरण	६८७
पंडित मरण का तृतीय भेद प्रायोपगमन	६६१
तीन भेदों के अतिरिक्त भी पंडित मरण	६६३

विषय	पृष्ठ संख्या
उपसर्गादि आने पर आत्म ध्यानस्थ मुनियों के कुछ उदाहरण	६६३
जीवन्मुक्ति की उत्पत्ति का क्रम	६६४
ध्यान के बाह्य निमित्त	६६४
धर्म ध्यानस्थ मुनि द्वारा कर्म प्रकृतियों का विसंयोजन	६६५
केवली अवस्था	६६७
समुद्घात वर्णन	”
योगनिरोध ”	६६६
योग निरोध के बाद कौनसी कर्म प्रकृतियां रहती हैं ?	”
शुद्धजीवकी गति कैसे होती है ?	१०००
सिद्धशिला कहां है ?	”
सिद्धावस्था का सुख	१००१
पंचम किरण समाप्त	१००२

संयम-प्रकाश

का

उत्तरार्द्ध छप रहा है।

शीघ्र ही पाठकों की सेवा में भेजा जावेगा।

संयम—प्रकाश

पूर्वार्द्ध—पंचम किरण

वृहद्–समाधि–अधिकार

❀ मंगलाचरण ❀

सन्मतिं प्रणिपत्याहं समाधिमरणाश्रय—
मधिकारमिमं वक्ष्ये मोक्षश्रीप्राप्तिकारणम् ॥

इस अध्याय मे समाधिमरण का विस्तृत वर्णन किया जायगा। समाधि का अर्थ है अपने आपमें लवलीन होना। समाधि, ध्यान और योग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। मृत्यु के समय शरीर, कुटुम्ब, धन, गृहादि पर पदार्थों से हटकर आत्मस्थ होना एवं वीरता और शांति के साथ मृत्यु का आलिंगन करना समाधिमरण कहलाता है। समाधिमरण का प्राप्त होना सचमुच ही बहुत दुर्लभ है।

जिस आत्मा मे अशुभ परिमाणो की संतति बनी रहती है, उसको समाधि की प्राप्ति कैसे होसकती है? इसलिए समाधि प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम अशुभ भाव उत्पन्न करने वाले बाह्य निमित्तों को त्याग कर शुभ भाव या शुद्ध भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। जब तक मानसिक विकार आत्मा को मलीन करते रहें, तब तक समाधि (चित्त-शान्ति) की आशा करना व्यर्थ है। इसलिए चित्त में अशान्ति उत्पन्न करने वाले कारणों का त्याग कर शुभ और शुद्ध परिणामों की जागृति करने वाले उपायों का आश्रय लेना उचित है। यदि एक बार भी सम्यक्त्व सहित समाधिमरण हो जावे तो वह आत्मा अवश्य ही कभी न कभी मुक्ति पद का अधिकारी होता है। वज्रऋषभनाराच संहनन आदि सकल साधन संयुक्त कोई जीव तो समाधि मरण के प्रभाव से उसी भव में मोक्ष को प्राप्त होता है और कोई दो, तीन या सात, आठ भव बाद मोक्ष की प्राप्ति करता है। इसलिए संयमियों को समाधि के अनुकूल साधनों की ओर अग्रसर होते हुए सदा समाधिमरण के लिए तत्पर रहना चाहिए; क्योंकि मृत्यु के आनेका कोई निश्चित समय नहीं है।

आयुर्बंध का नियम

अपकर्ष काल में करता है। अर्थात्
कर्मभूमि मे जन्मा हुआ मनुष्य व तिर्यंच परभव की आयु का बन्ध भुज्यमान आयु के आठ अपकर्ष काल है।
भुज्यमान आयु के बराबर तीन हिस्सों में से दो हिस्से बीत जाने पर तीसरे भाग के पहले समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त तक पहला अपकर्ष काल है। फिर तीन भाग
इस अपकर्ष काल मे परभव संबंधी आयु का बंध हो सकता है। यदि इस समय न हो तो फिर उस बचे हुए एक हिस्से के अपकर्ष काल
करना चाहिए, उन तीन भागों में पहले के दो भाग बीत जाने पर तीसरे भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त तक दूसरा पाँचवाँ, छटा,
कहलाता है, उस काल मे भी परभव संबंधी आयु का बंध हो सकता है। यदि इसमे भी नहीं हुआ तो इसी तरह तीसरा, चौथा, अन्तिम अन्त-
सातवाँ, और आठवाँ अपकर्ष काल होता है इनमे से किसी मे आयु का बंध हो सकता है। यदि इनमें भी न हुआ तो आयु के भागों मे से
मुहूर्त्त मे होगा। उदाहरणतया किसी कर्मभूमि के मनुष्य की भुज्यमान आयु छह हजार पांच सौ इकसठ वर्ष की है। इसके तीन एक भाग के
दो भाग (तियालीस सौ चौहत्तर वर्ष) बीत जाने पर जब शेष एक भाग (इक्कीस सौ सत्यासी वर्ष) रह जाता है तब इस होता है।
प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त तक का काल प्रथम अपकर्ष काल कहलाता है। इस अपकर्ष काल में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध बीत जाने
यदि इस काल मे आयु का बन्ध न हो तो उस एक तृतीय भाग (इक्कीस सौ सत्यासी वर्ष) में से दो भाग (चौदह सौ अठावन वर्ष) जाता है।
पर जो शेष एक तृतीय भाग (सात सौ उन्तीस वर्ष) रहता है, उसके प्रारंभ के अन्तर्मुहूर्त्त तक का काल दूसरा अपकर्ष काल कहा भाग (सात
उस काल मे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इस काल मे भी आयु का बन्ध न हो तो उस अवशिष्ट एक तृतीय लेकर अन्त-
सौ उन्तीस वर्ष) म से दो भाग बीत जाने पर जो एक भाग (दो सौ तियालीस वर्ष) शेष रहता है उसके प्रथम समय से होता है। यदि
मुहूर्त्त पर्यन्त का काल अपकर्ष काल कहलाता है। यह तीसरा अपकर्ष काल हुआ। उसमे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध अपकर्ष काल
इसमे भी आयु का बन्ध न हो तो शेष भाग (दो सौ तियालीस वर्ष) के प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त मे आयु का बन्ध करने वाला चौथा अपकर्ष काल
है, उसमे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इसमे भी आयु का बन्ध न हो तो पांचवें, छटे, सातवें अथवा आठवें अन्तिम अन्त-
म आयु का बन्ध होता है। यदि आठों मे से किसी भी अपकर्ष काल मे आयु का बन्ध न हुआ हो तो भुज्यमान आयु के
मुहूर्त्त (आयु की अन्तिम आवली के असख्यातवे भाग प्रमाण काल से पूर्व के अन्तर्मुहूत) मे आयु का अवश्य बंध होता है।

इस प्रकार कर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यंचो के परभव सम्बन्धी आयु के बन्ध होने का नियम कहा गया है। किन्तु भोगभूमि मे जन्मे हुए के लिए तथा देव, नारकियों के परभव सम्बन्धी आयु-बन्ध के विषय में कुछ विशेषता है। वह निम्न प्रकार है—

भोग-भूमिज मनुष्य व तिर्यंचों के परभव आयु का बन्ध भुज्यमान आयु के अन्तिम नौ महिनों में होने वाले आठ अपकर्षों के काल में

होता है। अर्थात् उनकी आयु के जब नौ महीने शेष रहते हैं तब पूर्व की भांति आठ अपकर्ष होते हैं। नौ महिने में से दो भाग बीत जाने पर जब तृतीय भाग (तीन महीने) शेष रहता है, तब उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त का प्रथम अपकर्ष काल होता है। उसमें परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। जब उसमें आयु का बन्ध नहीं होता है, तब शेष एक तृतीय भाग (तीन महिने) में से दो भाग (दो महिने) बीत जाने पर अवशिष्ट तृतीय भाग (एक मास) रहजाने पर उसको प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त का दूसरा अपकर्ष काल होता है। उसमें आयु का बन्ध होता है। यदि उसमें भी आयु का बन्ध न हुआ तो तीसरे, चौथे, पांचवे, छटे, सातवे, या आठवें में आयु का बन्ध होता है। यदि इनमें भी न हुआ हो तो पूर्व की भांति भुज्यमान आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त में तो अवश्य ही होता है।

देव तथा नारकियों के परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध भुज्यमान आयु के अन्तिम छह महिने शेष रहने पर होता है। अर्थात् शेष छह महिनों में पूर्व की भांति आठ अपकर्षण होते हैं। उनमें परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। और यदि उन आठ अपकर्षों के काल मे भी आयु का बन्ध न हो तो पू० की तरह आयु के शेष अन्तर्मुहूर्त्त में तो अवश्य ही आयु का बन्ध होता है। यहां यह भी याद रखना चाहिए कि यदि पहले के किसी अपकर्ष काल में आयु का बन्ध हो गया हो तो उस के आगे के अपकर्ष कालों मे बंध होता रहेगा। आयु बंध के इस उपर्युक्त नियम से यह फलितार्थ निकलता है कि कोई भी यह नहीं कहसकता कि उसकी परभव की आयुका बंध कब होगा ? इसलिए प्रत्येक समय मनुष्य को अपने भाव ठीक रखना चाहिये।

समाधि युक्त मरण का स्वरूप

मरण के वेत्ताओं ने इसके अनेक भेद बतलाये हैं। मरण का सामान्य अर्थ पर्याय का छोडना है। यह अर्थ सम्पूर्ण जीवों के साथ सम्बन्धित होता है। केवली भगवान हो या छद्मस्थ जीव हो, सब प्राप्त शरीर को छोड़ते हैं; इसलिए उन सबका मरण कहा जाता है। किन्तु केवली और छद्मस्थ के मरण मे इतनी विशेपता है कि केवली पूर्व शरीर का त्याग कर पुनः नूतन शरीर का ग्रहण नहीं करते हैं। अतः उनका फिर मरण नहीं होता है। वे अजर अमर कहे जाते हैं। और छद्मस्थ जीव पहले के शरीर को छोडकर नवीन शरीर धारण करता है और पुनः मरण करता है। इसलिए मरण, पुनः पुनः जन्म-मरण का निमित्त होता है। संसार में जितने भी दुःख हैं, उनमें सब से अधिक दुःख मरण का है। अनेक रोगों से पीडित व भयानक उपसर्गों से व्यथित छोटे से छोटा जन्तु भी मरण के नाम से कॉपता है, मरण के दुःख से घबराता है। इसलिए इस महान दुःख से उद्धार पाने का एक मात्र उपाय समाधिमरण ही है। यही इस दुःख को समूल नाश करने वाली परमौषधि है।

जिन महापुरुषों ने अपने जीवन मे विषय वासनाओं से मुख मोड़ा है, कषाय को मन्द करने का अभ्यास किया है, तथा उन का शुभ रूप परिणमन किया है-वे महात्मा महाव्रत का पूर्णतया पालन कर अन्त में कषायों पर विजय करते हैं। उसका दिव्य फल समाधि मरण उनको ही मिलता है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। यहाँ प्रसंगानुसार मरण के भेदों का वर्णन करते हैं। मरण के भगवती आराधना मे १७ भेद बतलाये हैं:—

मरण के भेद

मरणाणि सत्तरस देसिदाणितित्थंकरेहिं जिणवयणे।
तत्थ वि पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥ २५ ॥ (भग० आ)

अर्थः—उत्पन्न हुई पर्याय के नाश को मरण कहते हैं। अर्थात् देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य पर्याय का ध्वंस होना ही मरण शब्द का अर्थ है। अथवा प्राणो के त्याग करने को मरण कहते हैं। क्योंकि 'मृङ्' धातु का अर्थ प्राण त्याग करना है। प्राण धारण करते रहने को जीवन और प्राण त्याग को मरण कहते हैं। प्राण दो प्रकार के हैं-भावप्राण और द्रव्यप्राण। ज्ञान दर्शन चारित्र भावप्राण हैं। यह सिद्धों के भी पाया जाता है। इसलिए इसकी अपेक्षा से यहां मरण नहीं लिया गया है। द्रव्यप्राणों (इन्द्रिय, बल, आयु और उच्छ्वास) के विनाश को मरण कहा है। आयु के उदय होने पर जीव जीता है और भुज्यमान आयु का विनाश होने पर मरता है।

यह मरण १७ प्रकार का है—(१) आवीचि-मरण, (२) तद्भव मरण, (३) अवधि मरण, (४) आद्यंतमरण (५) बालमरण, (६) पंडितमरण, (७) आसन्नमरण, (८) बालपंडितमरण, (९) सशल्यमरण, (१०) पलायमरण, (११) वशार्त्तमरण, (आर्त्तवशमरण,) (१२) विप्राणमरण, (१३) गृध्रपृष्ठमरण, (१४) भक्तप्रत्याख्यान मरण, (१५) प्रायोपगमन मरण, (१६) इंगिनी मरण, (१७) केवलिमरण।

इन सत्रह प्रकार के मरणों मे से पांच प्रकार के मरण ही विशेष उल्लेखनीय हैं। अतः आगम मे उन्हीं का विशेष वर्णन है। शेष बारह प्रकार के मरणो का वर्णन तो गौण रूप से है।

यहा इन सत्रह प्रकार के मरणों का संक्षेप से स्वरूप दिखाते हैं।

आवीचिमरण

(१) आवीचिमरण—जीवके प्रतिक्षण होने वाले मरण को आवीचि मरण कहते हैं। आवीचि का अर्थ है तरंग-लहर। जिस

तरह लहर एक दूसरे के बाद आती है और (प्रतिसमय) उनकी परंपरा समाप्त नहीं होती, इसी तरह यह जीव भी प्रतिक्षण मरता रहता है। प्रतिसमय आयुकर्म का निषेक उदय में आकर झड़ता रहता है, कभी यह प्रकिया समाप्त नहीं होती। इस आवीचिमरण का समूह ही महामरण है। भव्य जीवों की अपेक्षा यह आवीचिमरण अनादि सान्त है। क्योंकि भव्य जीव को जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब यह मरण नष्ट हो जाता है। इसलिए इसको सान्त कहते हैं। मोक्ष के होने के पूर्व अनादि काल से भव्यजीव के प्रतिसमय यह मरण होता रहता है इसलिये इसको अनादि भी कहते हैं। अतः यह मरण भव्य की अपेक्षा से अनादि सान्त होता है। अभव्यों की अपेक्षा तो यह आवीचिमरण अनादि अनन्त है। क्योंकि उनके यह मरण अनादि से है और सदा रहेगा; इसलिए अनादि अनन्त है। भव की अपेक्षा से अथवा क्षेत्र की अपेक्षा से यह (आवीचिमरण) सादि कहा जाता है।

(१) आवीचि मरण के भेद

आवीचि-मरण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा से चार प्रकार का होता है।

(१) प्रकृति-आवीचिमरण—एक आत्मा के एक भव में एक ही आयुकर्म की प्रकृति का उदय आता है। इसलिए एक आयु की प्रकृति के क्षय होने से आत्मा का मरण होता है। इसको प्रकृति आवीचिमरण कहते हैं।

(२) स्थिति-आवीचिमरण—आत्मा के कषायरूप परिणामों से बन्ध को प्राप्त हुए आयु के पुद्‌गलों में स्निग्धता उत्पन्न होती है; इसलिये वे पुद्गल आत्मा के प्रदेशों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। स्निग्धता के उपादान कारण तो पुद्गल कर्म ही हैं; किन्तु आत्मा के कषायभाव से पुद्गल कर्म में स्निग्धता प्रकट होती है; अतः कषाय भाव स्निग्धता के निमित्त कारण होते हैं। जितने समय तक पुद्गलकर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध रहते हैं, उसको स्थिति कहते हैं। यह आयुनामक पुद्गल कर्म की स्थिति एक से लेकर बढ़ती हुई देशोन तेतीस सागर के जितने समय होते हैं; उतने भेदवाली होती है। उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त परिमाण वाली होती है। इन आयुकर्म की स्थितियों की तरंगों के समान क्रम रचना है। उनका क्रमसे क्षय होने के कारण आत्मा के मरण को स्थिति-आवीचिमरण कहते हैं।

(३) अनुभव-आवीचिमरण—कर्मपुद्गलों का जो रस (फल) अनुभव गोचर होता है, उसको अनुभव कहते हैं। यह अनुभव पुद्गल कर्मों में षड्गुणी हानि वृद्धि रूप समुद्र की तरंगों के क्रम से स्थित रहता है, उसके क्षय होने को अनुभव आवीचिमरण कहते हैं।

(४) प्रदेश-आवीचिमरण—आयुकर्म के पुद्गल प्रदेश जघन्य निषेक से लेकर एक, दो, तीन आदि वृद्धि क्रमेण तरग के समान स्थित हैं उनके विनाश होने को प्रदेश आवीचिमरण कहते हैं। इस प्रकार आवीचिमरण नामक प्रथम भेद का वर्णन किया।

रा. प्र.

पू. कि. ५

(२) तद्भवमरण

तद्भवमरण—भुज्यमान आयु का अंतिम समय में नाश होने को तद्भवमरण कहते हैं। अर्थात् वर्त्तमान पर्याय का नाश होकर और पर्याय की प्राप्ति को तद्भवमरण कहते हैं। यह मरण इस जीव ने अनन्त बार किया है, और जब तक रत्नत्रय की आराधना कर सिद्ध अवस्था प्राप्त न कर लेगा तब तक यह मरण होता रहेगा।

(३) अवधि मरण

अवधिमरण—जो वर्त्तमान पर्याय के समान ही भविष्य पर्याय मे भी मरण का होना अवधिमरण है। इस अवधिमरण के दो भेद हैं-सर्वावधिमरण और देशावधिमरण।

(१) सर्वावधिमरण—जैसा आयुकर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों से वर्त्तमान काल मे उदय आरहा है वैसा ही प्रकृति स्थिति, अनुभाग और प्रदेशवाला आयुकर्म फिर बंध को प्राप्त होकर उदय में आवे, उसको सर्वावधि मरण कहते हैं।

(२) देशावधिमरण—जैसा आयुकर्म वर्त्तमान काल में उदय को प्राप्त हो रहा है, उसकी कुछ सदृशता को लिए हुए आयु कर्म फिर बन्ध को प्राप्त होकर उदय मे आवे उसे देशावधिमरण कहते हैं।

इसका आशय यह है कि वर्त्तमान आयु का कुछ अंश अथवा सर्वांश में सादृश्य जिसमे पाया जाता है, उस अवधि (मर्यादा) से युक्त मरण को अवधिमरण कहते हैं। वर्त्तमान आयु का सम्पूर्ण सादृश्य जिस भावी आयु में पाया जाता है उस मर्यादित मरण को सर्वावधि मरण और जिस भावी आयु मे वर्त्तमान आयु का एक अंश सादृश्य रहता हो उस मर्यादित मरण को देशावधि मरण कहते हैं।

(४) आद्यंत मरण

आद्यंत मरण—वर्त्तमान काल के मरण का सादृश्य जिस भावी मरण में नहीं पाया जाता है उसको आद्यंत मरण कहते हैं। यहा पर आदि शब्द से प्रथम मरण लेना चाहिए। उसका अन्त (नाश–अभाव) जिस मरण में पाया जाता है अर्थात् जो सर्वथा विसदृश मरण होता है उसको आद्यंत मरण कहते हैं।

(५) बाल मरण

वालमरण—वाल नाम अज्ञानी जीव का है। अज्ञानी जीव का जो मरण होता है, उसे वाल मरण कहते हैं। वाल (अज्ञानी) जीव पांच प्रकार के होते हैं-(१) अव्यक्तवाल, (२) व्यवहारवाल, (३) ज्ञानवाल, (४) दर्शनवाल, (५) चारित्रवाल।

१ अव्यक्तवाल—यहा अव्यक्त शब्द का अर्थ छोटा वच्चा है। जो धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ सम्बन्धी कार्यों को न समझता है और न उनका आचरण करने की शारीरिक शक्ति रखता है, उसको अव्यक्त वाल कहते हैं।

२ व्यवहार वाल—जिसको लौकिकव्यवहार तथा शास्त्रीय ज्ञान नहीं है, अथवा जो वालक है, उसको व्यवहार वाल कहते हैं।

३ दर्शन वाल—जो तत्त्वार्थ के श्रद्धान से रहित मिथ्यादृष्टि है उसे दर्शन वाल कहते हैं।

४ ज्ञान वाल—जिसे वस्तु का यथार्थ ज्ञान नही है, उसको ज्ञान वाल कहते है।

५ चारित्र वाल—जो चारित्र के आचरण से रहित है, उसे चारित्र बाल कहते हैं।

इन पांच प्रकार के मरण को वाल मरण कहते हैं। ऐसा वाल मरण इस जीव ने भूतकाल में अनन्तवार किया है, और अनन्त जीव इस मरण को करते रहते है।

यहाँ प्रकरण मे दर्शन वाल का ही ग्रहण है। अन्य वालों का यहाँ ग्रहण करणा आवश्यक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन सहित अन्य चार प्रकार के वाल दर्शन पंडित कहे जाते हैं। अतः उनका मरण सम्यग्दर्शन सहित होने से उस मरण को पण्डितमरण माना है। अर्थात सम्यग्दर्शन युक्त मरण सद्गति का कारण होता है और सम्यग्दशन रहित मरण दुर्गति के दुःखों का जनक होता है।

दर्शन वाल मरण के संक्षेप से दो भेद है— १ इच्छाप्रवृत्तमरण और २ अनिच्छा प्रवृत्तमरण।

१ इच्छाप्रवृत्तमरण—जो प्राणी अग्नि में जलकर, धूएं से श्वास का निरोधकर, विपभक्षण कर, जल में डूब कर, पर्वत से गिरकर, गले मे फॉसी लगाकर अथवा शस्त्राघात से, अत्यन्त शीत व उष्ण के पड़ने से, भूख से, प्यास से, जिह्वा के छेदन-उत्पाटन (उखाडने) से, प्रकृति विरुद्ध आहार करने से इत्यादि कारणों से इच्छा पूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं उस मरण को इच्छाप्रवृत्त वालमरण कहते हैं।

२ अनिच्छाप्रवृत्तबालमरण--जीने की इच्छा रखते हुए मिथ्यादृष्टि का जो काल मे या अकाल में मरण होता है, उसको अनिच्छाप्रवृत्तकालमरण कहते हैं। जो दुर्गति मे गमन करने वाले हैं, इसलिए जो विषयों में आसक्त रहते हैं, जिनका अन्तःकरण अज्ञान अंधकार से आच्छन्न है, जो ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हैं, उनके उक्त बालमरण होता है। इस मरण से जीव तीव्र पाप का उपार्जन कर दुर्गति मे दुःखो का अनुभव करते हैं और जन्म जरा मरण के क्लेशो को बहुत काल तक सहते हैं।

पण्डित मरण—

पण्डित मरण के चार भेद हैं— १ व्यवहारपण्डित, २ सम्यक्त्वपण्डित, ३ ज्ञान पण्डित और ४ चारित्र पण्डित।

१ व्यवहार पण्डित--जो केवल लोक व्यवहार, वेदज्ञान तथा शास्त्रज्ञान मे निष्णात होता है, उसको व्यवहार पण्डित कहते हैं। अथवा—

जो अनेक लौकिक शास्त्रो मे निपुण हो तथा शुश्रूषा, श्रवण, मनन, धारणादि बुद्धि के गुणों मे दक्ष हो उसको व्यवहार पंडित कहते है।

२ दर्शन पण्डित—जिसको क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है, उसको दर्शन पण्डित कहते हैं।

३ ज्ञान पण्डित—मतिज्ञानादि पाच प्रकार के सम्यग्ज्ञानो में से यथासंभव किसी ज्ञान से युक्त जीव को ज्ञान पण्डित कहते हैं।

४ चारित्र पण्डित—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात इन पांच चारित्रों में से किसी भी चारित्र मे प्रवृत्ति करने वाले संयमी को चारित्र पण्डित कहते हैं। इन चार प्रकार के पण्डितों में से यहाँ ज्ञान पण्डित, दर्शन पण्डित और चारित्र पण्डित का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि व्यवहार पण्डित मिथ्यादृष्टि होता है। इसलिए उसका मरण बालमरण माना गया है। केवल सम्यग्दृष्टि का मरण ही पण्डित मरण कहा गया है।

नरक मे, भवनवासी देवों के स्थानो मे तथा स्वर्गवासी और ज्योतिषी देवों के विमानों में, व्यन्तर देवों के निवास स्थानों मे एवं द्वीप व समुद्रों में दर्शन पण्डित मरण होता है, तथा ज्ञानपण्डित मरण उपर्युक्त स्थानों में तथा मनुष्य लोक में होता है, किन्तु मनः-पर्ययज्ञानी तथा केवल ज्ञानी का ज्ञान पण्डित मरण मनुष्य लोक में ही होता है। चारित्रपण्डित मरण भी मनुष्य लोक में ही होता है।

(७) अवसन्न मरण

मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का पालन करनेवाले संयमियों के संघ का परित्याग करनेवाले संघभ्रष्ट साधु को अवसन्न कहते हैं। उसका जो मरण है वह अवसन्न मरण कहलाता है।

यहां पर अवसन्न शब्द का ग्रहण करने से पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्त इन चार प्रकार के भ्रष्ट साधुओं का भी ग्रहण होता है।

"पासत्थो सच्छंदो कुसील संसत्त होति ओसण्णा।
जं सिद्धिपच्छिदादो ओहीणा साहु सत्थादो" ॥ १ ॥ (भग० टीका गाथा २५)

अर्थ—पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त और अवसन्न ये पांच प्रकार के भ्रष्ट (पतित) साधु हैं। ये रत्नत्रय से हीन हैं और साधुओं के संघ से बहिष्कृत होते हैं।

ये साधु धनादि ऐश्वर्य में प्रेम रखते हैं। रस (जिह्वा की लम्पटता) में आसक्त होते हैं। सदा सुखों की अभिलाषा रखते एवं दुखः से डरते हैं। लोभादि कषाय के वशीभूत होते हैं। उनके आहारादि की तीव्र संज्ञा होती है। वे पाप जनक मन्त्रतन्त्रादि शास्त्रों का अभ्यास करते हैं। तेरह प्रकार की क्रियाओं के आचरण में प्रमादी होते हैं। गृहस्थ की वैयावृत्य (सेवा) करते हैं। मूलगुणों से हीन होते हैं। समिति और गुप्ति के पालन करने का उद्योग नहीं करते अर्थात उनके समिति व गुप्ति नहीं होती है। वैराग्य भावना व संसार से भीरुता भी नहीं होती है। वे उत्तम क्षमादि दशधर्म में बुद्धि नहीं लगाते। उनका चारित्र सदोष होता है। इस प्रकार के साधु को अवसन्न कहते हैं।

ऐसे साधु सहस्रों भवों में भ्रमण करते रहते है। बारंबार दुखों को भोगते हैं।

(८) बाल पण्डित मरण

सम्यग्दर्शन के धारक संयतासंयत (अणुव्रती) श्रावक को बालपण्डित कहते हैं। उसके मरण को बालपण्डितमरण कहा है। क्योंकि श्रावक बाल और पण्डित इन दोनों धर्मों से युक्त होता है। बाल तो इसलिए कहा जाता है कि इसके केवल एक देश से ही हिंसादि पापों का त्याग होता है, सम्पूर्ण रूप से हिंसादि का त्याग नहीं होता है। अतः चारित्र की अपेक्षा तो बाल है और पण्डित इसलिए है कि उसके सम्यग्दर्शन का सद्भाव है। अतएव इसको बाल पण्डित कहते हैं। यह बालपण्डितमरण, गर्भज पर्याप्त तिर्यच व मनुष्यों के होता है। देव तथा

नारकियों के नहीं होता, क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन तो होता है; लेकिन देशसंयम नहीं होता। इसलिए उनके दर्शन पण्डित मरण हो सकता है।

(९) सशल्यमरण

शल्य दो प्रकार का है—१ द्रव्यशल्य और २ भावशल्य। मिथ्यादर्शन, माया और निदान रूप भावों को भावशल्य कहते हैं और इन भावों की उत्पत्ति के कारण द्रव्यकर्म को द्रव्यशल्य कहते हैं। इस प्रकार शल्य के दो भेद होते हैं, अतः सशल्य मरण के भी दो भेद हैं। द्रव्यशल्यसहित मरण और भावशल्यसहित मरण। पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और वनस्पतिकाय इन पांच स्थावर जीवों के मरण को तथा द्वीन्द्रियादि असंज्ञी पर्यन्त त्रस जीवों के मरण को द्रव्यशल्यसहित मरण कहते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के ही भावशल्य सहित मरण होता है।

शंका—क्या असंज्ञी पर्यन्त (संज्ञी को छोड़कर शेष) सब जीवों के भाव शल्य (माया, मिथ्यात्व और निदान) नहीं होता है ?

समाधान—माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन सम्यक्त्व के अतीचार माने गये हैं। सम्यक्त्व संज्ञी के अतिरिक्त स्थावरादि असंज्ञीपर्यन्त जीवों के नहीं होता है। यह कथन व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा है।

छल-कपट करके सन्मार्ग को छिपाना, व असन्मार्ग को सन्मार्ग प्रकट करने के लिए दंभ करना मायाशल्य है।

मोक्ष मार्ग को दूषण लगाना या उसका विनाश करना, सन्मार्ग का निरूपण न कर उन्मार्ग (विपरीतमार्ग) की प्ररूपणा करना मोक्षमार्ग पर स्थित जीवों को सन्मार्ग से चिगाना-यह सब मिथ्यादर्शन शल्य है।

आगामी काल में मुझे अमुक भोगादि सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार मन में चिन्तन करने को निदानशल्य कहते हैं। यह निदान, तीन प्रकार का है १ प्रशस्तनिदान, २ अप्रशस्तनिदान और ३ भोगनिदान।

१ प्रशस्त निदान—पूर्ण संयम का पालन करने के लिए दूसरे जन्म में पुरुष आदि होने की वांछा करना प्रशस्त निदान है।

२ अप्रशस्तनिदान—मान कषाय के वश होकर आगामी भव में उत्तम कुल, सुन्दर रूपादि की आकांक्षा करना अप्रशस्त निदान है।

३ इस व्रत, संयम व शील के पालन करने से मुझे इस भव में अमुक भोग सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार की अभिलाषा करने को भोग निदान कहते हैं।

असंयतसम्यग्दृष्टि के तथा संयतासंयत (अणुव्रती श्रावक) के निदानशल्य मरण होता है। पार्श्वस्थादि भ्रष्ट साधु चिरकाल विहार करके विना आलोचन किये हीं उसी अवस्था में जो मरण करता है, उसके माया शल्य मरण होता है। यह मरण संयमी, अणुव्रती श्रावक तथा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी होता है।

(१०) वलाय (पलाय) मरण

विनय, वैयावृत्य तथा देववन्दनादि नित्य नैमित्तिक क्रिया करने में आलस्य (प्रमाद) करने वाला, इनमें आदर भाव न रखने वाला, व्रतों के आचरण करने में प्रमादी, समिति और गुप्ति के पालन करने में अपनी शक्ति को छिपाने वाला, धर्म के स्वरूप का विचार करते समय निद्रा वश हो जाने वाला, ध्यान नमस्कारादि कार्यों से दूर भगने वाले अर्थात् उसमें उपयोग न देने वाले का जो मरण है, उसे वलाय (पलाय) मरण कहते हैं। सम्यक्त्वपंडित, ज्ञानपंडित और चारित्रपंडित के यह वलाय मरण भी संभव हो सकता है।

जो पहले सशल्य मरण और अवसन्न मरण कह आये हैं वे दोनों प्रकार के मरण करने वालों के नियम से वलाय मरण है। तथा इनके अतिरिक्त जीवों का भी वलाय मरण होता है। क्योंकि जो जीव निःशल्य (शल्यरहित) है और संवेगभाव से युक्त है, किन्तु संस्तर (शय्या) पर पड़े हुए अर्थात मरणोन्मुख हुए उसके शुभ भावों का पलायन हो रहा है, उसके शुभ भाव नहीं ठहरते हैं। अतः सशल्य और अवसन्न मरण करने वालों से भिन्न जीवों के भी वलाय (पलाय) मरण होता है।

(११) वशार्त्त मरण (आर्त्तवश मरण)

आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान में प्रवृत्त हुए जीव के वशार्त्तमरण होता है। इसके चार भेद होते हैं—१ इन्द्रियवशार्त्त-मरण २ वेदनावशार्त्त-मरण, ३ कषाय-वशार्त्त-मरण, ४ नोकषायवशार्त्त-मरण।

१ इन्द्रियवशार्त्त-मरण—स्पर्श रस गन्धादि पांच इद्रिय विषयों के भेद से इस मरण के भी पांच भेद हो जाते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण, रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण आदि।

तत वितत घन और सुपिर (मृदंग वीणादि) वाद्य जनित मनोज्ञ शब्दों में राग और अमनोज्ञ (अप्रिय) शब्दों में द्वेषयुक्त होकर मरण करने को श्रोत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण कहते हैं। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय ऐसे चार प्रकार के आहार में यदि वह इष्ट हो तो उसमें आसक्ति सहित और यदि वह अनिष्ट हो तो द्वेप सहित होकर मरण करने को रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण कहते हैं। चन्दन पुष्पादि पदार्थों के

गुभाव, गंध मे प्रेम और अरुचिकर असुहावने में द्वेष युक्त होकर मरण करने को घ्राणेन्द्रिय-वशार्त्तमरण कहते हैं। तथा सुन्दर रूप व आकार में रागभाव और असुन्दर रूप व आकार मे द्वेषभाव युक्त होकर मरण करने को नेत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण और स्पर्शवाले पदार्थों के सुन्दर सुहावने स्पर्श मे प्रीति और असुहावने स्पर्श मे अप्रीति करने को स्पर्शनेन्द्रिय वशार्त्तमरण कहते हैं। इसी तरह मन के लिए भी समझना चाहिए। इन सबको इन्द्रियानिन्द्रियवशार्त्त मरण के नाम से कहते हैं।

२ वेदनावशार्त्त मरण—इस मरण के दो भेद हैं–सातवेदनावशार्त्त मरण और असातवेदनावशार्त्त मरण।

जो जीव शरीर और मन सम्बन्धी सुख में उपयोग सहित मरता है, उसके सातवेदनावशार्त्त मरण होता है और जो शारीरिक तथा मानसिक दुःख में उपयोग रखते हुए मरता है, उसके असातवशार्त्त मरण होता है।

३ कषायवशार्त्त मरण—कषाय के चार भेद हैं, अतः कषाय की अपेक्षा इस मरण के भी चार भेद होते हैं। अपने ऊपर, दूसरे पर अथवा स्व पर दोनों पर उत्पन्न हुए क्रोध से जो मरण करता है, उसे क्रोध वशार्त्त मरण कहते हैं। मानवशार्त्त मरण के आठ भेद होते हैं कुल, रूप, बल, शास्त्रज्ञान, प्रभुत्व, लाभ, प्रज्ञा और तपस्या से अपने को उत्कृष्ट समझते हुए प्राणी का अभिमानवश जो मरण होता है, उसको मानवशार्त्त मरण कहते हैं। उक्त आठ मदों से युक्त मरण को पृथक् २ कहते हैं।

मै जगत् प्रसिद्ध विशाल व उच्चकुल मे उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसे मानते हुए प्राणी का जो मरण होता है, वह कुलमानवशार्त्त मरण है। मेरे पाचों इन्द्रिया सुन्दर हैं तथा सम्पूर्ण शरीर के अवयव सुडौल और मनोज्ञ हैं, मैं तेजस्वी हूँ, नवयुवक हूँ, मेरा रूप सम्पूर्ण मनुष्यों के मन को मोहने वाला है, इस प्रकार के भाव रखते हुए जीव का जो मरण होता है, उसे रूपमानवशार्त्तमरण कहते हैं। मैं वृक्ष पर्वतादि को उखाड़ फेंकने मे समर्थ हूँ, मैं युद्ध शूर हूँ, तथा मेरे पास मित्रो का बल है, इस प्रकार बल का अभिमान करते हुए जीव का जो मरण होता है, उसे बलमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मेरा परिवार बहुत है, मेरी आज्ञा को सब मानते हैं इस प्रकार अपनी प्रभुता (ऐश्वर्य) में उन्मत्त पुरुष का जो मरण होता है उसको प्रभुता (ऐश्वर्य) मानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं लौकिकशास्त्र, व्यवहार, वेद, सिद्धान्तशास्त्रादि का ज्ञाता हूँ, इस प्रकार शास्त्र ज्ञान के अभिमानी के मरण को शास्त्रज्ञानाभिमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मेरी अतिनिर्मल व तीक्ष्ण बुद्धि सब शास्त्रों मे प्रवेश करती है, मेरे तर्कज्ञान के आगे दूसरे की तर्क बुद्धि नहीं चलती है–इत्यादि प्रकार से अपनी बुद्धि के अभिमानी के मरण को प्रज्ञामानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं जिस व्यापार में हाथ डालता हूँ, सबमें मुझे लाभ ही लाभ होता है, ऐसे लाभ सम्बन्धी मान का विचार करते हुए मनुष्य के मरण को लाभमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं दुर्धर तपश्चर करने वाला हूँ, तपस्या में मेरे समान अन्य कोई नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करते हुए जीव का जो मरण होता है, वह तपमानवशार्त्त मरण कहलाता है।

माया के पांच भेद हैं—१ निकृति, २ उपधि, ३ सातिप्रयोग, ४ प्रणिधि और ५ प्रतिकुंचन। १ धन की तथा अन्य किसी विषय की अभिलाषा करने वाले मनुष्य द्वारा जाल फँसाने को निकृति नाम की माया कहते हैं। २ अपने असली भाव को छिपाकर धर्म के बहाने से चोरी आदि दुष्कृत्य में प्रवृत्ति करने को उपधि नामक माया कहते हैं। ३ धन के विषय में झूठा झगड़ा करना, किसी की धरोहर रखी हो उसको कम देना या सब का सब हजम कर जाना, किसी को झूठा दूषण लगाना या झूठी प्रशंसा के पुल बांधना, यह सातिप्रयोगमाया है। ४ कम मूल्य की सदृश वस्तु को बहुमूल्यवाली वस्तु मे मिलाना, हीनाधिक नाप व तोल के उपकरण रखना, असली में नकली चीज की मिलावट करना अथवा असली कहकर नकली चीज देना यह प्रणिधि नाम की माया है। गुरु के सम्मुख आलोचना करते हुए दोषों को भले प्रकार प्रकट करना, उनको छिपाना, यह प्रतिकुंचन नाम की माया है।

लोभवशार्त्तमरण—पिच्छी, पुस्तक, कमंडलु आदि उपकरणों में, भोजन पान में, क्षेत्र में, शरीर में और निवासस्थान में इच्छा या मूर्छा (ममत्व) रखने वाले का जो मरण होता है, उसको लोभवशार्त्त मरण कहते हैं।

नो कषायवशार्त्त मरण—हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री वेद पुरुष वेद तथा नपुंसक वेद से आक्रांत मनुष्य का जो मरण होता है, उसे नो कषायवशार्त्त मरण कहते हैं।

नोकषाय के वश आर्त्तमरण करनेवाला जीव मनुष्य और तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होता है। असुरजाति के देवों में (कंदर्प और किल्विषिक नाम देवों मे) जन्म लेता है। मिथ्यादृष्टि के यही बालमरण होता है। दर्शनपण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि तथा संयतासंयत (अणुव्रती श्रावक) भी वशार्त्तमरण करते हैं, उनका यह मरण बालपण्डितमरण या दर्शनपण्डित मरण समझना चाहिए।

(१२) विप्पाणस (विप्राण) मरण

विप्पाणस (विप्राण) मरण और गृद्धपृष्ठमरण इन दोनों मरणों की शास्त्रों में न तो अनुज्ञा (अनुमति) मिलती है और न निषेध ही मिलता है।

जिस समय दुष्काल (दुर्भिक्ष) पड़ा हो, जिसको पार करना कठिन है ऐसे भयानक बीहड़ जंगल में पहुंच गये हों, पूर्वकाल के शत्रु के द्वारा भय उपस्थित हुआ हो, दुष्ट राजा से भय प्राप्त हुआ हो, या चोर का भय उपस्थित होगया हो अथवा सिंहादि प्राण घातक पशु का भय उपस्थित होगया हो, और इनके द्वारा उत्पन्न हुए क्लेशों को सहन का सामर्थ्य न हो, अथवा ब्रह्मचर्य व्रत के नाश होने के भय से प्राण त्याग करने को उद्यत हो गये हों, ऐसे समय में ससार से संविग्न पाप से भयभीत संयमी कर्म के

तीव्र उदय को उपस्थित हुआ जान कर जब वह उससे बचने का उपाय नहीं देखता है, और उन क्लेशादि को सहन करने की क्षमता अपने में नहीं पाता है, पापमय कोई प्रतिक्रिया नहीं करना चाहता है, तथा आत्मा के घातक मरण से डरता है तब वह उपर्युक्त कारणों के उपस्थित होने पर क्या मेरा कुशल होगा? ऐसा विचार करता है–यदि मैं उपसर्ग भय से त्रास को प्राप्त होकर संयम से भ्रष्ट हो जाऊंगा तथा उपसर्ग वेदना को सहन न कर सकने से सम्यग्दर्शन से भी पतित हो जाऊंगा तो मेरा आराधन किया हुआ रत्नत्रय हाथ से निकल जावेगा। जब उसको चारित्र व सम्यग्दर्शन के विनाश की संभावना का दृढ़ निश्चय हो जाता है तब वह मायाचार रहित हुआ दर्शन व चारित्र में विशुद्धि धारण कर धैर्य का अवलम्बन करता है, ज्ञान का आश्रय लेता है, निदान रहित हुआ अर्हन्त भगवान् की साक्षी से अपने दोषों की आलोचना करके आत्मशुद्धि करता है, शुभलेश्या से अपने श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है—उस मरण को विप्पणास (विप्राण) मरण कहते हैं।

(१३) गृध्रपृष्ठ मरण

ऊपर लिखे हुए कारणों के उपस्थित होने पर शस्त्र ग्रहण करके जो प्राणों का विसर्जन करता है, उसे गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं।

(१४) भक्तप्रत्याख्यान, (१५) इंगिनी और (१६) प्रायोपगमनमरण

भक्तप्रत्याख्यान मरण (१५) इंगिनीमरण और (१६) प्रायोपगमनमरण ये तीन उत्तम मरण हैं। ये महात्माओं के ही सभव है। इनका स्वरूप आगे कहेंगे।

केवलीमरण

केवलीमरण—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादि भावकर्म का विनाश पूर्वक जो सदा के लिए औदारिकादिशरीरों के सम्बन्ध का त्यागकर अनन्तचतुष्टय की प्राप्तिकर नित्यनिरंजन अक्षय अनन्त शिव पद को प्राप्त करते हैं उन केवली भगवान के शरीर त्याग करने को केवली मरण कहते हैं।

इस प्रकार संक्षेप से सत्रह प्रकार के मरणों का विवेचन किया। उन सत्रह मरणों को भी संक्षिप्त करने से पांच मरण होते हैं। पांच मरणों के विशेष विवेचन करने की शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा की थी, अतः उनका निरूपण करते हैं।

पंडितपंडितादि पंच मरण का विशेष वर्णन

श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में उक्त पांच मरणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं:—

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥ (भग. आ,)

अर्थ—१ पंडितपंडितमरण, २ पंडितमरण, ३ बालपंडित मरण, ४ बालमरण, और ५ बालबालमरण ये पांच मरण हैं।

शंका—यहां पर आपने मरणों के पांच भेद ही कहे हैं। वे किस अपेक्षा से कहे गये हैं। यदि भव (मनुष्यादि) पर्याय के विनाश होने को मरण माना जाय तो पर्यायें अनेक हैं; तो मरण भी अनेक हुए।

यदि प्राणियों के प्राणों का जो वियोग होता है, उसे मरण मानें तो भी मरण के पांच भेद सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि सामान्य रूप से प्राण-वियोग की अपेक्षा से तो एक भेद ही होता है और विशेष की अपेक्षा लीजावे तो प्राण दश हैं,उनके वियोग रूप मरण के भी दश भेद सिद्ध होते हैं।

यदि उदय में आये हुए कर्मों के खिरने को मरण कहा जावे तो कर्म प्रत्येक समय में खिरते हैं, उनको पांच तरह के कैसे कहते हैं ?

सामाधान—गुण भेद की अपेक्षा से जीवों को भी पांच प्रकार के मानकर तत्सम्बन्धी मरण के भी पांच भेद कहे गये हैं।

उक्त पांच प्रकार के मरणों को कई आचार्यों ने यथाक्रम से प्रशस्ततम, प्रशस्ततर, ईषत्प्रशस्त, अविशिष्ट और अविशिष्टतर इन नामों से भी कहा है।

* (१) पण्डितपंडितमरण—जिनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में अतिशय सहित पांडित्य है, अर्थात् जो केवल ज्ञान के धारक हैं, क्षायिक सम्यग्दृष्टि व यथाख्यात चारित्र और उत्कृष्ट तपश्चरण के आराधक हैं, उन केवली भगवान् के शरीर त्याग करने को पण्डित पण्डितमरण कहते हैं।

(२) पण्डितमरण—जिनका ज्ञान चारित्रादि परम प्रकर्षता को प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे प्रमत्तसंयतादि छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्त्ती साधुओं का जो मरण होता है, उसे पण्डितमरण कहा है।

---

* (१) पण्डित शब्द उत्तम तप, उत्तम सम्यक्त्व, उत्तम ज्ञान और उत्तम चारित्र इन चार अर्थों में व्यवहृत होता है।

(३) बाल पण्डित—संयतासंयत (पंचम गुणस्थान वर्ती श्रावक) को बालपण्डित कहते हैं। रत्नत्रय में परिणत होने वाली प्रज्ञा (बुद्धि) जिसको प्राप्त होगई है उसे यहां पण्डित माना है। इसलिए श्रावक बालपण्डित कहा गया है। क्योंकि इसमें एक देश रत्नत्रय का आराधन करने और महाव्रत रूप सर्वदेश रत्नत्रय का पालन न करने के कारण बालपना और पण्डितपना दोनों धर्म पाये जाते हैं, अतः यह बाल और पण्डित उभय रूप है। इस का मरण बालपण्डितमरण माना गया है।

(४) बालमरण—असंयत सम्यग्दृष्टि बालमरण करता है। क्योंकि इसके सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी चारित्र नहीं पाया जाता है।

(५) बालबालमरण—मिथ्यादृष्टि को बालबाल कहते हैं। क्योंकि इसके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-चारित्रादि कुछ भी नहीं होता है। इसलिए यह अतिशय बाल है। इसके मरण को बालबाल मरण कहते हैं।

इन पांच प्रकार के मरणों में से आदि के तीन मरण सद्गति देने वाले हैं, अतः जिनेन्द्रदेव ने इनकी प्रशंसा की है। वही कहा है:—

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति॥ १ ॥ (भग० आ० टीका गाथा २६)

अर्थ—पंडितपंडितमरण, पण्डितमरण और बालपंडितमरण इन तीनों की जिनेन्द्रदेव नित्य प्रशंसा करते हैं।

पंडितपंडितमरण के स्वामी केवली भगवान् हैं।

अब पंडित मरण किसके होता है? ऐसी उत्पन्न हुई शंका का समाधान करते हैं—

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥ २९ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—१ प्रायोपगमनमरण, २ इंगिनीमरण और ३ भक्तप्रतिज्ञामरण ये तीन भेद पंडितमरण के हैं। ये तीनों आगमोक्त चारित्र का पालन करनेवाले मुनीश्वर के होते हैं।

(१) प्रायोपगमन मरण—जो साधु रोगादि से पीड़ित होने पर भी अपना वैयावृत्त्य दूसरे से नहीं करवाता है, और न आप भी करता है, जीवन पर्यन्त आहारादि का त्याग करके एक स्थान में सूखे काठ की तरह व मृतककाय समान स्थित रहता है, तथा मन-वचन-काय की क्रिया रहित हुआ परम विशुद्धि से पर्याय का त्याग करता है, उसके प्रायोपगमन मरण होता है। यह मरण संसार का उच्छेद करने मे समर्थ संस्थान और संहननवाले के होता है। इस मरण को प्रयोग्यगमन मरण तथा पादोपगमन मरण भी कहते हैं।

(२) इंगिनी मरण—निज अभिप्राय को इंगित कहते हैं। जो अपने अभिप्राय के अनुकूल अपना वैयावृत्त्य आप ही करते हैं, दूसरे से अपना वैयावृत्त्य नहीं करवाते हैं, रोगादि अवस्था में भी उठने, बैठने, शयन करने आदि क्रियाओं मे दूसरे की सहायता नहीं लेते हैं, सम्पूर्ण आहारादि का त्याग कर एकाकी वन मे शरीर का त्याग करते हैं, उनके मरण को इंगिनी मरण कहते हैं।

(३) भक्त-प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) मरण—जो साधु अपनी शुश्रूषा आप भी करते हैं और दूसरों से भी करवाते हैं, आगमोक्त चारित्र का पालन करते हुए अनुक्रम से आहार का त्याग करते हैं, तथा कषाय को कृश करते हैं उनके भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भक्त-प्रत्याख्यान मरण होता है। बाल पंडित का वर्णन पहले करही चुके हैं। इस तरह प्रारंभ के तीन मरण ही श्रेष्ठ हैं। बालमरण चारित्रहीन सम्यग्दृष्टि के होता है। यद्यपि यह उक्त तीन मरणों की अपेक्षा हीन है, किन्तु इसके स्वामी के तत्त्वश्रद्धान होता है, इसलिए यह बालबाल मरण की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु संयम का सर्वथा अभाव होने से इसे प्रशंसनीय नहीं कहा है। मिथ्यादृष्टि के मरण को बालबाल मरण कहा है। यह मरण संसार के सब एकेन्द्रिय से लेकर मिथ्यादृष्टि समस्त पंचेन्द्रियों का होता रहता है। इस जीवने अनन्त बार यह मरण किया है। आचार्य शिवकोटि कहते हैं—

सुविहियमिमं पवयणं असद्दहन्तेणि मेण जीवेण।
बालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणंताणि ॥ ४२ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करने वाले पूर्वापर विरोध रहित तथा प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रामाणों से अबाधित जिनेन्द्रदेव कथित आगम का श्रद्धान न करके इस जीवने पहले अनन्त बार बालबालमरण किये हैं। पर पंडितमरण का एकबार भी सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ। यदि एक बार भी पंडितमरण हो जाता तो अधिक से अधिक सात आठ भव धारण करने के पश्चात् यह आत्मा इस जन्म मरण के दुःख से सदा के लिए छूट जाता। अतः ऐसा अवसर प्राप्त होने पर अपने आपको या दूसरों को यों समझाना चाहिए की हे आत्मन्! बड़ी कठिनता से महान पुण्य कर्म उदय से यह अनुपम स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है। इसलिए परमागम की श्रद्धा में दृढ़ रहो और अपने चारित्र को निर्मल बनाओ। जिन अतिचारों का पूर्व वर्णन कर आये हैं, उनमें से एक भी अतिचार अन्त समय में मत लगने दो। क्योंकि

मनुष्य जन्म का पाना और अनुकूल साधनों का योग पाकर संयम का आराधन करना उत्तम कार्यों में शिरोमणि है। इस संयम के लिए उत्कृष्ट सांसारिक सुख के स्वामी सर्वार्थसिद्धि के देव भी तरसते हैं। वह सयमरत्न तुमने प्राप्त कर लिया है। क्या इसे साधारण पुण्य वाले पुरुष प्राप्त कर सकते हैं? सुन्दर शरीर, विपुल धन सम्पत्ति, देवदुर्लभ ऐश्वर्य, मनोनुकूल इष्टभोग-विलास तथा आहारादि सामग्री तो तुमने इस अपार ससार में न जाने कितनी वार उपलब्ध करली हैं, उससे क्या शान्ति मिली है? मोहवश यह आत्मा आहार भोगादि से मिथ्या सुख शान्ति मान लेता है। सुख शान्ति प्राप्त करने का मार्ग तो सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र हैं। इसलिए हे मुने। मरण समय में इन सुख दाता सम्यक्त्वादि का त्याग मत करो। यदि तुमने इनका त्याग किया तो अनंत काल पर्यन्त संसार में भ्रमण करना पड़ेगा। अतएव इस समय सम्यक्त्व की रक्षा करते हुए संयम का निरतिचार पालन कर आत्मा को इस संसार के रोमांचकारी दुःखों से मुक्त करने के लिए पंडितमरण से शरीर का त्याग करो।

पंडितमरण का फल केवल ज्ञान प्राप्त करना है। यदि ससार की अवधि अभी कुछ शेष रही तो पंडितमरण करनेवाला संयमी कल्पवासी देवों में जन्म लेता है और वहां पर दिव्य स्वर्गीय सुख सामग्री का अनुभव कर निकट भविष्य में निर्वाण पद का अधिकारी होता है। इसलिए इस समय काय और कषाय को कृश करना ही तुम्हारा परम कर्त्तव्य है।

ऊपर जो पांच प्रकार के मरण बताये हैं, उनमें से पंडितपंडितमरण, बालपंडितमरण, बालमरण और बालमरण को छोड़कर केवल पंडितमरण का यहां ग्रहण होता है; क्योंकि इस पंचम काल के साधुओं के पंडितपंडितमरण नहीं होसकता है। केवली भगवान् औदारिक शरीर का त्यागकर निर्वाण के लिए गमन करते हैं, उनके यह मरण माना गया है और शेष तीन संयमहीन मनुष्यों के होते हैं। अतः वर्त्तमान संयमियों के एक पंडित मरण ही उपादेय माना गया है। इसलिए उसीका निरूपण यहां करना है।

पंडित मरण के तीन भेद

इसके तीन भेद पहले बतलाये गये हैं। उनमें से प्रायोपगमन मरण और इंगिनीमरण का विवेचन आगे करेंगे। यहां पर केवल भक्त-प्रतिज्ञा (भक्तप्रत्याख्यान) मरण का निरूपण करना है। क्योंकि प्रायः मुनि इसीका आश्रय लेते हैं। यही कहा है

पुव्वं तां वण्णेसिं भत्तपइण्णं हसत्थमरणेसु।
उस्सण्णं सा चेव हु सेसाणं वण्णणा पच्छा ॥ ६४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—पंडितमरण के प्रायोपगमन, इंगिनी व भक्तप्रत्याख्यान ये तीन भेद हैं। उनमें से प्रथम भक्तप्रत्याख्यान मरण का वर्णन

करते हैं, क्योंकि साधुओं के बहुलता से यही मरण पाया जाता है। इसके पश्चात् शेष दो मरणों का वर्णन करेंगे। भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप संक्षेप से पहले वर्णन कर आये हैं। अब उसका विशेष विवेचन करने के लिए उसके भेद दिखाते हैं।

भक्त प्रत्याख्यान नामक पंडित मरण के भेद और उनका स्वरूप

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं ।
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥ ६५ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान-मरण के दो भेद हैं-(१) सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण और (२) अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण।

(१) सविचारभक्तप्रत्याख्यान—जो साधु उत्साह बल से युक्त है, तथा जिसका मृत्यु काल सहसा (अकस्मात्) उपस्थित नहीं हुआ है, जो विधिपूर्वक अन्य संघ में जाने की इच्छा रखता है, उसके मरण को सविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

(२) अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण—जो सामर्थ्य से हीन है और जिसका मृत्यु समय अचानक उपस्थित होगया है, उस पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

सविचार भक्त प्रत्याख्यान के ४० प्रकरणों के नाम वस्वरूप

उक्त दो भेदों में से प्रथम भेद सविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण का विवेचन निम्नोक्त चालीस अधिकारों से किया गया है। उनके नाम ये हैं।

(१) अर्ह, (२) लिंग, (३) शिक्षा, (४) विनय, (५) समाधि, (६) अनियतविहार, (७) परिणाम, (८) उपधित्याग, (९) श्रिति (१०) भावना, (११) सल्लेखना. (१२) दिशा, (१३) क्षामणा, (१४) अनुशिष्टि, (१५) परगणचर्या, (१६) मार्गणा, (१७) सुस्थित, (१८) उपसम्पदा, (१९) परीक्षा, (२०) प्रतिलेख, (२१) आपृच्छा, (२२) प्रतीच्छन, (२३) आलोचना, (२४) गुणदोष, (२५) शय्या, (२६) संस्तर, (२७) निर्यापक, (२८) प्रकाशन, (२९) हानि, (३०) प्रत्याख्यान, (३१) क्षामण, (३२) क्षमण, (३३) अनुशिष्टि, (३४) सारणा, (३५) कवच, (३६) समता, (३७) ध्यान, (३८) लेश्या, (३९) फल और ४० शरीरत्याग। इनका प्रथम सामान्य अर्थ लिखते हैं।

(१) अर्ह—अमुक पुरुष भक्तप्रत्याख्यान के योग्य और अमुक योग्य नहीं है। इस प्रकार पुरुष की योग्यता के वर्णन करने वाले अधिकार को अर्हाधिकार कहते हैं।

(२) लिंगाधिकार—शिक्षा विनय समाधि आदि क्रियाएँ भक्तप्रत्याख्यान की सामग्री हैं, उसका साधन लिंग है। अमुक लिंग (चिह्न) का धारण करने वाला भक्तप्रत्याख्यान कर सकता है और अमुक का नहीं-इसका वर्णन करनेवाला लिंगाधिकार है।

(३) शिक्षा—बिना ज्ञान के विनयादि का पालन नहीं होता है, इसलिए ज्ञानोपार्जन (श्रुताभ्यास) करना आवश्यक है। उसका विवेचन करने वाला शिक्षा अधिकार है।

(४) विनय—ज्ञानादि की वासना विनय से प्राप्त होती है, इसका वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

(५) समाधि— मन को एकाग्र करने को समाधि कहते हैं। अशुभोपयोग से हटाकर मन को शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग में लगाना समाधि है। इसका वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

(६) अनियत विहार—पूर्व में नियत नहीं किये गये ऐसे अनेक नगर ग्रामादि में विहार का वर्णन करने वाला यह अधिकार है।

(७) परिणाम—साधु के कर्त्तव्य कर्मों का वर्णन करनेवाले अधिकार को परिणाम (कर्त्तव्य विचार) अधिकार कहते हैं।

(८) उपधित्याग—परिग्रह के त्याग का वर्णन करने वाला यह उपधित्याग अधिकार है।

(९) श्रिति—शुभपरिणामों की उत्तरोत्तर वृद्धि करना, इसका निरूपक श्रिति अधिकार है।

(१०) भावना—उत्तरोत्तर भावना को उत्कृष्ट बनाने का अभ्यास करने का विवेचक भावनाधिकार है।

(११) सल्लेखना—शरीर और कषायों को कृष करना सल्लेखना है इसका वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

(१२) दिशा—दिशा नाम एलाचार्य का है। संघ के नायक आचार्य ने यावज्जीव आचार्य पद का त्याग करके उस पद पर अपने समान गुणवाले जिस शिष्य को स्थापित किया है, उसे एलाचार्य कहते हैं। उसके स्वरूप व उपदेश का वर्णन करने वाले अधिकार को दिशा अधिकार कहते हैं।

(१३) क्षमणा—परस्पर क्षमा याचना का वर्णन करने वाला क्षमापणा अधिकार है।

(१४) अनुशिष्टि—आचार्य संघस्थित मुनियों के प्रति तथा आचार्य पद पर स्थापित अपने शिष्य के प्रति दिये हुए उपदेश का वर्णन करने वाला अनुशिष्टि अधिकार है।

(१५) परगणचर्या—अपने संघ को छोड़कर अन्य संघ में गमन का वर्णन करनेवाला परगणचर्या अधिकार है।

(१६) मार्गण—रत्नत्रय की शुद्धि तथा समाधिमरण करवाने में समर्थ आचार्य का अन्वेषण (तलाश) करने का वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

(१७) सुस्थित—परोपकार करने मे तथा आत्म-प्रयोजन (आचार्यपद के योग्य कार्य) साधन करने में प्रवीण आचार्य का वर्णन इसमें किया गया है।

(१८) उपसम्पदा—आचार्य के पादमूल में गमन करने का वर्णन उपसम्पदा अधिकार में है।

(१६) परीक्षा—वैयावृत्त्य करनेवाले मुनि की आहारादि सम्बन्धी लालसा की तथा उसके उत्साह की परीक्षा करने का वर्णन इसमे किया गया है।

(२०) प्रतिलेख—आराधना की निर्विघ्न साधना करने के लिए उसके अनुकूल राज्य, देश, नगर, ग्रामादि का तथा उनके अधिकारी आदि के शोधन का निरूपण करनेवाला यह अधिकार है।

(२१) आपृच्छा—यह साधु हमारे संघ में ग्रहण करने योग्य है या नहीं है ? इस प्रकार संघ से प्रश्न करने का वर्णन इसमें किया गया है।

(२२) प्रतीच्छन— प्रतिचारक मुनियों की सम्मति लेकर आराधना करने के लिए आये हुए मुनि का ग्रहण करने का वर्णन इसमें होता है।

(२३) आलोचना—गुरू के निकट अपने दोषोंका निवेदन करने का विवेचन इसमें है।

(२४) गुणदोष—आलोचना के गुण व दोषों का निरूपण करने वाले अधिकार को गुणदोषअधिकार कहा है।

(२५) शय्या—आराधक के योग्य वसतिका का निरूपण करनेवाला यह शय्या नाम का अधिकार है।

सं. प्र.

(२६) संस्तर—मुनि के योग्य संस्तर का वर्णन इसमें किया गया है।

(२७) निर्यापक—आराधक के समाधिमरण में सहायता करनेवाले आचार्यादि को निर्यापक कहते हैं। इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(२८) प्रकाशन—चरम (अन्तिम) आहार को दिखाना, इसका वर्णन करनेवाला यह प्रकाशन अधिकार है।

(२९) हानि—क्रम से आहार का त्याग करने का विधान करने वाला हानि नाम का अधिकार है।

(३०) प्रत्याख्यान—जलादि पेय पदार्थों के अतिरिक्त तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने का वर्णन करने वाला प्रत्याख्यान अधिकार है।

(३१) क्षामण—आचार्यादि निर्यापकों से आराधक की क्षमायाचना का वर्णन इसमें किया गया है।

(३२) क्षमण—अन्य सब साधु आदि के अपराधों को क्षमा करने का वर्णन करनेवाला क्षमणाधिकार है।

(३३) अनुशिष्टि—संस्तर में स्थित साधु के प्रति निर्यापकाचार्य को शिक्षा देने का निरूपण इस अधिकार में किया गया है। नं० १४ पर भी अनुशिष्टि नामक भेद ऊपर लिख आये हैं। भगवती आराधना में भी दोनों स्थानों पर यही नाम आया है। नं० १४ पर लिखा है—अणुसिट्ठि—सूत्रानुसारेण शासनम्। और यहा नं० ३३ पर है-अणुसट्ठी-अनुशासनं शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य।

(३४) सारणा—दुःख की वेदना से मोह को प्राप्त हुए अथवा अचेत हुए साधु को सचेत करने का निरूपण सारणाधिकार में किया है।

(३५) कवच—जैसे सैंकडों वाणों का निवारण कवच (बख्तर) से होता है, वैसे ही निर्यापकाचार्य के धर्मोपदेश से संस्तर स्थित साधु के प्राप्त दुःख का निवारण होता हैं, इसका विवेचन करनेवाला यह कवचाधिकार है।

(३६) समता—जीवन मरण लाभ अलाभ संयोग वियोग सुख दुःखादि में राग द्वेष न करना समताधिकार में वर्णित है।

(३७) ध्यान—एकाग्रचित्त का निरोध करना ध्यान है। इसमें ध्यान का वर्णन है।

(३८) लेश्या—कषाय से मिश्रित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। लेश्याधिकार में लेश्या का स्वरूप प्रतिपादन किया है।

(३९) फल—आराधना से सिद्ध होने वाले कार्य को फल कहते हैं। इसमे आराधनाजनित प्रयोजन का वर्णन किया गया है।

(४०) देहत्याग—आराधक के शरीर का त्याग इसमें वर्णित है।

इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यान मरण में चालीस अधिकार हैं, उनके सामान्य स्वरूप का वर्णन किया गया है। अब उनका विशेष वर्णन करते है।

अर्हाधिकार

कैसा साधु आराधना करने योग्य है यह दिखलाते हैं:—

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोगहाणिकरी ।
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्स ॥ ७१ ॥
अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स ।
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥ ७२ ॥
चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ।
जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥ ७३ ॥
अण्णम्मि चावि एदाहिसंमि आगाढकारणे जादे ।
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥ ७४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—संयम का विनाश करनेवाला दुःसाध्य रोग जिसके शरीर में उत्पन्न होगया हो ऐसा साधु या गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान करने योग्य है। अर्थात् जिस संयमी या अणुव्रती श्रावक के शरीर में ऐसी व्याधि उत्पन्न हो जाये जिसको मिटाने के लिए उसे संयम का त्याग करना पड़े और जिस व्याधि की शान्ति दुष्कर प्रतीत हो, ऐसी व्याधि से पीड़ित संयमी या देश संयमी या अव्रतसम्यग्दृष्टि को भक्त प्रत्याख्यान के योग्य माना है। जीवों के रूप, शरीरादि, बल, अवस्था आदि का नाश करनेवाली वृद्धावस्था इतनी बढ़ जावे कि मुनि तप आदि क्रिया में असमर्थ हो जावे। तब वह भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माना गया है। क्योंकि वृद्धावस्था में शरीर बल घट जाता है तब साधक कायक्लेशादि तपश्चरण में प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। जो अत्यन्त वृद्धावस्था से युक्त हो जाता है, उसका ध्यान स्थिर नहीं रहता है। अर्थात उसका यथार्थ वस्तु-ज्ञान निश्चल नहीं होता है। इसलिए ध्यान योग का विनाश करनेवाली वृद्धावस्था जिसको प्राप्त हो जाती है, वह भक्त प्रत्याख्यान मरण के योग्य मानागया है। जब देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत अथवा अचेतनकृत ऐसा भयानक उपद्रव उपस्थित हो जावे जिस के

निवारण करना अशक्य हो और उस उपद्रव से उत्पन्न हुई पीड़ा का प्रतीकार असंभव प्रतीत हो, तब मुनि भक्त प्रत्याख्यान को अंगीकार करते हैं।

जब अनुकूल बन्धुगण स्नेहवश या अपने भरणपोषण के लोभ से प्रेरित हुए संयमी के संयम-धन का विनाश करने में तत्पर हों अथवा जब देव, मनुष्य व तिर्यंचों मे से कोई उसके सयम को छुड़ाने के लिए उद्यत हो, तब वह संयमी भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कहा गया है।

उल्कापात के समान समस्त देशनिवासियों को अनुभव होनेवाले महा भयानक दुर्भिक्ष पड़ने पर साधक भक्तप्रत्याख्यान करते हैं। क्योंकि दुष्काल मे निर्दोष आहार का मिलना असंभव हो जाता है। उसमे चारित्र का नाश होना संभव है। अतः अपने चारित्र की रक्षा के लिए साधक भक्तप्रत्याख्यान कर सल्लेखना करते हैं।

जब मुनि मार्गभ्रष्ट हो कर ऐसे महाभयानक बीहड़ बन मे पहुँच जाते हैं जिसमें क्रूर हिंसक जन्तु भरे पड़े रहते हैं, तथा जिस से उद्धार पाने का कोई भी साधन नहीं देखते हैं, तब वे दिग्मूढ़ हुए अपने जीवन को विनाशोन्मुख पाते हैं, उस समय वे भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

जब साधक के नेत्र सूक्ष्म जन्तुओं के अवलोकन करने का बल खो देते हैं एवं कानों में शब्द ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं रहता है, अथवा पाँवों मे विहार करने की (जाने आने की) शक्ति नष्ट हो जाती है तब वह भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

इसी प्रकार के अन्य प्रतिकार रहित स्थिती के उपस्थित होने पर मुनि अथवा गृहस्थ भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माने जाते हैं। अर्थात् उनके संयम या देशसंयम के रक्षण का उपाय जब कोई दिखाई नहीं देता है, सब तरह से हताश हो जाते हैं, तब अन्ततो गत्वा इस भक्त-प्रत्याख्यान का आश्रय लेते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कौन हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान कर अब भक्तप्रत्याख्यान के लिए कौन अयोग्य है? इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णणादिचारं वा।
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ॥ ७५ ॥
तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो।
सो मरणं पच्छितो होति हु सामण्णणिव्विण्णो ॥ ७६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसके सुख पूर्वक (निर्बाध) चारित्र का पालन हो रहा है तथा व्रतादि में भी अतिचार लगने की कोई संभावना नहीं, वह भक्तप्रत्याख्यान के लिए अयोग्य माना गया है। समाधिमरण-सहायक निर्यापक आचार्य जब सुलभ हों और दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित न हो ऐसे समय में साधु को भक्तप्रत्याख्यान कर समाधिमरण नहीं करना चाहिए।

इसका आशय यह है कि संयम के विरोधी ऊपर की गाथा में निर्दिष्ट दुर्भिक्षादि कारणों में से कोई भी कारण उपस्थित न हुआ हो तो साधु भक्तप्रत्याख्यान के अयोग्य माना गया है।

जिसका चारित्र निर्विघ्न पल रहा है, तथा निर्यापकाचार्य जिसे सुलभ हैं, जिसको दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित नहीं है, यदि वह साधु मरण की अभिलाषा करता है तो समझना चाहिए कि वह संयम से उदासीन होगया है, उसको चारित्र से अरुचि उत्पन्न होगई है, अन्यथा वह विना आपत्तिजनक कारणों के प्राप्त हुए मरने के लिए क्यों प्रयत्न करता है ?

यदि कोई साधु यह विचारे कि इस समय मुझे समाधिमरण करवानेवाले निर्यापक आचार्य सुलभ हैं और आगे दुर्भिक्षादि के भय की पूर्ण संभावना है, उस समय निर्यापकादि समाधिमरण के सहायक साधु, मुझे न मिलेंगे, यदि मैं इस समय समाधि मरण न करूंगा तो मेरा संयम रत्न लुट जावेगा और भविष्य में पंडितसमाधिमरण न कर सकूंगा—ऐसा जिसको भय हो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यान के योग्य है, ऐसा समझना चाहिए।

इस भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण को अव्रतसम्यग्दृष्टि, अनुव्रती श्रावक व मुनि तीनों कर सकते हैं।

भावार्थ—हे आत्मन् ! तुमने अनन्तबार जन्ममरण किये हैं। जो जन्म धारण करता है वह मृत्यु की ओर गमन करता है। जन्म और मरण का अविनाभाव सम्बन्ध है। तुमको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे जन्म-मृत्यु के जाल से बच जाओ। वह प्रयत्न समाधि मरण है। आयु का क्षय होने पर समस्त प्राणियों का मरण निश्चित है। किन्तु सम्यग्ज्ञानी के मरण में और अज्ञानी के मरण में इतना ही अन्तर है कि सम्यग्ज्ञानी मरण करता हुआ मरण-सन्तान का उच्छेद करता है और अज्ञानी मरण-सन्तान की वृद्धि करता है। क्योंकि काय से मोह और कषाय की तीव्रता के कारण जन्म मरण रूप संसार की वृद्धि होती है और कायसे निर्मोहिता धारण करने से और कषाय के अभाव से उक्त संसार का क्षय होता है। काय से ममत्व का अभाव तथा कषाय कृश करने का नाम ही समाधि है। इस समाधि को प्राप्त करने के लिए भक्तप्रत्याख्यान करना आवश्यक है।

अब यहां पर यह दिखाते हैं कि भक्तप्रत्याख्यान (आहार त्याग) करने वाले के कौनसा लिंग (भेष) होना चाहिये ?

उम्मग्गिगलिंगकदस्स लिंगमुम्मग्गियं तयं चेव।
अपवादियलिंगस्स वि पमत्थमुवमग्गियं लिंगं ॥ ७७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसके उत्कृष्ट लिंग (दिगम्बर भेप) है, अर्थात जिसने दिगम्बर-मुनि-दीक्षा धारण की है, उसके तो भक्त-प्रत्याख्यान के समय भी दिगम्बर भेप रहता है; किन्तु जिसने क्षुल्लकादि गृहस्थ भेप धारण कर रखा है, वह भी अन्तिम समय में नग्न भेप धारण कर सकता है।

भावार्थ—समाधिमरण के अवसर में भक्तप्रत्याख्यान (आहार का त्याग) कर समाधि युक्त मरण का इच्छुक जब संस्तर में स्थित होता है तब मुनि तो उस समय भी पूर्व की भांति नग्न लिंग ही रखता है, परन्तु जिसने पूर्व में मुनि अवस्था नहीं धारण की है किन्तु गृहस्थ अवस्था को ही धारण किये हुये है—जैसे क्षुल्लक, ऐलक व इसके नीचे की अवस्था के जो धारक हैं वे जब भक्तप्रत्याख्यान करते हैं तब नग्नभेप धारण कर लेते हैं।

प्रश्न—क्या प्रत्येक पुरुष भक्तप्रत्याख्यान के समय नग्नभेप धारण कर सकता है ?

उत्तर—नहीं, प्रत्येक पुरुष नग्नभेप धारण करने के योग्य नहीं होता है। जिसमें नग्नता की योग्यता है वही पुरुष इस भेप को धारण कर सकता है। जो संसार-भोगों से विरक्त होगया है और अपने मनुष्य भव को संयम पालन करते हुए सफल बनाना चाहता है, वही परम विरक्त मन्दकषायी नग्नता के योग्य कहागया है।

प्रश्न—जो संसार से उदासीन है जिसकी भावना वैराग्यपूर्ण है, जो संसार के दुःखो से उद्विग्न है—वह मन्दकषायी तो चाहे कोई भी दिगम्बर भेप को क्या धारण कर सकता है ?

उत्तर—हाँ, जो उक्त गुणो से भूपित है, वह पुरुष नग्नभेप धारण कर सकता है। परन्तु उसके पुरुष चिह्न में निम्नोक्त दोप न हो तभी वह नग्न भेप का अधिकारी माना गया है। जिसके पुरुषचिह्न का अग्रभाग चर्म रहित (उघाड़ा) न हो, पुरुषचिह्न अतिदीर्घ (लम्बा) न हो। बार बार चैतन्य न होता हो, ऊपर उठता न हो, तथा अंडकोश बड़े न हो। वही दिगम्बर भेप को धारण कर सकता है। जिसमें इन दोपो में से एक भी दोप हो वह मुनिभेप धारण नहीं कर सकता है। फिर भी वह समाधि मरण के समय भक्तप्रत्याख्यान कर जब संस्तर में स्थित होता है, तब नग्नता जरूर धारण कर सकता है, अन्य समय में नग्नता धारण करने का आगम में सर्वथा निषेध है। आगम से विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदोपहुदि ॥ ३२ ॥ (भग०)

अर्थः—किसी मनुष्य ने अज्ञान से अथवा किसी के उपदेश से उल्टा श्रद्धान कर लिया हो और जब कोई आगम प्रमाण देकर उसे सम्यक् प्रकार वस्तु-स्वरूप दिखावे और वह उसकी अवहेलना कर सत्य-तत्त्व का श्रद्धान न करे, अपनी अवस्तुतत्त्व की श्रद्धा को न छोड़े और पूर्व की भांति मिथ्या-प्रवृत्ति ही करता रहे तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि माना जाता है। इसलिए प्रत्येक को उक्त प्रमाण भूत आगम की आज्ञा का पालन करना चाहिए। जो आगम के विपरीत अपनी मनःकल्पित प्ररूपणा करता है, आगम से अमान्य मुनिभेष को धारण करता है, उसके सम्पर्क में भी रहना उचित नहीं है, मिथ्यादृष्टि के सम्पर्क में रहने वाला, उसकी प्रशंसा करने वाला, उसकी कुप्रवृत्ति में सहायता देनेवाला भी मिथ्यादृष्ट होता है।

प्रश्न—भक्तप्रत्याख्यान के समय जब गृहस्थ भी दिगम्बर भेष धारण कर सकता है तो फिर आर्यिका के लिए क्या विधान है? क्या वह सवस्त्र ही समाधिमरण करती है? या वह भी सब परिग्रह का त्यागकर दिगम्बर मुद्रा धारण कर सकती है?

उत्तर—आर्यिका समस्त परिग्रह का त्यागकर एक साडी मात्र परिग्रह रखती है। उसमें उसको ममत्व नहीं होता, अतः उसके उपचार से महाव्रत माना गया है। क्योंकि आगम मे उसके लिए साडी धारण करने की आज्ञा है। किन्तु जब उसका मृत्युकाल आगया हो, और वह भक्तप्रत्याख्यान करके संस्तर मे स्थित हो तो योग्य स्थान मे उस समय सब अनुकूलता होने पर वस्त्र का भी त्याग कर देती है। वह वसतिका के अन्दर ही रहती है और अपना समाधिमरण (पंडितमरण) करती है।

अन्य क्षुल्लिकादि श्राविकाएँ भी मृत्यु समय योग्य स्थान के सब अनुकूल साधनों के होने पर घर के भीतर दिगम्बर भेष धारण कर सकती हैं। इनके लिए दोनों मार्ग हैं। जो श्राविका महान ऐश्वर्यवाली तथा लज्जावती है और जिसके कुटुम्बीजन मिथ्यादृष्टि हैं उसके लिए दिगम्बर भेप मे समाधिमरण करने का निषेध है। यथा—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा ।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए ॥ ८१ ॥ (भग०)

अर्थ—स्त्री के भी समाधिमरण के समय उत्सर्ग लिंग (मुनिसमानभेष) तथा सवस्त्र लिंग दोनों ही आगम में वर्णन किये गये

हैं। आर्यिका मूलगुण उपस्थित होने पर योग्यस्थान में वसतिका के अन्दर रहकर मुनिवत् दिगम्बर भेष धारण करती हैं और श्राविकाएँ अपने परिग्रह को अलग करती हुई अन्त समय में योग्यस्थान मिलने पर घर में ही नग्नता धारण कर सन्यास मरण कर सकती हैं। तथा अनुकूलस्थानादि न मिलने पर अन्य सब परिग्रह का त्यागकर वस्त्रमात्र धारण किये हुए उसमें ममत्व का त्याग कर भक्तप्रत्याख्यान पूर्वक पंडित मरण करती हैं।

प्रश्न—जिनागम में उत्सर्गलिंग और अपवादलिंग ये दो लिंग माने हैं। दिगम्बर मुद्रा धारण करना उत्सर्गलिंग है तथा सवस्त्र आर्यिकादि के भेष को अपवादलिंग कहते हैं। क्या भयानक विघ्न बाधा उपस्थित होने पर या दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने पर मुनि वस्त्र धारण कर सकते हैं?

उत्तर—मुनि के उत्सर्ग लिंग ही माना गया है और यह दिगम्बर मुद्रा धारण करने पर ही हो सकता है। जो अपवादलिंग है, वह मुनि के लिए नहीं है। आर्यिका तथा क्षुल्लकादि श्रावक के भेष को अपवादलिंग कहा है। मुनित्व का अपवाद (निन्दा) करनेवाले लिंग को अपवादलिंग कहते हैं। मुनि किसी भी परिस्थिति में वस्त्र धारण नहीं कर सकता। जो वस्त्र धारण कर लेता है वह मुनिपद में नहीं माना गया है। क्योंकि साधु के २७ मूलगुण माने गये हैं। उसमे नग्नता मुख्य गुण है। इसके बिना अन्य सब महाव्रतादि गुण निरर्थक माने हैं। मुनि के उत्सर्गलिंग ही होता है और उसकी चार विशेषतायें हैं उनमें नग्नता को प्रथम स्थान दिया गया है। यथाः—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीदा य पडिलिहणं।
एमो हु लिंग कप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥ ८० ॥ (भग०)

अर्थ—मुनित्व का उद्योतक जो चिह्न है, उसे उत्सर्ग लिंग कहते हैं। उसके चार प्रकार हैं—१ अचेलता (वस्त्र का अभाव—नग्नता) २ केश-लोच, ३ शरीर के संस्कार का त्याग और ४ प्रतिलेखन।

भावार्थ—जो मुनित्व को प्रकट करनेवाली उक्त चार बातें हैं जिनको कि देखकर व्यवहार में मुनि को पहचाना जाता है, उनमें सबसे प्रधान नग्नता है। जिस व्यक्ति में नग्नता नहीं है और शेष तीन बातें विद्यमान हैं, तो वह साधु नहीं माना गया है। इसलिए साधुपद के लिए नग्नता अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती और वह शिवमार्ग (रत्नत्रय) का पूर्णरूप से आराधक नहीं समझा जाता। नग्नत्व में महान् गुण निहित हैं। उनका वर्णन मूलगुणों के निरूपण में कर आये हैं। जिसके पास कोपीन (लंगोटी) मात्र परिग्रह

है और इसके अतिरिक्त जिसने सब परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसकी भी आत्म-शुद्धि तब ही होती है जब कि वह उस मोह के कारणभूत कोपीन को भी त्याग देता है। यथाः—

है और इसके अतिरिक्त जिसने सब परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसकी भी आत्म-शुद्धि तब ही होती है जब कि वह उस मोह के कारणभूत कोपीन को भी त्याग देता है। यथाः—

अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदिउवधिं परिहरंतो ॥८७॥ (भग०)

अर्थ—कोपीन (लंगोटी) आदि वस्त्र का धारण करनेवाले ऐलक आदि अपनी शक्ति को न छिपाकर अन्य सब परिग्रह का त्याग कर देते हैं और वे सोचते हैं कि समस्त परिग्रह का त्याग करना ही मोक्ष का मार्ग है। इसके त्याग विना पूर्ण आत्म-शुद्धि नहीं होती है। परन्तु क्या करें ? हमारी आत्मा में इतना बल उत्पन्न नहीं हुआ है कि सब परिग्रह का त्याग कर यथाजात रूप धारण करलें। इस प्रकार मन में पश्चात्ताप करते हुए अपनी निंदा करते हैं और गुरुजनों के निकट अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। आत्मगर्हा व निन्दा करने वाले वे मुमुक्षु अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए क्रमसे सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर आत्मशुद्धि करलेते हैं।

प्रश्न—जो अव्रतसम्यग्दृष्टि और अणुव्रती श्रावक भक्तप्रत्याख्यान विधि से समाधि मरण करना चाहता है क्या उसको नग्नावस्था धारण करना आवश्यक है ?

उत्तर—हाँ, जिसका मृत्युसमय निकट आगया हो, अपनी आत्मा के उद्धार के लिए जो पंडितमरण करना चाहता हो तो उसको संसार के सब पदार्थों का त्याग कर एवं विधिपूर्वक भक्तप्रत्याख्यान (आहार-त्याग) कर अन्त समय में वस्त्र-त्यागपूर्वक दिगम्बर-मुद्रा धारण करना चाहिए। किन्तु यदि वह अत्यन्त लज्जाशील हो या परम वैभवशाली हो या जिसके कुटुम्ब परिवार में मिथ्यादृष्टियों का प्राबल्य हो तो उसे नग्नता धारण न करना चाहिए। उसको कम से कम वस्त्र धारण कर उसमें भी ममत्व का त्याग कर शान्ति से धर्म्यध्यान पूर्वक देह का त्याग करना चाहिए। आचार्यों ने उस मरण को भी पंडित मरण माना है।

स्वाध्याय के सातगुण

पंडितमरण के अभिलाषी मनुष्य को शास्त्र का निरन्तर स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि जिनागम का स्वाध्याय करने वाले के आत्महित व परहित करने की बुद्धि आदि सात गुण प्रकट होते हैं। वे आत्महितादि गुण ये हैं:—

आदहिदपइएणा भावसंवरो णवणवो न संवेगो।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥१००॥(भग०)

अर्थ—१ जिनागम का अभ्यास करने वाले के आत्महित का ज्ञान होता है। २ पापकर्मों का सवर होता है। ३ नवीन नवीन संवेगभाव उत्पन्न होता है। ४ मोक्ष मार्ग मे स्थिरता आती है। ५ तपस्या की वृद्धि होती है। ६ गुप्तिपालन मे तत्परता आती है। और ७ इतर भव्यजीवो को उपदेश करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। ये सात गुण जिनागम के स्वाध्याय करने वाले की आत्मा में प्रकट होते हैं। इन सातों का संक्षेप स्वरूप यह है:—

१ आत्महितज्ञान—संसार के सब अज्ञ प्राणी इन्द्रियजन्य विषय सुख को ही अपना उद्देश्य समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि इन्द्रिय सुख सुखाभास है। यदि यह वास्तव में सुख होता तो इसके सेवन करने से आत्मा को अशान्ति और ग्लानि का अनुभव क्यों होता ? सुख तो उसे कहते हैं जिसका अनुभव करने से आत्मा को आह्लाद और शान्ति की प्राप्ति हो। किन्तु इन्द्रियजन्य विषयसुख में यह बात नहीं पाई जाती है। यह सुख आत्मा में रागान्धता उत्पन्न कर कर्मबन्ध करता है। तथा इसकी प्राप्ति के लिए आत्मा को अनेक प्रकार के कुकृत्य करने पडते हैं। इससे व्याकुलता की वृद्धि होती है। यह पराधीन है। जिनागम के अभ्यास से विषयो से उदासीनता उत्पन्न होती है और सच्चे सुख के साधनभूत रत्नत्रय के आराधन में रुचि पैदा होती है। अतः जिनागम का स्वाध्याय करने से आत्महित-बुद्धि नाम का गुण प्रादुर्भूत होता है।

२ भावसवर—पापजनक विचारो का त्याग करने को भावसंवर कहते हैं। आगम का अध्ययन करने से पाप व पुण्य के कारणों का ज्ञान होता है। ज्ञानी जीव पापजनक अशुभ भावों को छोड़ता है और शुभ व शुद्ध भावों में परिणति करता है। अर्थात् मन वचन काय से ऐसी क्रियाएँ करता है, जिनसे पुण्य बन्ध होता है या कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। बिना जाने अज्ञानी जीव जिन क्रियाओं से पाप कर्मों का बन्ध करता रहता है, ज्ञानी जीव परिणाम की विशुद्धि से उन्हीं क्रियाओं से कर्म की निर्जरा करता है। यह भावों की विशुद्धि जिनागम के अभ्यास से ही होती है।

३ नवीन-नवीन-संवेगभाव—जिनागम में संसार का सत्य स्वरूप का वर्णन किया है। इस आत्मा ने इस संसार में कैसे२ दुख किस २ गति में भोगे हैं उनका बोध होने से आत्मा संसार से भयभीत होता रहता है; इसलिए जिनागमन का अभ्यास संवेग-भाव को उत्पन्न करके श्रद्धा को दृढ़ बनाता है। जो संयमी नित्य स्वाध्याय नहीं करता है उस पर किसी प्रकार संकट आने पर वह श्रद्धा से च्युत हो

जाता है। जो नित्य जिनवाणी का मनन करता है उसके चित्त में दृढ़ता रहती है और वह आपत्ति आने पर ज्ञानबल से उसको सह लेता है। उसका आत्मा श्रद्धान से भ्रष्ट नहीं होता है।

मोक्षमार्ग में स्थिरता—जिनवाणी मोक्ष का तथा मोक्ष के मार्ग (सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र) का स्वरूप और महत्त्व का निरूपण करती है। रत्नत्रय आत्मा का स्वरूप है और जिसका जो स्वरूप है वही उसके कल्याण का करनेवाला होता है। श्रीवृषभादि तीर्थंकरों ने तथा अन्य महापुरुषों ने रत्नत्रय का आराधन कर शिव सुख प्राप्त किया है। अनेक भयानक उपसर्गों के आने पर भी उन महात्माओं ने मोक्षमार्ग के आराधन म थोड़ी भी शिथिलता नहीं की है। वे मेरु के समान अडोल निष्कम्प रह कर सदा के लिए सुखी हुए हैं। इसलिए सुख की अभिलाषा करनेवाले को मोक्षमार्ग पर स्थिर रहना चाहिये ऐसा ज्ञान जिनागम के अभ्यास से होता है।

५ तपवृद्धि—जिनागम के वेत्ता ही जीवादि पदार्थों के स्वरूप को भले प्रकार जानकर भेदज्ञान प्राप्त करते हैं। शरीर और आत्मा को भिन्न समझकर उसको शरीर से पृथक् करने के लिए कर्मों का क्षय करनेवाले बाह्य और आभ्यन्तर तप का आचरण करते हैं। तत्त्वज्ञान के प्रभाव से तपस्या में आत्मा की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, स्वाध्याय स्वयं अन्तरंग तप है। अतः जिनागम के स्वाध्याय से तप में प्रवृत्ति होती है और निरन्तर उसकी वृद्धि होती रहती है।

६ गुप्ति के पालन में तत्परता—मन, वचन और काय को शुद्धोपयोग में लगाने को गुप्ति कहते हैं। इसके पालन करने में तत्पर रहने के लिए सुगम उपाय स्वाध्याय है। स्वाध्याय करनेवाले के अनायास मन, वचन, काय का निरोध होता है। मन, वचन, काय के निरोध करने का इससे सरल कोई दूसरा उपाय नहीं है। स्वाध्याय करनेवाले का चित्त जब जीवादि तत्वों के स्वरूप का विचार व मनन करने में लगता है तब उसके मन, वचन और काय तीनों विषय-कषायादि से निवृत्त होकर शुद्ध स्वरूप में प्रवृत्त होते हैं। उस समय आत्मा अशुभोपयोग से निवृत्त होकर शुद्धोपयोग मे प्रवृत्त होता है। अतः स्वाध्याय से गुप्ति के पालन में तत्परता होती है। गुप्ति के पालन से कर्मों का संवर और निर्जरण होता रहता है।

(७) परोपदेश सामर्थ्य—जिसने जिनागम का अभ्यास किया है वही इतर भव्य प्राणियों को उपदेश दे सकता है। संसार को कल्याण का मार्ग दिखाना साधारण पुण्यकर्म नहीं है। संसार के उद्धार करने की उत्कट इच्छा होने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। तीर्थंकर उन्हें भी मुख का मार्ग दिखाता है। वह प्रमाण और नय से जीवादि तत्त्वों का स्वरूप समझाकर उनको कल्याणमार्ग में लगाता है। इसलिए जो जीवों को उपदेश देना चाहता है उसको निरन्तर आगम का मनन चिन्तन करते रहना चाहिए। जो आत्महित और परहित की इच्छा रखता है, उसे रात दिन जिनागम का अभ्यास करना आवश्यक है। जिसको जिनागम का रहस्य-ज्ञान नहीं है उसे आत्महित का ज्ञान

नहीं होता है। किसको हित कहते हैं? और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? इसको वह नहीं जान पाता है। ज्ञान बिना उसके सब कृत्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं। वह अनेक प्रकार के कठिन दुर्धर तप करता है वह भी उसके कर्मबन्ध को बढ़ाने वाले होते हैं। इसका कारण यह है कि उसके ज्ञाननेत्र नहीं हैं। वह विपरीत मार्ग द्वारा पापकर्म रूप भयानक वन की ओर बढ़ता जाता है और वहां वह अनेक आपदाओं में फँस जाता है। इन सब बुराइयो का कारण अज्ञान है। यथाः—

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं।
कम्मणिमित्त जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥ १०२ ॥ (भग०)

अर्थ—आत्मा का हित क्या है? इसको न जानने वाला अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों में मोहित होजाता है और मोह के कारण कर्मों का बन्ध करता है। इन कर्मों के कारण वह अनन्त संसार सागर मे भ्रमण करता है।

ज्ञानी जीव आत्मा के हित को समझता है। वह ज्ञान नेत्र से देखता है कि यह मार्ग आत्मा का हितकर है और यह अहितकर है। हितकर मार्ग में प्रवृत्ति करता है और अहितकर कुमार्ग से निवृत्त होता है। इसलिए प्रत्येक आत्मा को हितकारी मार्ग जानने के लिए निरन्तर जिनागम का अभ्यास करना चाहिए।

ज्यों ज्यों जिनागम में अधिक प्रवेश होता है, त्यों त्यों तत्त्वज्ञानामृत का रसास्वादन विशेष होता जाता है। जैसे आम्रफल में रस भरा रहता है वैसे ही जिनागम के शब्दों मे तत्त्वामृत भरा हुआ है, उसका मनन चिन्तन करने से उसका रसास्वादन होता है। उस रस का आस्वादन करने से आत्मा को परम आह्लाद का अनुभव होता है और उसकी धर्म में विशेष प्रवृत्ति होती है।

आगम का वेत्ता मुनि निश्चय और व्यवहार धर्म को यथावत्समझता है। आत्मा का उत्थान करने वाले और अधः पतन करने वाले कार्यों को भलीभाति जानता है। वह कोई काम ऐसा नहीं करता, जिसके द्वारा मुनि धर्म को अपवाद का सामना करना पड़े। आगम के अभ्यासी संयमी का प्रत्येक कृत्य ज्ञानपूर्वक होता है। उसकी प्रवृत्तिरूपक्रिया भी निर्जरा का कारण होती है। अज्ञानी जिन कार्यों से महान् कर्मबन्ध करता है उन्हीं कार्यों को करता हुआ ज्ञानी कर्मों का क्षय करता है. कहा हैः—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय सहस्स जोडीहि।
तं णाणी तिहि गुत्तो खमेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ १०८ ॥

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही ।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥ १०६ ॥ (भग०)

अर्थ—अज्ञानी (जिनागम के ज्ञान से शून्य) लाखों करोड़ों भवों में जिन कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं होता है, उन कर्मों को जिनागम का वेत्ता तीन गुप्तियों का पालन करता हुआ मुनि अन्तर्मुहूर्त्त में नष्ट करदेता है। तथा अज्ञानी मनुष्य बेला, तेला, चोला, पंचोला, पाक्षिक, मासिकादि अनेक उपवासों का आचरण करके आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न करता है; ज्ञानी पुरुष भोजन को ग्रहण करता हुआ भी उससे बहुत अधिक आत्मा की विशुद्धि कर लेता है।

इसका आशय यह है कि अज्ञानी जितना भी कार्य करता है वह वस्तु के स्वरूप को न समझ कर करता है। जैसे हाथी स्नान करने के पश्चात् अपने शरीर पर धूल डालकर उसे मलीन बना लेता है वैसे ही अज्ञानी जीव व्रत उपवासादि कायक्लेश तप करता है अथवा अन्य धार्मिक क्रियाओं का आचरण करता है, पर वह विवेकहीन उनका यथार्थ स्वरूप न समझने के कारण विपरीत श्रद्धान व प्रतिकूल आचरण करता है, अतः मिथ्या-श्रद्धान और विपरीत-चारित्र के कारण उसके सब कृत्य पाप-बन्ध के हेतु होते हैं। तत्त्वज्ञान के बिना उसका मन रूपी मस्त हाथी विषय और कषाय के उपवन में दौड़ लगाता है। संकल्प-विकल्प के जाल मे फसा हुआ उसका अन्तः करण संसार के बन्धन को दृढ़ करता है।

अज्ञानी जीव दुख से डरकर सुख की प्राप्ति के लिए दौड़-धूप तो करता है, किन्तु वह अविनाशी आत्मीय सहजानन्द को न समझने के कारण, उस पर विश्वास नहीं करता है। इन्द्रिय-जन्य सुख को आत्मा का हितकर मानता है और उसकी प्राप्ति के लिए लौकिक अथवा पुण्य रूप प्रयत्न करता है। वह यह नहीं समझता है कि पुण्य और पाप आत्मा को बन्धन मे डालने वाले हैं। बेड़ी सोने की हो या लोहे की दोनों मनुष्य को पराधीन बनाने वाली हैं। पुण्योपार्जन करने से स्वर्गादि की सम्पत्ति अथवा यहाँ पर चक्रवर्ती आदि विभूति भी मिल जावे तथापि आत्मा को जन्म मरण के दुःख से छुटकारा नहीं मिलता है। वह पुण्योपार्जित सुख की सामग्री अज्ञानी आत्मा को अधिक अधिक मोहान्ध बना देती है और परम्परा दुःख जनक रागादि भावो को बढ़ा देती है, जिससे यह आत्मा अपने स्वरूप को न पाकर अनगिनत भवों मे दुःख को भोगता है।

अज्ञानी आत्मा दुष्कर तपश्चरण का आचरण कर इस लोक में चमत्कार उत्पन्न करनेवाली ऋद्धियों और विभूतियों की आकांक्षा करता है। वह चारित्र के चिन्तामणि समान फल को कौड़ियों में बेचता है। वह यह नहीं समझता कि चाँवल की खेती करने वाले को तुष (भूसा) की कामना नहीं होती है। कृषक धान्य के लिए खेती का परिश्रम उठाता है भूसे के लिए नहीं। वह तो अनायास ही मिल जाता है।

इसी प्रकार ज्ञानी धर्म का पालन आत्मीय सुख की प्राप्ति के लिए करता है। उसे स्वर्गादि के सुख भी आनुषंगिक रूप से मिलजाते हैं। उनका अनुभव करता हुआ भी उन सुखों को उपादेय नहीं समझता है और उसका लक्ष्य मोक्षपद-प्राप्ति का बना रहता है। वह दिव्य भोगों को भोगता है, देवांगनाओं के मध्य मनोहर क्रीडाएँ करता है, मन को लुभाने वाले अप्सराओं के लावण्य व सौन्दर्य का नेत्र-पात्र से पान करता है, उनके कोकिलसम कण्ठ से निकले मंजुल मधुर गान का रसास्वादन करता है, नन्दनवन में अप्सराओं के साथ रमण करता है फिर भी उन सुखों में उसकी आसक्ति नहीं है। वह अपने परतन्त्र आत्मा के असामर्थ्य का अनुभव कर सोने के पींजरे में पड़े हुए तोते के समान दुःखी रहता है। मिष्ट फल का आस्वादन करता हुआ भी परतन्त्रता से दुःखित हो बाहर निकल भागने का इधर उधर मार्ग ढूंढा करता है, वह संसार से निकलने के लिए छटपटाता रहता है।

अज्ञानी जीव धन सम्पत्ति स्त्री पुत्र भवन उपवन आदि सामग्री को सुख देनेवाली समझकर उनकी प्राप्ति के लिए तथा प्राप्त होने पर उनकी रक्षा करने में ही लगा रहता है। दैववशात् उनका वियोग हो जाने पर अत्यन्त दुःखित होजाता है। किन्तु ज्ञानी जीव धन सम्पत्ति स्त्री पुत्रादि की प्राप्ति को कर्म की देन मानता है। इन पदार्थों को कर्म की दी हुई धरोहर समझता है। जब उनका वियोग हो जाता है, तब दुःख नहीं होता, वह सच्चे साहूकार की तरह कर्म की रखी हुई धरोहर को उसे सहर्ष सौंपना ही अपना कर्त्तव्य समझता है। वह विचारता है कि कर्म ने ही इतने समय के लिए मुझे सौंपी थी और अब उसने उसकी वस्तु वापस लेली। इसमें विषाद क्या? दूसरे की चीज़ पर अपना अधिकार कर लेना महान् अन्याय है। अन्याय करने वाला नरक निगोदादि बन्दीगृह में डाला जाता है—ऐसा विचार कर ज्ञानी सदा सुखी रहता है। उसको अज्ञानी के समान वस्तु के संयोग से सुख तथा वस्तु के वियोग से दुःख नहीं होता है।

इस प्रकार के तत्त्वज्ञान से ज्ञानी संसार के कार्यों को करता हुआ भी कमल-पत्र के समान निर्लेप रहता है। अतएव ज्ञानी के भोग भी निर्जरा के कारण होते हैं और अज्ञानी की धार्मिक क्रिया भी अविवेक पूर्ण होने से बन्ध की कारण होती हैं।

इसलिए हे आत्मन् यदि संसार के दुःखों से, मानसिक संतापों से, इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग-जन्य क्लेशों से बचना चाहते हो तथा सदा आनन्दामृत का रसास्वादन करना चाहते हो तो तत्त्वज्ञान सम्पादन करो। वह तत्त्वज्ञान जिनागम का सतत अभ्यास करने से उपलब्ध होता है।

शंका—जिनागम का अभ्यास करने से ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, तो ग्यारह अंग और अभिन्नदश पूर्व के पाठी मुनि को तो जरूर ही तत्त्व ज्ञान हो जाना चाहिए था। लेकिन उतने अधिक आगम के अभ्यास से भी तत्त्वज्ञान नहीं होता है और तुषमाष भिन्न ज्ञान

रखने वाले शिवभूति मुनि के समान अल्पज्ञ भी तत्त्वज्ञान (भेदविज्ञान) प्राप्त कर अपना कल्याण करलेते हैं, इसलिए आगम के अभ्यास से तत्वज्ञान उत्पन्न होता है-यह कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—किसी समय एक शिवभूति नाम के मुनि थे। उन्हें शास्त्र के एकाक्षर का भी ज्ञान नहीं था। किसी को उन्होंने उडद की दाल से उसके तुषों को अलग करते हुए देखा। इसीसे उनने यह जानलिया कि जैसे दाल तुष से भिन्न है इसी तरह शरीरादि जड़ पदार्थों से आत्मा भिन्न है। किसी काल में किसी निकट भव्य को जिनागम के अभ्यास के बिना तत्त्वज्ञान हो जावे और वह उस पर स्थिर रहकर अपने आत्मा का कल्याण करले तो वह सब के लिए राज मार्ग नहीं हो सकता है। जैसे किसी नगर के राजा का स्वर्गवास होगया, और वहां के निवासियों या राजवर्ग के मनुष्यों ने निश्चय किया कि जो पुरुष सबसे प्रथम नगर में प्रवेश करेगा उसीको इस नगर का अधिपति पद दिया जावेगा। धन की अभिलाषा से इधर उधर भटकता हुआ कोई दरिद्र उस नगर में अचानक प्रविष्ट हुआ, और उसे राज्य प्राप्त होगया, तो क्या राज्य-प्राप्ति का वह मार्ग राजमार्ग माना जा सकता है ? राज्य के अभिलाषी क्या उसके मार्ग का अनुसरण कर अपने अभीष्ट की सिद्धि कर सकेंगे ? कभी नहीं कर सकते। अथवा किसी मनुष्य को जंगल में भ्रमण करते हुए दैववश वहां स्वर्ण-निधि प्राप्त होगई तो सबको उसी प्रकार स्वर्ग का खजाना प्राप्त हो जावेगा ? उसको प्राप्त करने का तो वाणिज्य व्यवसाय कृषि आदि ही मार्ग हो सकता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्ति का साधन जिनागम का अभ्यास ही हो सकता है। जो संयमी या श्रावक शिवभूति मुनि के दृष्टान्त को सम्मुख रखकर जिनागम का अभ्यास न कर पशु समान तत्त्वज्ञान रहित होकर अपना काल विकथा आलस्यादि प्रमाद में विताते हैं वे अपना तो अहित करते ही हैं और अपने सम्पर्क में रहने वाले अन्य भोले प्राणियों का भी महान् अहित करते हैं, अतएव प्रत्येक मनुष्य को अपना तथा परका हित सम्पादन करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय करना उचित है। स्वाध्याय करने से आत्मा को शान्ति मिलती है, विषय भोग से उदासीनता आती है, धर्म में अनुराग बढ़ता है। संसार से भय और शरीर से वैराग्य होता है, तत्त्वज्ञान जागृत होता है, कषाय मन्द होती है और चित्त की एकाग्रता होती है। चित्त की एकाग्रता के कारण ध्यान की सिद्धि होती है। और ध्यान से कर्म का क्षय होकर मोक्षपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार जिनागम के स्वाध्याय करने से तत्त्वज्ञान की जागृति का वर्णन करके अब विनय का वर्णन करते हैं, क्योंकि ज्ञान का फल विनय है। जिस ज्ञानवान को विनय गुण नहीं प्राप्त हुआ उसका तत्त्वज्ञान फलशून्य वृक्ष के समान अनादरणीय होता है।

विनय की महिमा

'विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।'

ज्ञान की प्राप्ति विनय को जन्म देती है और विनयवान् आत्मा गुणों का पात्र (आधार) बनता है। तत्त्वज्ञान की सफलता

विनीत भाव धारण करने से ही होती है। जिसका आत्मा अविनीत है, उसका सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, तप और व्यवहार शुद्ध नहीं होता है। क्योंकि अविनय उनमें मलीनता उत्पन्न करता है। अविनय नाम कठोरता का है। कठोर-हृदय पाषाण के समान मानागया है। जैसे पाषाण पर डाला हुआ उत्तम बीज भी बेकार हो जाता है, उसमें समय पर सिंचन किया हुआ जल वह जाता है, उसको आर्द्र व कोमल नहीं बना सकता है; अतः उसमें अंकुर का उदय नहीं होता। उसी प्रकार विनय हीन मनुष्य में गुरु के उपदेश सत्संगति आदि के निमित्त से सदाचारादि गुण उत्पन्न नहीं होते हैं। सचतो यह है कि विनय रहित मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति ही नहीं होती है, क्योंकि अविनीत शिष्य पर गुरु का प्रेम नहीं होता विनयवान् शिष्य को गुरु अपने से अधिक विद्वान् बनाने का उद्योग करता है। हृदय खोलकर शास्त्रों के रहस्य का उद्घाटन करता है। और अविनीत शिष्य को अपने निकट भी नहीं बैठने देता है। इसलिए विनयशील शिष्य ही ज्ञानादि गुणों का भंडार होता है और वह सब का प्रिय होता है। उसके सहज में सब मित्र बन जाते हैं और उसको सुखी बनाने में प्रयत्नशील होते हैं। अविनीत के बिना कारण सब शत्रु हो जाते हैं। और उसके उत्कर्ष को कोई नहीं चाहते हैं।

विनय के भेद और उनका स्वरूप

विनय पांच प्रकार का है— १ दर्शनविनय, २ ज्ञानविनय, ३ चारित्रविनय, ४ तपविनय और ५ उपचारविनय।

१ दर्शनविनय—सम्यक्त्व के शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और स्तुति इन पांच अतिचारों का त्याग करना, सम्यग्दर्शन के निःशङ्कितादि आठ गुणों को धारण करना, सम्यग्दर्शन का विनय कहलाता है।

(२) ज्ञानविनय-सम्यग्ज्ञान को धारण करना ज्ञान विनय है। ज्ञान विनय के ८ भेद हैं उनका क्रमशः यह स्वरूप है:— १ योग्यकाल में आगम (सूत्रों) का अध्ययन करना कालविनय है। २ आगम व आगम के कर्त्ता की महिमा का वर्णन करना भक्ति विनय है। ३ जबतक यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं होगा तब तक अमुक वस्तु का भोजन नहीं करूंगा अथवा इतने उपवास करूंगा इत्यादि तपस्या करने को उपधानविनय कहते हैं। इससे कर्म का क्षय होता है और ज्ञान की जागृति होती है। ४ पवित्र होकर हाथजोड एकाग्रचित्त से अध्ययन करने को बहुमान विनय कहते हैं। ५ किसी गुरु से शास्त्रों का अध्ययन करके भी उसको गुरु न बताना अथवा उसके स्थान में किसी अन्य व्यक्ति को गुरु प्रकट करना निह्नव कहलाता है। ऐसे निह्नव का न होना ही अनिह्नव नाम का विनय है। ६ गणधरादि द्वारा निर्मित आगम का शुद्ध उच्चारण करना व्यंजन (शब्द) शुद्धि नाम का विनय है। ७ आगम का यथार्थ शास्त्रों के अर्थ का इस प्रकार प्रतिपादन करना जिससे श्रोताओं के ठीक ठीक समझ में आजावे उसे अर्थशुद्धि नामका विनय कहते हैं। ८ आगम के शब्दरूप पाठ का तथा अर्थ का शुद्ध निरूपण

करने को तदुभय (व्यंजन व अर्थ) शुद्धि नाम का विनय कहते हैं। इन आठ प्रकार के ज्ञान के साधनों से आठ कर्मों का व्यपनयन (निराकरण) होता है। इसलिए इनको विनय नामसे कहा है। इस प्रकार ज्ञानविनय के आठ भेदों का वर्णन हुआ।

(३) चारित्रविनय—चारित्र धारण करना चारित्रविनय है। पांचव्रतों की जो पच्चीस भावनाएँ हैं ('तत्स्थैर्यार्थं भावना पञ्च २- जो इस तत्वार्थ सूत्र से निरूपण की गई हैं) उनके चिन्तन करनेका चारित्र विनय कहते हैं। अथवा इष्ट अनिष्ट शब्द रूपादि विषयों में रागद्वेष न करने तथा क्रोधादि चार कषाय, इष्ट अनिष्ट हास्यरति अरति आदि नव कषायों का निग्रह करना चारित्र विनय कहलाता है।

(४) तपविनय—संयमपालन मे उद्यमशील होना, दीनता रहित होकर क्षुधादि परिषहों का सहना, तपस्या में अनुराग रखना, सामायिक, प्रतिक्रमण, चतुर्विंशतिस्तव, वेदना, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक का हीनाधिकता रहित पालन करना तपविनय कहलाता है।

(५) उपचारविनय—गुरू आदि पूज्य पुरुषों का मन वचन काय से प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार भक्ति करने को उपचार विनय कहते हैं।

इस प्रकार संक्षेप से विनय का वर्णन किया है। इसका विशेष विशद वर्णन 'विनयाचार' में कर आये हैं। वहां से जान लेना चाहिए।

मनको वश में करने की आवश्यकता

जिनलिंग के धारक समाधिमरण के इच्छुक ने ज्ञानाभ्यास से विनय गुण उत्पन्न कर लिया है उसको अपना मन भी वश में करना चाहिए। क्योंकि जिसका मन चचल है, वह अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता है। उसका चारित्र तप आदि का आराधन निरर्थक होता है।

चालणिगयं व उदयं सामण्णं गलइ अणिहुदमणस्स।
कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥१२३॥ (भग०)

अर्थ—जो संयमी शरीर से शास्त्रोक्त क्रियाओं को करता है, तथा वचन से आगमोक्तप्ररूपणा करता है, तथापि यदि उसका

जिस काय और वचन के द्वारा किये गये सम्यक् आचरण मे स्थिर नहीं है एवं विषयो में भ्रमण करता रहता है उस साधुका साधुत्व (संयम) चालनी में गिराये गये पानी के समान निकल जाता है। अर्थात उसके आत्मा मे चारित्र चलनी के पानी के समान नहीं टिकता है।

जब तक मनमे चपलता है। बाहर विषयों की तरफ भटकने की आदत नहीं छूटती है तबतक वह अन्धे बहरे व गूंगे के समान है। जैसे अन्धा बहिरा व गूगा वस्तुके सन्मुख रहते हुए भी उसको देखता सुनता नहीं है तथा वचन द्वारा कह नहीं सकता, वैसे ही अन्य विषयों मे लगा हुआ मन सन्मुख स्थित रूपादि का ज्ञान नहीं करता है। मन मदोन्मत्त हस्ती के समान है। उसको रोकने के लिए स्वाध्याय-रूप शृंखला ही एक मुख्य उपाय है। जिसने स्वाध्याय से मन को स्थिर करने का अभ्यास किया है उसीका चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है। तथा वही उसे अपने आत्मा मे लगा सकता है।

शंका—मनको रोकने का उपाय करने पर भी वह अतिशीघ्र इधर उधर क्यो दौड जाया करता है? विषयों से हटाने का विचार करते हैं तो भी उन वस्तुओ मे पुनः पुनः चला जाता है, इसका क्या कारण है?

समाधान—जिन पदार्थों मे अधिक अनुराग होता है, उनमे मन की प्रवृत्ति होती है। जैसे जैसे बाह्य पदार्थों से अनुराग घटता है वैसे वैसे उनसे मन निवृत्त होकर आत्मा मे स्थिर होने लगता है। मनको स्थिर रखने के निमित्त ही सब परिग्रह के त्यागी साधुओं को भी सावधान रहने का उपदेश दिया है और यहा तक कहा है कि उनको गृहस्थों के संपर्क से बचना चाहिए। इसीलिए निरंतर विहार करने का भी उनको आदेश है। निरन्तर विहार का वर्णन हम पहले कर आये हैं। इसलिए यहां विशेष वर्णन न करके उससे होने वाले लाभ का संक्षेप में निरूपण करते हैं।

निरंतर विहार की उपयोगिता

सतत विहार करनेवाले मुनि के, तीर्थंकरों के गर्भ जन्म कल्याण के क्षेत्रों के अवलोकन करने से, उनकी तपस्या करने की पवित्र भूमि के स्पर्श करने से, केवल और मोक्ष कल्याण के परम पवित्र तीर्थों की यात्रा करने से सम्यग्दर्शन में विशुद्धि उत्पन्न होती है।

अनियत विहारी मुनि उज्ज्वल चारित्र के आराधक होते हैं, उनको देखकर दूसरे शिथिल चारित्र वाले साधु भी अपने चारित्र को निर्मल बनाते हैं। उनकी संसारभीरुता व उत्कट तपस्या को देखकर अन्य मुनि भी संसार से उद्विग्न हो तपश्चरण मे लीन हो जाते हैं। उत्तम लेश्या के धारक मुनीश्वरों के निर्मल शान्त स्वभाव को देखकर इतर मुनि भी अपने परिणामों को निर्मल बनाते हैं। तात्पर्य यह है कि सतत विहार करने से साधुओं का परस्पर सहयोग होता है और उनमे जो कमी होती है, उसे एक दूसरे को देखकर वे निकालने का प्रयत्न

करते हैं। नियतस्थान पर निवास करने से मुनियों का परस्पर सम्मेलन नहीं होसकता और वे एक दूसरे से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते हैं। तथा अनेक देश नगर ग्रामादि के धर्म-प्रिय मनुष्य धर्म के मार्ग से वंचित रहते हैं। सतत विहार करनेवाले मुनि नाना देश के लोगों को धर्म का स्वरूप दिखाकर उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाते हैं और धर्मात्माओं को धर्ममार्ग पर दृढ़ करते हैं।

नानादेशों मे विहार करने से मुनि में क्षुधा तृषा चर्या शीत उष्णादि परिषदों के सहन करने की शक्ति बढ़ती है। अनेक देशों का परिज्ञान होता है। वहा के धर्माचरणादि की परिस्थिति का परिचय होता है। भिन्न २ प्रकृति के मनुष्यों के साथ धर्मचर्चा करने से तत्त्वज्ञान मे प्रौढ़ता आती है और तत्त्वविवेचन करने का वाक्चातुर्य प्राप्त होता है। अनेक देशों की भिन्न २ भाषाओं का परिज्ञान होता है।

अनियत विहारी के वसतिका में, पुस्तकादि उपकरण में, ग्राम नगर देशादि मे, तथा श्रावकों में मोह उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए निरन्तर विहार साधु के आचरण व ज्ञानादि को निर्मल करने वाला है।

यह याद रखने की बात है कि देशान्तर मे भ्रमण करने मात्र से अनियतविहारी नहीं होता है; किन्तु श्रावक लोगों में ममत्व रहित होने से ही अनियतविहार की सफलता मानी गई है। जो साधु 'यह श्रावक मेरे भक्त हैं, मैं इनका स्वामी हूँ,' इस प्रकार मोह भाव रखता है वह आगमानुकूल देशान्तर में पर्यटन करता हुआ भी अपने आत्मा को भक्त-प्रत्याख्यान-समाधिमरण करने के योग्य नहीं बना सकता है।

उक्त प्रकार निरन्तर विहार करता हुआ साधु व आचार्य समाधि मरण के अवसर का आगमन समझकर भक्तप्रत्याख्यान करने में तत्पर होता है।

समाधिमरण के लिए तत्परता

आचार्य जब अपनी आयु को अल्प शेप रही जान लेते हैं, तब अथवा ऊपर बताये हुए प्राणघातक व्याधि दुर्भिक्षादि कारण उपस्थित होने पर समाधिमरण के लिए तत्पर होते हुए समस्त संघ का परित्याग करने के लिए उद्यत होते हैं उस समय वे विचारते हैं कि

अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा।
णिप्पादिदा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो कादुं ॥ १५४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—मैंने आगमोक्त विधि से चिरकाल पर्यन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तपरूप पर्याय की रक्षा की। मैंने शिष्यों को अध्य-

यन भी कराया। अनेक शिष्यों को भगवती दीक्षा भी दी। अब शिष्य भी योग्य व समर्थ होगये हैं। अतः अब मुझे अपना हित करना चाहिए। इस प्रकार आचार्य के परिणाम उत्पन्न होते हैं और यह श्रेष्ठ भी हैं। क्योंकिः—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥ (भग० टीका १५४)

अर्थात्—जिसमे आत्मा का हित होता है, वही कार्य करना चाहिए यदि आत्महित करते हुए परहित करने का सामर्थ्य हो तो परहित भी अवश्य करना योग्य है। किन्तु जब परहित में लगे रहने पर आत्मा का अहित होता हो, उस समय परहित की उपेक्षा करके आत्मा का हित करना ही उचित है। इस प्रकार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की आज्ञा है। अतः संघ के नायक आचार्य अन्त समय अपने आत्मा मे परम निराकुलता उत्पन्न करने के लिए शिष्यो के शासन कार्य का परित्याग कर देते हैं।

तथा सामान्यसाधु भी प्राणघातकव्याधि दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने अथवा आयु के अन्तिम समय का निश्चय होने पर अपने आत्महित मे तत्पर होता है। आगम मे कहा हैः—

एवं विचारयित्ता सदि माहप्पे य आउगे असदि।
अणिगूहिदवलविरियो कुणदि मदिं भत्तवोसरणे ॥ १५८ ॥ (भग०)

अर्थ—अपने आत्महित का विचार कर स्मरण शक्ति के रहते हुए आयु के अन्तिम समय में अपने वल व वीर्य को न छिपाकर साधु भक्तप्रत्याख्यान (समाधि मरण) करने का विचार करता है।

वह सोचता है कि जब तक मेरी स्मरण शक्ति बनी हुई है, शारीरिक शक्ति क्षीण नहीं हुई है, वचन उच्चारण करने में भी कुछ त्रुटि नहीं उत्पन्न हुई है और आत्महित का विचार करने का वल जब तक नष्ट नहीं हुआ है, चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति भी जब तक नहीं घटी है तब तक ही मुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिए। क्योकि स्मृति भ्रष्ट होजाने पर रत्नत्रय का आचारण कैसे हो सकेगा ? तथा शारीरिक शक्ति का क्षय होने पर आतपनादि योगों का अनशनादि तपश्चरण का और ईर्यासमिति आदि चारित्र का पालन कैसे कर सकूंगा ? शक्ति के अभाव से चारित्र के पालन मे अरुचि उत्पन्न हो जाने पर मेरा संयम रत्न लुट जावेगा, चक्षु व श्रोत्र के आश्रित संयम का पालन होता है और जब ये उत्तर देदेंगे, तब मेरा जीवन का सार संयम नष्ट हो जावेगा। अतः इन सब के अनुकूल रहते मुझे आत्म

कल्याण के लिए भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण का आचरण करलेना उचित है। वह यह भी सोचता है कि इस समय मेरे शुभोदय से समाधिमरण के सहायक निर्यापक आचार्य तथा निर्यापक (वैयावृत्त्य करने वाले) साधु आदि भी सुलभ हैं। निर्यापकाचार्य ऋद्धिगारव रसगारव और सात गारव रहित होना चाहिए सो मुझे इस समय सुप्राप्य है। ऋद्धि-प्रिय आचार्य असंयमी को भी निर्यापक पद पर स्थापित कर देते हैं। ये तीनों ही दोष निर्यापक में नहीं होना चाहिए, क्योंकि असंयमी निर्यापक साधु को समाधि मरण में क्या मदद दे सकता है ? जो स्वयं असंयम से नहीं डरता है वह असंयम के कारणों का और असंयमाचार का परिहार कैसे कर सकता है ? और इसी तरह जो रस (आहारादि) तथा सात (सुख) गारव युक्त होता है, उससे क्लेशों का सहन कैसे होसकता है ? जो अपने शरीरादि के कष्ट का सहन करने की शक्ति नहीं रखता वह आराधक के वैयावृत्त्य के क्लेश को कैसे सह सकता है ? किन्तु इस समय तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सुन्दर आचरण करने वाले निर्यापक का संयोग मिलरहा है। अतएव मुझे विद्वानों से मान्य भक्तप्रत्याख्यान का आचरण करके शरीर का त्याग करना आवश्यक है।

इस प्रकार के विचारों से मुनि के शान्ति पूर्वक शरीर त्याग करने की दृढ़ता हो जाती है, यदि आसातावेदनीय कर्म के तीव्र उदय से उसके शरीर मे तीव्र वेदना भी उपस्थित होजाय तो उक्त प्रकार से परिणामों में दृढ़ता आजाने से उसको दुःख नहीं होता है, क्योंकि जीने की आशा उसके चित्त मे लेशमात्र भी नहीं है, वह तो शान्ति धारणकर मरण करने में उद्यमी हो रहा है, अतः उसके परिणामों में निर्मलता बनी रहती है।

समाधिमरण करने मे तत्पर हुआ साधु पिच्छी और कमण्डलु के सिवा सब का परित्यादेग कर ता है। ज्ञान की साधनभूत पुस्तक भी उस समय परिग्रह मानी गई है। वह उसका भी त्याग कर देता है।

समाधिमरण में-शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद

समाधि मरण मे अग्रसर होने के लिए शुद्धियों की नितान्त आवश्यकता है और वे शुद्धियाँ पांच होती हैं। यथाः—

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥ १६६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—आलोचना शुद्धि, शय्या संस्तर शुद्धि, उपकरण शुद्धि, भोजनपान शुद्धि और वैयावृत्त्य शुद्धि इस प्रकार शुद्धियों के पांच

भेद हैं। जिस साधु ने पंडितमरण करने का दृढ निश्चय कर लिया है उसको उक्त पांच प्रकार की शुद्धियों को धारण कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इन पाँचों शुद्धियों का संक्षिप्त स्वरूप यह है।

(१) आलोचनाशुद्धि—मायाचार रहित और असत्यभाषण रहित गुरु के निकट अपने अपराधों को प्रकट करना आलोचना शुद्धि कहलाती है। जो साधु अपने व्रताचरण में लगे हुए दोषों को निष्कपट भाव से प्रकट नहीं करता उसका आत्मा मलीन रहता है, उस मलीनता को दूर करने के लिए गुरु के समीप अपने दोषों को ज्यों के त्यों प्रकट कर देना चाहिए। दोषों को प्रकट कर देने पर आत्मा स्वच्छ हो जाता है।

(२) शय्या-संस्तर शुद्धि—शय्या (वसतिका) और संस्तर में उद्गम उत्पादनादि दोषों को नहीं लगाना तथा 'यह शय्या व संस्तर मेरा है' ऐसा ममत्व न रखना शय्या-संस्तर-शुद्धि है। उद्गम उत्पादनादि दोषों का स्वरूप एषणाशुद्धि के प्रकरण में कह आये हैं, वहां से जान लेना चाहिए। जो शय्या-संस्तर में ममता रखता है, वह परिग्रही माना जाता है, उसमें ममत्व का त्याग करने से ही परिग्रह का अभाव होता है जो कि आत्मा को शुद्ध बनाने में मुख्य कारण होता है।

(३) उपकरणशुद्धि—पिच्छी कमंडलु भी उद्गमादि दोष रहित तथा 'ममेदं' इस ममत्व संकल्प से रहित होना चाहिए। जो उपकरण उद्गम उत्पादनादि दोष से युक्त होते हैं, वे हिंसादि पापों के जनक होते हैं तथा उनमें ममत्व रहने से वे परिग्रह माने गये हैं, इसलिए निर्दोष उपकरण में भी मोह का त्याग करना आवश्यक है नहीं तो आत्मा में विशुद्धि नहीं आती।

(४) भक्तपानशुद्धि—अधःकर्म, उद्गम, उत्पादना, उद्दिष्टादि दोष सहित भोजन और पान का ग्रहण न करने से भोजन पान शुद्धि होती है। निर्दोष भोजनपान में भी मोह रहने से वह भी परिग्रह रूप होजाते हैं, इसलिए निर्दोष और मोहरहित शास्त्र विधि के अनुकूल आहारजलादि का ग्रहण करने से भक्तपान शुद्धि होती है।

(५) वैयावृत्यकरणशुद्धि—संयमी की सेवा (वैयावृत्य) जिस रीति से की जाती है, उस पद्धति का ज्ञान वैयावृत्य शुद्धि मानी गई है। जिसको मुनि के योग्य वैयावृत्य का ज्ञान नहीं है उसके वैयावृत्य शुद्धि का अभाव है।

दूसरी तरह से शुद्धियों के भेद।

दर्शनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, चारित्रशुद्धि, विनयशुद्धि, और आवासशुद्धि इस तरह भी शुद्धियों के पांच भेद माने गये हैं। इन शुद्धियों के धारण करने से अशुभ योगादि भावदोषों का निरास होता है। इन भावदोषों के निवारण करने से परिग्रह का परिहार होता

है। इन शुद्धियों का संक्षेप स्वरूप यह है।

(१) दर्शनशुद्धि—निश्शङ्कित आदि गुणों का आत्मा में प्रकट होना ही दर्शनशुद्धि है। इस के प्रकट हो जाने से शंका, कांक्षादि अशुभ परिणाम का नाश हो जाता है।

(२) ज्ञानशुद्धि—आगम का योग्य काल में अध्ययन करना, जिससे विद्या का अध्ययन किया है, उस गुरु का व शास्त्र का नाम न छिपाना इत्यादि आठ प्रकार की ज्ञान शुद्धि है। इस शुद्धि के उत्पन्न होने पर सूत्रों का अकाल में अध्ययनादि क्रियाओं से जो ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता था उसका अभाव हो जाता है।

(३) चारित्रशुद्धि—अहिंसादि पांच व्रतों की पच्चीस भावनाओं का उत्तम रीति से पालन करने से चारित्र शुद्धि होती है। इन भावनाओं का परित्याग करने से अन्तः करण में मलिनता आती है और इससे अशुभपरिणाम उत्पन्न होते हैं। ये अशुभ परिणाम ही आभ्यन्तर परिग्रह हैं, इसलिए उन अशुभ परिणामों का परित्याग करना ही चारित्रशुद्धि मानी गई है।

(४) विनयशुद्धि—यश, सन्मान आदि लौकिक फल की अभिलाषा का त्याग कर पूजनीयों का विनय करना विनयशुद्धि है। इस विनय शुद्धि का आचरण करने से मानादिकषाय का अभाव हो जाता है।

(५) आवश्यकशुद्धि—पापजनक मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का त्याग करना, जिनेन्द्र के गुणों में भक्ति रखना, वंद्यमान आचार्यादि के गुणों का अनुसरण करना, किये हुए अपराधों की निन्दा करना, मन से अपराधों का त्याग करना, काय की निःसारता आदि का चिन्तन करना, ये सब आवश्यक शुद्धि है। इस शुद्धि के होने पर अशुभ (पापजनक) मन वचन काय की प्रवृत्ति का, जिनेद्र गुण में अप्रीति का, आगम के महत्व में अनादर का, आचार्यादि पूज्य पुरुषों के गुणों में अरुचि का, अपराधों की अग्लानि का, त्याग रहित परिणाम का, संसार की सारता और शरीर की ममता का त्याग होता है। शुद्धियों की तरह संन्यासमरण धारण करनेवाले को पांच प्रकार का विवेक भी धारण करना चाहिए। इस, लिए प्रसंगानुसार यहां विवेकों का वर्णन भी कर देते हैं।

पांच प्रकार का विवेक

इन्दियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स।
एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो ॥ १६८ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—१ इन्द्रियविवेक, २ कषायविवेक, ३ उपधिविवेक, ४ भक्तपानविवेक, ५ देहविवेक, इस प्रकार विवेक के पांच भेद हैं।

(१) इन्द्रियविवेक—रूपादि विषयों में चक्षुआदि इन्द्रियों की जो राग द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है, उसको रोकना इन्द्रिय-विवेक है। इसके दो भेद हैं—द्रव्य-इन्द्रिय-विवेक और भाव-इन्द्रिय-विवेक। मैं उसके कठोर कुचों को देखता हूँ, मैं उसके नितम्ब या रोमपंक्ति का अवलोकन करता हूँ, उसके अत्यन्त पुष्ट जघन का स्पर्श करता हूं; उसके मधुर गान को सुनता हूं, उसके मुखकमल की सुगन्ध को सूंघता हूँ, उसके बिम्ब समान ओष्ठ का रसास्वादन करता हूँ–इस प्रकार के विषयों में अनुराग उत्पन्न करने वाले वचनों का उच्चारण न करना द्रव्य-इन्द्रिय-विवेक है। अनायास चक्षु आदि इन्द्रियों की रूपादि विषयों में प्रवृत्ति हो जाने पर जो ज्ञान होता है उसमें रागद्वेष का मिश्रण न करना अर्थात् चक्षु आदि के द्वारा जाने हुए भले बुरे रूपादि विषयों में राग व द्वेषरूप परिणाम उत्पन्न न करना भाव-इन्द्रिय-विवेक है।

(२) कषायविवेक—क्रोधादि के विषयभूत पदार्थ में क्रोधादि न करने को कषाय-विवेक कहते हैं। कषाय विवेक दो प्रकार का है। १ काय जनित और २ वचनजनित। भौंहें सुकोड़ना, लालनेत्र करना, होठ डसना, शस्त्र हाथ में लेना, इत्यादि काय द्वारा कषाय न करना कायजनित क्रोधकषायविवेक कहलाता है। मैं तुझे जान से मारडालूंगा, पीटूंगा, तुझे सूली पर चढ़ा दूंगा इत्यादि कषाय युक्त वचन न बोलना यह वचन-जनित क्रोधकषायविवेक होता है। दूसरे के तिरस्कादि करने पर भी अपने मन में क्रोध रूप परिणाम न होना भाव से क्रोध कषाय-विवेक होता है। इसी तरह मानकषाय-विवेक भी काय से और वचन से होता है। शरीर के अवयवों का अकड़ाना, सिर को ऊँचा उठाकर चलना, ऊँचे आसन पर बैठना इत्यादि अभिमान प्रकट करने वाली क्रियाओं को न करना कायजनित मानकषायविवेक होता है। मुझसे अधिक कौन आगम का वेत्ता है, कौन सच्चरित्र है ? मुझ से उत्कृष्ट तपस्वी कौन है ? इत्यादि अभिमान भरेवचन उच्चारण न करने को वचनजनित मानकषाय-विवेक कहते हैं। मैं ज्ञान, चारित्र व तप में सबसे महान् हूँ, इस प्रकार का मन में विचार न करने को भाव से मानकषाय विवेक कहते हैं। मायाविवेक भी दो प्रकार का है–किसी व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध में बोलता हुआ भी मानो किसी अन्य व्यक्ति के लिए बोल रहा है–इस तरह के वचन का त्याग करना, अथवा मायाचार के उपदेश का त्याग करना, या मैं माया न करूंगा, न करवाऊंगा और न माया करते हुए की अनुमोदना करूंगा, यह सब वचनजनित मायाकषाय-विवेक कहलाता है। शरीर से करना कुछ, और लोगों को दिखाना कुछ इसका त्याग करने को काय जनित मायाकषायविवेक कहाजाता है। लोभविवेक–द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। जिस पदार्थ का लोभ है, उसको लेने के लिए हाथ फैलाना, द्रव्य के स्थान को सुरक्षित रखना, उस वस्तु को लेने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को हाथ के इशारे या सिर हिलाकर मना करना, इत्यादि लोभ विषयक क्रियाओं के त्यागने से कायसे लोभकषाय का विवेक होता है। यह वस्तु मेरी है, इस धन ग्रामादि का मैं स्वामी हूँ–इत्यादि वचन न बोलने को वचनजनित लोभकषाय का विवेक कहते हैं। किसी वस्तु में ममत्वरूप परिणाम न करने को मनोजनित लोभ-कषाय-विवेक कहते हैं।

(३) उपधि विवेक—शरीर से पुस्तकादि उपकरणों का ग्रहण न करना, न अन्य जगह उनको स्थापन करना और न कहीं पर

रख कर उनकी रक्षा करना यह कायजनित उपधिविवेक होता है। इन ज्ञानोपकरणों का मैंने त्याग किया इस प्रकार वचनों का उच्चारण करना यह वचन जनित उपधि विवेक होता है।

(४) भक्तपान-विवेक—भोजन और पान करने की वस्तुओं के खाने पीने का त्याग करना कायद्वारा होने वाला भक्त-पान का विवेक होता है। अमुक भोजन व पान का मैं त्याग करताहूं, ऐसे वचन को वचन द्वारा होनेवाला भक्त पान का विवेक कहा जाता है।

(५) देह-विवेक—यह देह विवेक भी शरीर और वचन के द्वारा होता है।

शंका—संसारी जीवों के शरीर से विवेक (पृथक् होना) कैसे हो सकता है ?

समाधान—अपने शरीर से अपने शरीर सम्बन्धी उपद्रव का निवारण न करना अर्थात् अपने किसी शरीर के हस्त पादादि अवयव में जहरीला फोड़ा उत्पन्न हो जाने पर उसका निवारण अपने शरीर से न करना यह शरीर द्वारा होने वाला अपने शरीर का विवेक कहलाता है। अथवा अपने शरीर पर उपद्रव करने वाले मनुष्य, तिर्यंच या देव को 'तुम उपद्रव मत करो' इस प्रकार के हस्त संकेत से अर्थात् हाथ हिलाकर जो मना नहीं करता है, शरीर को सताने वाले डांस मच्छर बिच्छू सर्पादि को जो अपने हाथ से नहीं हटाता है, पिच्छी आदि उपकरण से या लकड़ी आदि से दूर नहीं करता है तथा छत्र पिच्छिका चटाई आवरण आदि से शरीर की रक्षा नहीं करता है, उसके शरीर द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

मेरे शरीर को पीड़ा मत दो, मेरी रक्षा करो-ऐसे वचनों का उच्चारण न करना, यह शरीर अचेतन है, मुझ से भिन्न है ऐसे वचन बोलना, वचन द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

विवेक के दूसरे प्रकार से छह भेद

अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव ॥ १६६ ॥ (भग०)

अर्थ—शरीरविवेक, शय्याविवेक, संस्तारविवेक, उपधिविवेक, भक्तपानविवेक और वैयावृत्त्य करने वालों का विवेक इस प्रकार भी विवेक का वर्णन किया गया है।

विवेक के उक्त छह भेदों में से शरीरविवेक, उपधिविवेक और भक्तपानविवेक का वर्णन तो ऊपर हो ही चुका है। शेष शय्याविवेक, संस्तरविवेक और वैयावृत्त्य विवेक इन तीनों का स्वरूप दिखलाते हैं।

शय्याविवेक—पहले जिस वसतिका में रहते थे, उसमें नहीं ठहरना-यह शय्या का विवेक कायजनित होता है। मैं इस वसतिका का त्याग करता हूँ, ऐसे वचनों से वसतिका के त्याग करने को वचनजनित शय्या का विवेक कहते हैं।

सस्तरविवेक—पहले जिस संस्तर पर वैठते या सोते थे, उस पर न सोना व न बैठना इसको कायजनित संस्तर विवेक कहते हैं। मैं इस संस्तर का त्याग करता हूँ ऐसे वचन बोलकर सस्तर का त्याग करना वचनजनित संस्तरविवेक कहलाता है।

वैयावृत्त्यविवेक—जो शिष्यादि वैयावृत्त्य करने वाले हैं उनको शरीर से अलग कर देना, उनके साथ न रहना, यह कायजनित वैयावृत्त्यविवेक कहलाता है। तुम लोग मेरा वैयावृत्त्य मत करो, मैंने तुमम्हारा त्याग कर दिया है, इस प्रकार वचन बोलकर वैयावृत्त्य करने वालो का त्याग करना वह वचन जनित वैयावृत्य विवेक कहा जाता है। किन्तु यह सब विवेक भाव जनित ही होना चाहिए नहीं तो सब कुछ निष्फल है। सम्पूर्ण शरीरादि पदार्थों से अनुराग का त्याग करना अथवा उनके साथ ममत्व भाव न रखना ही भावविवेक होता है। भावविवेक ही सल्लेखना की जान है। सल्लेखना के लिए उद्यमी साधु सदा आत्मा के स्वरूप को पुद्गलादि से भिन्न अनुभव करता हुआ पुद्गल की पर्यायों से मोह का त्याग करता है, तथा उनके साथ शरीर का सम्पर्क भी नहीं रखता है। तथा शरीर में आहारादि से भी राग सम्बन्ध का त्याग करता है और समता भाव को स्वीकार करता है। सब परपदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करता हुआ वह अपने रत्नत्रय की वृद्धि में ही दत्तचित रहता है। उसको अपने शरीर से भी नितान्त उपेक्षा होजाती है। वह विचारता है कि यह शरीर निःसार है, महान् अशुचि पदार्थों का घर है, यह आत्मा के परिणामो को मलीन कर उसको कर्मबन्धन मे डालता है, यह जरामरण से युक्त है, नित्य दुःख देने वाला है। इस प्रकार चिन्तन कर शरीर से निःस्पृह होता है और आत्मा को सुखी बनाने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप आत्मा के भावों को उत्तरोत्तर अति उज्ज्वल करता है।

आचार्य पद का त्याग

जब संघ का नायक आचार्य सल्लेखना करने के लिए उद्युक्त होता है तब अपना आचार्यपद त्याग देता है और आचार्य पद के भार का वहन करने में समर्थ जो साधु होता है उसे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका चतुर्विध संघ के मध्य बिठलाकर सब संघ को सुचित करता है कि इतने समयतक मैंने संघ की सेवाकी है, अब मैं आत्मा-कल्याण करने लिए संघ से अपना सम्बन्ध छोड़ता हूं और इस पद पर चारित्र-क्रम के ज्ञाता, उत्तमशील स्वभाव वाले, व्यवहार निपुण, आगम के रहस्य के वेत्ता, इस साधु को स्थापित करता हूँ। आज से यह तुम्हारे

आचार्य हैं। यह अपना व तुम्हारा उद्धार करने में तत्पर रहेंगे। अतः आप लोगों को इनकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार कहकर संघ का भार उस आचार्य पर रखकर परमशुभ परिणामों से सब से पृथक् हो जाते हैं और अपने आत्मा को निर्मल करने में दत्तचित्त हो जाते हैं। ये अपने आत्मा को शुभ भावनाओं से संस्कृत करते और कुभावनाओं का सर्वथा परिहार करते हैं। वे कुभावनाएँ विद्वानों ने पांच प्रकार की बतलाई हैं। यथाः—

कांदर्पी कैल्विपी प्राज्ञैराभियोग्यासुरी तथा
सांमोही पंचमी हेया संक्लिष्टा भावना ध्रुवम् ॥ (भग० आ० संस्कृत १८१)

अर्थ—विद्वानों ने कांदर्पी, कैल्विपी, आभियोग्या, आसुरी और सांमोही ये पांच भावनाएँ सदा त्याज्य मानी हैं। अर्थात इनका आत्मा में एक क्षण भर के लिए भी रहना दृढ़ कर्म-बन्ध का कारण है। इन भावनाओं का स्वरूप पहले लिख आये हैं, इसलिए यहां नहीं लिखा गया है।

साधु को उक्त पांच कुभावनाओं का परित्याग कर पांच शुभ भावनाओं में प्रवृत्ति करना चाहिए।

पांच शुभ भावनाएं

तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणे चेव ।
धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा ॥ १८७ ॥ (भग०)

अर्थ— १ तपभावना, २ श्रुतभावना, ३ सत्त्व (अभीरुत्व) भावना, ४ एकत्वभावना और ५ धृतिबल भावना ये पांच प्रकार की शुभ भावनाएं आत्मा को सद्गति में लेजाने वाली हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप यह है:—

(१) तपभावना—बारह प्रकार के बाह्य और छह प्रकार के अन्तरंग तपों का अभ्यास करना तपभावना है। बारं बार [illegible] इन्द्रियां वश में होती हैं। इन्द्रियों का निग्रह होने से समाधिमरण के अभिलाषी आचार्य के समाधि के [illegible] होता है।

[illegible] इन्द्रियों का दमन होता है और दमन को प्राप्त हुई इन्द्रियां मन में काम विकार उत्पन्न करने में [illegible]

आलिंगनादि क्रियाओं में आदर

समर्थ नहीं होती हैं। जब शरीर कृश होजाता है और इंद्रियां प्रशान्त हो जाती हैं तब स्त्री के साथ कामक्रीड़ा
भाव नहीं होता है यह सुप्रसिद्ध है।

शंका—अनशन (उपवास) आदि तपश्चरण में प्रवृत्त हुए पुरुष को आहार के दर्शन से उसका विचार करने से, सुनने से भोजन
करने की इच्छा उत्पन्न होती है, अतः तपोभावना से इन्द्रियां विषय से विरक्त होती हैं यह कहना अयोग्य है।

सामाधान— आत्मा जब तक वस्तु का त्याग नहीं करता है, तब तक उसका चित्त उस वस्तु की ओर दौड़ता है और जब
उसका त्याग करता है अर्थात् उस से अनुराग हटा लेता है, तब चित्त की प्रवृत्ति उतने समय के लिए उस वस्तु से हट जाती है। क्योंकि
पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा अनुराग से होती है, अनुराग के अभाव में उपेक्षाभाव उत्पन्न होता है और उपेक्षा के कारण आत्मा उपेक्षित
पदार्थ से विरक्त होता है, अतः तपोभावना से आत्मा में राग द्वेप का अभाव होता है और रागद्वेप के अभाव से कर्म का वन्ध नहीं होता
किन्तु संवर और निर्जरा होती है।

जो तपो भावना से रहित है, उसमे क्या दोप उत्पन्न होता है इसे दिखाते हैं।

पुव्वमकारिदजोग्गो समाधिकामो तहा मरणकाले।
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥ १६१ ॥
जोग्गमकारिज्जंतो अस्सो दुहभाविदो चिरंकालं।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्जं ॥ १६२ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—समाधिमरण करने के अभिलाषी जिस मनुष्य ने पहले क्षुधा तृषादि परीषह सहन करने का अभ्यास नहीं किया है वह
आहारादि का लम्पटी मरण समय में क्षुधादि की परिषहों को सहन करने में असमर्थ होता है। उसका चित्त विषयों से पराङ्मुख
(विरक्त) नहीं होसकता है। जिस घोड़े को पहले शब्दों का संकेत नहीं सिखाया गया है, उछलने, कूदने, घूमने आदि चालों की शिक्षा नहीं
दी गई है, जो चिरकाल तक सुख से पाला गया है, जिसने शीत घाम आदि की बाधा को नहीं सहा है, वह घोडा रणाङ्गण में किसी भी
प्रकार उपयुक्त नहीं होता। वह युद्धस्थल से या तो भाग जाता है, या अपने और अपने स्वामी (अश्वारोही) योद्धा के भी प्राण खोदेता है।
वैसे ही जिस साधु ने अनशनादि तप करके इन्द्रियों को वश में करने की शक्ति नहीं प्राप्त की है वह मरण समय में क्षुधादि परीषह को सहने

में ममता नहीं रखता है। उसका मन आहारादि विषयों में आसक्त रहता है, अतः वह समाधि (रागद्वेष के अभाव) को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः मुनि को चाहिए कि वह चारित्र का सार जो समाधिमरण है उसको प्राप्त करने के लिए तपस्या का अभ्यास करता रहे। वह अभ्यास उसको अन्त समय में महान् सहायक सिद्ध होगा।

(२) श्रुतभावना—आगम का अभ्यास करने से वस्तु के स्वरूप का प्रतिभास होता है, जीव और अजीव का भेद-विज्ञान होता है। भेद-विज्ञान होने से सम्यग्दर्शन (शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव) होता है। आगम के अभ्यास से चारित्र का महत्त्व प्रतीत होता है और उसमें प्रवृत्ति होती है, साम्यभाव की प्राप्ति होती है, कर्म की निर्जरा के साधनभूत तपश्चरण में अनुराग उत्पन्न होता है और संयम की ओर आत्मा का परिणमन होता है।

शंका—आगम के अभ्यास से तो आत्मा में ज्ञान की वृद्धि होती है, उससे सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, संयम की प्राप्ति कैसे हो सकती है? जैसे क्रोध का सेवन करने वाला क्रोधी बन जाता है, मायावी नहीं बनता। इसी प्रकार ज्ञान का सेवन करने वाला ज्ञानी हो सकता है किन्तु सम्यग्दृष्टि, तपस्वी और संयमी नहीं हो सकता है। आपने आगम के अभ्यास से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है, ऐसा कैसे कहा है?

समाधान—जो वस्तु जिसके बिना नहीं होती है और उसके होने पर ही होती है वह उससे उत्पन्न हुई कही जाती है। जैसे जो कृतक (किसी से उत्पन्न हुआ) होता है वह अनित्य होता है। ऐसी व्याप्ति है। उसी प्रकार जिसको आगम का ज्ञान है उसी के सम्यग्दर्शन, तप और संयम होते हैं। जिसको आगम का ज्ञान नहीं है उसके सम्यग्दर्शन, तप और संयम नहीं हो सकते हैं। ऐसा कहने में कोई दोष नहीं आता है।

शंका—आगम के ज्ञान से सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न हो सकता है किन्तु तप, संयम उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि हो तो असंयत सम्यग्दृष्टि के भी संयम, तप आदि मानने पड़ेंगे और यदि उसके संयम तथा तप आदि मान लिया जाय तो उसको असंयत कैसे कहा जावेगा? इसलिए मानना पड़ेगा कि असंयत सम्यग्दृष्टि के संयम व तप नहीं हैं। तो फिर आगमज्ञान के अभ्यास से तप संयम की उत्पत्ति का उपर्युक्त कथन असत्य सिद्ध हुआ।

समाधान—जिनागम के अभ्यास से तप संयमादि उत्पन्न होते हैं इस कथन का आशय यह है कि यदि तप और संयम होंगे तो आगम के ज्ञाता के ही हो सकते हैं। आगम के ज्ञान बिना तप संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ऐसी व्याप्ति समझनी चाहिए। आगम के ज्ञाता के अवश्य तप संयम होते हैं, ऐसी व्याप्ति नहीं बताई है।

आशय यह है कि जिसको सम्यग्दर्शन की तथा तप और संयम की प्राप्ति करना है, उसे आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। आगम के ज्ञान से काललब्धि आदि का योग मिलने पर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है और निरन्तर आगम का अनुशीलन करने से तप व सयम मे आदर भाव उत्पन्न होता है उससे कर्मों की निर्जरा होती है। चारित्र मोहनीय के तीव्र कर्म (अप्रत्याख्यानादि) की निर्जरा होने पर तप व संयम की प्राप्ति होती है, अर्थात चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम सहित आगम ज्ञान से ही तप संयम होते हैं।

जो ज्ञानी है, आगम का मर्म समझने वाला है, उसका नित्य अभ्यास करने वाला है, वह क्षुधादि पीड़ाओं के उपस्थित होने पर भी मार्ग से विचलित नहीं होता है। आगम के निरन्तर अभ्यास से उसकी बुद्धि निर्मल रहती है। उस का ज्ञान ऊहापोह के सामर्थ्य से युक्त होता है। ऊहापोह के अभ्यास से उसका जिनागम के विषय मे संस्कार एवं स्मृति-ज्ञान दृढ़ होता है, और वह संकट के समय भी बना रहता है। जितनी मनुष्य की प्रवृत्तिया होती हैं वे सब संस्कार के आश्रित होती हैं, अतः तप सयम की प्रवृत्ति में भी आगम का संस्कार उपयोगी होता है। इस प्रकार ज्ञान के सामर्थ्य का वर्णन किया।

(३) सत्व (अभीरुत्व) भावना—जिम मनुष्य में आत्मबल है, वह भयानक उपद्रवों के उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होता है। उसको चलायमान करने का सामर्थ्य देवों में भी नहीं होता, औरों की कौन कहे ? आगम में कहा है:—

देवेहिं भेसिदो विहु कयावराओ भीमरूवेहिं।
तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥ १९६ ॥
बहुसो वि जुद्धभावणाए ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि।
तह सत्तभावणाए ण मुज्झदि मुणी वि वोसग्गे ॥ १९७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सत्वभावना (निर्भयता) का अभ्यास जिस साधुने किया है वह व्याघ्र, सिंह, सर्पादि रूपों को धारण करने वाले देवों से सताया गया, भयभीत किया गया भी सामने आये हुए सब कष्टो का आलिंगन करता हुआ संयम के समस्त भार को धारण करता रहता है। वह समझता है कि यह उपसर्ग मेरा प्राण-हरण कर सकते हैं, किन्तु उन प्राणों से मेरे आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, मैं तो अजर अमर हूँ, शरीर ही का तो नाश होता है और यह तो कर्म जन्य है। मेरा धन तो रत्नत्रय है। यदि मैंने इन उपद्रवों से भयभीत होकर संयम का परित्याग कर दिया तो फिर कर्म-शत्रुओं का नाश करना अशक्य हो जावेगा। कर्मों का विनाश न होने से आत्मा को समय २ पर महती पीड़ाएँ भोगनी पड़ेंगी। अतः भय सब अनर्थों का मूल कारण है। ऐसा निश्चय कर भय से विचलित नहीं होता है। जिस वीर योद्धा ने अनेक

संग्रामों का अनुभव किया है वह रणभूमि में जाकर भयभीत नहीं होता, किन्तु उत्साह पूर्वक अपनी रणकुशलता को दिखाने के लिए उद्यत होता है। वैसे ही जिस साधु ने निर्भीकता का अभ्यास किया है वह भयानक उपद्रवों के उपस्थित होने पर भी अपने संयम से विचलित नहीं होता है, बल्कि अपने को संबोधित करते हुए यों कहता है कि हे आत्मन्! तुमने संसार के दुःखों से भयभीत होकर उन दुःखों का समूलनाश करने के लिए यह वीर-भेष धारण किया है। अनादि काल से दुःख देने वाले मोहादि शत्रुओं को तुमने पहचान लिया है और उनका मूलोच्छेद करने के लिए संयम-शस्त्र हाथ में लिया है। वे मोहादि शत्रु तुमको अनेक प्रकार से धोखा देकर तुम्हारे हाथ से संयम-शस्त्र छीनना चाहते हैं। रणकुशल योद्धा शत्रु की चालबाजियों में नहीं आता है। वह सदा सावधान रहता है। इसी प्रकार तुमको भी सदा चौकन्ना रहना चाहिए। ये अनेक प्रकार के भय संयम को लूटने वाले मोहनीय कर्म के सुभट हैं। इनसे सचेत रहो। यह तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ करने में समर्थ नहीं हैं। तुम चिदानन्द चैतन्य स्वरूप हो। तुम्हारा धन रत्नत्रय है। उसका नाश करने की शक्ति किसी में भी नहीं है। सिंह, व्याघ्र, सर्पादि जितने भी भयानक पदार्थ हैं, वे इस पुद्गलमय शरी का विनाश कर सकते हैं। पर यह शरीर तुम्हारा नहीं है। अतः इन आगन्तुक भयानक उपद्रवों से यदि भयभीत होकर विचलित होगये तो तुम्हारा रत्नत्रय धर्म नष्ट हो जावेगा। फिर इसका पाना अति दुष्कर है।

हे आत्मन्! थोड़ा विचार कर। तूने पृथिवी शरीर धारण किया, उस समय खोदन, जलाने, हल के द्वारा विदीर्ण करने, कूटने, फोड़ने, पीसने, चूर्ण करने आदि की भयंकर बाधाएँ तूने सही हैं।

जब तूने जल-प र्याय धारण की तब प्रखर सूर्य की किरणों से तथा दहकती हुई अग्नि की ज्वालाओं से तेरा शरीर अत्यन्त जलता रहा। पर्वत के दरारों, गुफाओ और शिखरों से अतिवेग से नीचे शिलाओं पर गिरने से महा दुःख का अनुभव तुझे हुआ था। लवण, क्षार और खट्टे पदार्थों के साथ तेरा संयोग किया गया था, उस समय भयानक वेदना तैने सही थी। धगधगायमान अग्नि के ऊपर डालने से तुझे अतिशय दुःख भोगना पड़ा था। वृक्षों पर गिरकर नीचे कठिन भूमि पर गिरने से, तैरते हुए मनुष्य आदि प्राणियों के पात्रों और हाथों के आघातों से, विशाल वक्षस्थल की चोट से, विशालकाय हाथी मगर मच्छादि जीवों के उछलने कूदने तैरने, सूंड से जलको मथने आदि क्रियाओं से तेरे शरीर का मर्दन व विनाश किया गया उस समय के दुःखों का वर्णन वचनागोचर है। ऐसे दुख भी तूने अनेक बार सहे हैं।

जल पर्याय को छोड़ कर जब तूने वायुरूप शरीर धारण किया तब पहाड़ों, वृक्षों, कटीली झाड़ियों से टकराकर तथा अग्नि के संयोग से जल कर पंखे आदि के आघात से, प्राणियों के कठिन शरीर के आघात से, शरीर की गर्मी के स्पर्श से, जलते हुए बन की ऊंची ज्वालाओं तथा सदा काल समान अग्नि को उगलने वाले ज्वाली मुखी पर्वतो मे गिरने से तूने रोमांचकारी दुःखों को अनन्त बार सहन किया है।

जब वायु के शरीर को छोड़कर तू अग्नि के शरीर में गया अर्थात् अग्नि रूप शरीर धारण किया तब अनेक प्रकार की धूल से,

भग्म से, गाल्हेन मे तेरा शरीर नष्ट किया गया। जूतों से रौंदा गया। मूसल समान जलधारा डालकर तेरा नाश किया। काष्ट पत्थर आदि मे टोकर तेरा चूर्ण किया गया। मिट्टी के ढेलों और पत्थरों के नीचे दबाकर तेरा कचूमर निकाला गया। वायु के प्रबल धक्के खाकर तू दुःख मे विह्वल होकर प्राणरहित हुआ।

जब अग्नि के शरीर को छोड़कर तूने वनस्पति का शरीर धारण किया तब तू कभी फल हुआ, कभी पुष्प हुआ, कभी पत्र या कोमल अंकुर रूप शरीर धारण किया। उस समय तुझे मनुष्यो ने एवं पशु-पक्षियों ने तोडा, छिन्नभिन्न किया, खाया, मर्दन किया, दांतो से कुतर कुतर कर तेरे टुकडे २ किये गये। चाकू दातली आदि से छेदन भेदन किया। शिलाओं पर नमक मिर्च मसाला मिलाकर तुझे पीसा। अग्निपर भूजा। कढाही म घी तैल मे तला गया। छोटे पौधे वेल लतादि अवस्था मे जड से उखाड़ा गया। मध्य भाग छेदन कर अन्यत्र रोपा गया। पशुओं और मनुष्यो के पावो से रौंदा गया। अग्नि से जलाया गया। जल के प्रवाह मे बह गया या बहाया गया। वनदाह से भस्म हुआ। अति-शीत मे जल गया। इत्यादि वचनातीत दुःखो का सहन कर अनन्त बार मरण किया।

जब तू स्थावर पर्याय से दो इन्द्रिय आदि त्रस पर्याय मे आया, तब तूने कुंथुआ, केचुआ, दीमक, कीड़े, मकोड़े आदि विकल-त्रय का शरीर धारण किया। तब अति वेग से चलने वाले रथ गाडी आदि वाहनों के नीचे दबकर तथा गधे घोडे बैल आदि पशुओं के कठिन खुरों की चोट से, जलके वेगवान प्रवाह से, वन की अग्नि से, वृक्ष पत्थर आदि के शरीर पर गिरने से, मनुष्यो के पैरो द्वारा कुचलने से, विरोधी प्राणियों के द्वारा खाये जाने से अत्यन्त दुःख पूर्वक प्राणों का विसर्जन किया।

जब विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय) शरीर को छोड़कर गधा, घोड़ा, ऊंट, बैल, आदि पंचेन्द्रिय पशु का जन्म धारण किया तब मनुष्यों ने तुझ पर शक्ति से अधिक बोझ लादा और स्वय सवार होकर तुझे भारी क्लेश दिया। जब भार से दबा हुआ तू चल न सका अथवा धीरे २ चलने लगा तब मारे डडो के तुझे वेहाल कर दिया। चाबुकों की चोट से तथा लकड़ी में लगी हुई लोहे की तीखी कीलों मे तेरे शरीर को लोहू लुहान कर दिया। तुझ को समय पर घास पानी नहीं दिया। तेरी नाक को छेदकर नाक मे नकेल डाल दी गई। गर्दन मे रस्सी बांध कर खूटे पर बांध दिया। या मकान में बन्द कर दिया। शीत की और घाम की अत्यन्त शीतल वायु और ज्येष्ठ मास की अग्नि समान गर्म लू की भयानक वेदना के साथ भूख और प्यास की पीड़ा से तुझे बहुत दुःख हुआ। नाक कान छेदना, शरीर को गर्म लोहे से दागना, विदारण करना, कसाई आदि मांस भक्षी नर पिशाचों के द्वारा कुल्हाडी तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से काटे जाना, जीते जी यंत्र पर चढाकर चमडा उखेडना आदि रोमांचकारी क्रियाओं से तूने महान् यातनाएँ सही हैं।

गाड़ी रथ आदि से जुतकर जब तू चाबुक आदि की मार के भय से बड़े जोर से दौड रहा था तब अचानक खड्डे आदि मे गिरकर पाँव टूट गया, या बीमारी के कारण तेरा शरीर क्षीण हो गया अथवा हल गाड़ी आदि मे अधिक जोतने और खाने को पूरा न देने से काम करने लायक न रहा, लाठी चाबुक आरा आदि की चोट से पीठ आदि में जखम होकर कीड़े पड़ गये और तेरे स्वामियों ने तुझे घर से निकाल कर जंगल मे छोड़ दिया, वहा चारा, घास, पानी न मिलने के कारण अशक्त होगया और कौवे, चील, गिद्ध आदि पक्षी तुझे नोच नोच कर खाने लगे। जंगली क्रूर प्राणी कुत्ते स्याल आदि तेरा शरीर कुतर २ कर भक्षण करने लगे, उस समय उस दुःखको निवारण करने का कोई उपाय नहीं था। तू भागकर एक कदम भी चल नहीं सकता था। उस असह्य दुःख से तेरी आँखों से आसुओं की अखंड धारा बहती थी, पर कोई दयादिखलाने वाला न था। वह कितना भीषण अवसर था।

फिर जब दुष्कर्मों का उपशम हुआ तब तुझे दुलभ मनुष्य जन्म मिला। उसमे भी इन्द्रिय विकल, दारिद्र्य के दुःख से पीड़ित अथवा असाध्य रोग से रुग्ण हुआ। उस समय भी महा दुःखी रहा। उस समय जिसको तू प्रिय समझता था और जिसकी प्राप्ति के लिए छटपटाता था उस पदार्थ की प्राप्ति नहीं हुई, किन्तु उससे विपरीत अप्रिय दुःख देने वाले अनिष्ट पदार्थों का सयोग मिला। दूसरों की सेवावृत्ति करनी पडी। रात दिन सेवा में लगे रहना पडा तो भी खाने पीने को भी पूरा न मिल सका। शरीर ढंकने को उचितवस्त्र भी न मिला। शत्रुओं के तिरस्कार को सहना पडा। रातदिन परिश्रम करने पर भी जीविका की चिन्ता लगी रही। जीविका के लिए महा पाप किये, नहीं करने योग्य काम किये, किन्तु कहीं पर सफलता नहीं मिली। रातदिन पशु समान दुष्कर कार्यों में जुटा रहा। लेकिन वहां पर सुख के स्थान मे भयानक दुःखों का सामना करना पडा।

इसके बाद कुछ शुभकर्म के उदय से तूने देवों मे जन्म लिया, किन्तु नीच जाति का देव हुआ। तब "यहां से अलग हो, दूर हटो, यहां से शीघ्र चले आओ, प्रभु के आने का समय होगया है, उनके प्रस्थान की सूचना करने वाला नगारा बजाओ, अरे! यह ध्वजा हाथ मे लेकर सीधा खड़ा हो, अरेदीन इन देवियों की सेवा टहल कर, यहां ठहर, स्वामी की इच्छा के अनुकूल वाहन बनकर उनकी सेवाकर। क्या तू भूल गया कि तू विपुलपुण्यधन के स्वामी इन्द्रमहाराज का दास है जो इस तरह चुपचाप खड़ा है, आगे आगे क्यों नहीं दौड़ता है ?" इस प्रकार अधिकारी देवों के कठोर असुहावने वचन सुनकर तू अनेक बार खेद खिन्न हुआ है। इन्द्र की अप्सराओं के अनुपम रूप लावण्य हाव भाव देखकर हाय ऐसी देवांगनाएँ मुझे कब मिलेगी ? ऐसी अभिलाषा तेरे मनमें उत्पन्न होकर दरिद्र के मनोरथ के समान सब निष्फल होने के कारण जो दुःख तुझे हुआ है, वह शब्द से नहीं कहा जा सकता। मृत्युकाल के छहमासपूर्व माला के मुर्झाने से मृत्युकाल निकट आया हुआ जानकर तूने स्वर्ग के दिव्य वैभव के वियोग जन्य महान दुःख को सहा है।

जब तू कर्मयोग से नारकी हुआ उस समय जो क्षेत्रादि जन्य दुःख तूने भोगे हैं, उनका स्मरण मात्र ही आत्मा को विह्वल

उत्पन्न होती है। उसका रस हलाहलविष से भी घना देता है। वहा की पृथ्वी का रूप महाभयानक है, जिसको देखने से मनमे घबराहट उत्पन्न होती है। उसकी दुर्गन्ध इतनी बुरी है कि सातवीं पृथ्वी की मिट्टी का परमाणु यदि यहां कोई देव ले आये तो उसकी दुर्गन्ध से उनचास मील के दूर तक के पंचेन्द्रिय जीव मरण को प्राप्त हो जावें। वहा की पृथ्वी के स्पर्श करने से उत्पन्न हुआ दुःख हजारों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने से होने वाले दुःख से कहीं अधिक होता है।

वहां पर नारकी परस्पर तलवार छुरी आदि शस्त्रों से एक दूसरे पर वार करते हैं, छेदते हैं। करोत से चीरते हैं। भाड मे भूंजते और उबलते हुए कडाही के तेल मे तलते हैं। शूलोपर चढ़ाते हैं। घनो से कूटकर कचूमर निकालते हैं। घाणी में पेलते हैं। चक्की में पीस डालते हैं। अग्नि मे झोंक देते हैं। शरीर के अणु प्रमाण टुकडे कर देते हैं। गिद्ध, व्याघ्र, सिंहा स्यालादि विक्रिया के धारक नारक नोच २ शरीर को खाते हैं। इत्यादि अनेक वचनातीत दुःख नरक मे सागरो पर्यन्त तूने भोगे हैं।

इन पहले भोगे हुए दुःखों के सामने यह क्षुधा तृषा रोग व्याधि जन्य पीड़ा तथा उपसर्ग जन्य दुःख कुछ भी नहीं हैं। उपर्युक्त दुःख अनन्त वार तू भोग चुका है। अब इस लेशमात्र दुःख के सहने मे क्यों कायरता धारण करता है। यदि तू कायरता धारण करेगा तो भी उपसर्ग रोगादि जन्य दुःख तो तुझको भोगना ही पड़ेगा और आर्त्त व रौद्र परिणामों के कारण महान अशुभ कर्मों का बन्ध करेगा। और जब उनका उदय आवेगा तब नरकादि मे असह्य दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिए कायरता का परित्याग कर तूने वीर भेष धारण किया है; इसलिए वीरता पूर्वक आगत दुःखों को सहले। रणागण मे प्रविष्ट हुआ वीर शत्रु के आघातों से नहीं डरता है। तू ने भी कर्म-शत्रुओं से युद्ध करने के लिए इस वीर भेष को धारण किया है। यदि तू वीरता पूर्वक इन कर्म-शत्रु के द्वारा दिये गये उपद्रवों का सामना करता रहेगा तो ये स्वयं परास्त हो जावेंगे और सदा के लिए तेरे दास बन जावेंगे। फिर ये कभी तेरी तरफ झांक भी न सकेंगे। यह सब उपद्रव इस शरीर का बिगाड़ कर सकते हैं। शरीर तो तेरा शत्रु है। तुझे शिव सुख से वंचित रखने वाला है। अब अच्छा अवसर आया है, तू शान्ति धारण कर। यदि तूने शान्ति धारण करली, रागद्वेषादि भाव उत्पन्न न किये तो यह शत्रुभुतशरीर समूल नष्ट हो जायेगा और फिर कभी तेरे साथ इसका संयोग न होगा। अत एव निर्भय होकर उपसर्गादि का शान्ति से सहन करने के लिए मनको सुदृढ़ बनाले। मन को उपसर्गों आदि से विचलित मत होने दे। अपने मनको मेरु के समान अडोल और अकम्प बनाले।

इस प्रकार सत्व भावना का आश्रय लेने वाला साधु मोह युक्त नहीं होता। जैसे बहुत बार युद्ध का अभ्यासी वीर पुरुष युद्ध में कायरता धारण नहीं करता है। इसी भाव को दृढ़ करने के लिए चौथी एकत्व भावना को कहते हैं।

एकत्वभावना

एयत्त भावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा ।
सज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥ २०० ॥ (भग० आ०)

अर्थ—मैं अकेला हूं। मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी का हूँ-इस प्रकार शरीरादिक अन्य द्रव्यों का चिन्तन करना एकत्व भावना है। इसका अभ्यास करने से आत्मा इन्द्रिय-सुखो के भोगने में आसक्त नहीं होता है। शिष्यादि वर्ग में तथा शरीर में प्रीति नहीं करता है। एकत्व भावना का पुनः पुनः मनन चिन्तन करते रहने से सब पदार्थों से राग भाव की निवृत्ति और वैराग्य भाव की परिणति होती है तथा चारित्र धर्म की आराधना होती है। एकत्व भावना के लिए इस प्रकार विचार करना चाहिए:-हे आत्मन् ! तू अनन्त काल से जन्म-जरा-मरण के दुःखो का अनुभव कर रहा है। क्या तेरे दुःखो को किसी ने बाटा है ? अकेले ही तूने जन्म मरणादि के दुःख भोगे हैं। जो दुःखों को दूर करने में सहायक होता है उसे लोग स्वजन समझते हैं और जो दुःख के समय सहायता नहीं करता है उसे परजन मानते हैं। स्वजन में प्रीति और परजन मे अप्रीति करने लगते हैं। लेकिन यह कल्पना मिथ्या है। वास्तव में सुख की उत्पत्ति और दुःख का निवारण सातावेदनीय कर्म के उदय से होती है और दुःखका उत्पन्न करने वाला असाता वेदनीय कर्म का उदय है। यदि तेरे असातावेदनीय कर्म का उदय है और सातावेदनीयकर्म का उदय नहीं है तो संसार मे तुझे सुखी बनाने मे कोई समर्थ नहीं हो सकता है। जिन्हें तू स्वजन समझ रहा है, वे दुःख के निमित्त बन जाते हैं। और जब सातावेदनीय कर्म का उदय अथवा असातावेदनीय का उदय नहीं होता है उस समय जिनको तू परजन समझ रहा है, वे भी दुःख उत्पन्न करने मे समर्थ न होकर कभी २ सुख उत्पन्न करने वाले बन जाते हैं। इसलिए थोडा ज्ञान-दृष्टि से विचार कर देख। जिनको तू स्वजन समझ कर राग करता है और परजन समझकर द्वेष करता है यह तेरा भ्रान्त-ज्ञान है (मिथ्या ज्ञान) है। और इसी मिथ्या-ज्ञान द्वारा यह जीव अनन्तकाल से दुःखी हो रहा है। अतः अब तुझको सम्यग्ज्ञान धारण कर विचारना चाहिए कि मैं अकेला ही जन्म मरण के दुःखों का कर्त्ता और भोक्ता हूं। मैंने शरीरादि को अपना समझकर मोह भाव से कर्मों का बन्ध किया है और उनका उदय होने पर दुःखादि मैंने अकेले ही भोगे हैं। वास्तव में शरीरादि से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा चिन्तन करते रहना ही एकत्व भावना है।

इस एकत्व भावना के अभ्यास करने से मनुष्य कामभोग मे, शिष्यादिसमुदाय मे, शरीर में और सुख में आसक्त नहीं होता। स्वेच्छा से जिन पदार्थों का उपभोग किया जाता है, उनको कामभोग कहते है। लोग स्त्री आदि पदार्थों को सुख के साधन मान लेते हैं। परन्तु एकत्व भावना का अभ्यासी इनमे राग नहीं करता है। अज्ञानी मनुष्य बाह्य पदार्थों का संयोग होने पर मन में सुख की कल्पना करता है। परन्तु बाह्य पदार्थों से उत्तरोत्तर लोभ की वृद्धि होती है, असंतोष बढता जाता है, मन में व्याकुलता उत्पन्न होती है, इसलिए इनका परित्याग करने से ही निराकुलता व सन्तोष सुख बढता है।

यह शरीर भी तेरा कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि यह कर्म से उत्पन्न हुआ है और शुभाशुभ कर्म के उदय के अनुसार सुख दुःख मे निमित्त होता है। यह तो बेचारा अकिंचित्कर है। अज्ञानी आत्मा बाह्य जीव व अजीव पदार्थों मे 'यह मेरा उपकार करने वाला अथवा यह अनुपकार करनें वाला है' ऐसा मिथ्या संकल्प करके उनमे राग द्वेष करता है और रागद्वेष के कारण कर्मों के जाल मे फंसकर घोर संसार-भ्रमण के दुःखों को भोगता है। इसलिए हे आत्मन्! इन बाह्य पदार्थों में जो राग द्वेप बुद्धि हो रही है, उसे दूर हटाओ। तुम्हारे साथ इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारी जाति चैतन्य है और ये अचेतन स्वरूप हैं। जो शिष्यादि चेतन पदार्थ हैं, उनका सम्बन्ध इस शरीर से है। तुम शुद्ध आत्म-स्वरूप हो, इसलिए इन शरीर धारक अशुद्ध आत्माओ से तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार विचार करो। इनसे वैराग्य भाव उत्पन्न करने के लिए तथा उसकी वृद्धि करने के लिए इस (एकत्व) भावना का निरन्तर अभ्यास करो। इसका अभ्यास करने से बाह्य पदार्थों से विरक्ति और आत्म-गुणो से अनुरक्ति होती है। इसमे आत्मा मे स्थिरता उत्पन्न होती है और आत्मा में स्थिर रहने को ही चारित्र कहते हैं। यह चारित्र ही सम्पूर्ण कर्मों का मूलोच्छेद करनेवाला है। अतः यदि तुमको मोक्ष महल के प्रधान सोपान पर दृढ़ता से पांव रखना है तो उसका मुख्य कारण एकत्व भावना है। यह अज्ञान व मोह का त्याग करवाकर शिव सुख को देनेवाली है और कल्याण के इच्छुक मुनियों को परमाधारी है। अतः इसका निरन्तर अभ्यास करते रहो।

पाँचवीं धृतिबल भावना—

धिदिधणिदबद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमव्वहिओ।
धिदिभावणाए सूरो संपुण्णमणोरहो होइ ॥ २०३ ॥ (भग० आ०)

अर्थ— जिसने धैर्य से कमर बांधली है, उस साधु के चित्त मे क्षोभ उत्पन्न नहीं होता है और वह परीषह और उपसर्गों की सेना से निर्बाध हुआ उसके साथ युद्ध करता है और धृति भावना के बल से उसका घात करता है।

भावार्थ—जो साधु साहस बल से युक्त है, जिसके हृदय मे धीरता है वह कठिन से कठिन परीषह और देव, मनुष्य, तिर्यंचादि कृत उपसर्गों से चंचलचित्त नहीं होता है। उनके मन-सुमेरु को उग्र से उग्र क्षुधादि परीषह, दुष्ट देवो द्वारा दीगई विभीषिका मनुष्यों के शस्त्र-प्रहार तथा सिंहादि हिंसक प्राणियों के द्वारा दीगई बाधाएँ चलायमान नहीं करसकती हैं। चित्त मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले कारणों के उपस्थित होने पर जिसका चित्त निर्विकार एवं क्षोभ रहित होता है उसे ही धैर्यशाली माना है। कहा है कि—

"विकार हेतौ मति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

अर्थात् विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिसके मन मे विकार उत्पन्न नहीं होता वही धीर वीर कहलाता है। धीरता ही सर्व सिद्धियों की जननी है।

हे आत्मन् ! इस धैर्यबल के प्रभाव से ही अत्यन्त कोमलाङ्ग सरसों भी जिनको काँटे समान चुभती थी, ऐसे सुकुमाल मुनिराज बच्चों सहित स्यालनी द्वारा नोच नोंचकर खाये जाने पर भी टस से मस नहीं हुए, उनके रोम तक में विकार नहीं हुआ। पांचो पांडवों को अग्नि से संतप्त लोहे के आभूषण पहनाये गये, गज कुमार मुनि के मस्तक पर अंगीठी जलाई गई, परन्तु उनके चित्त में रंचमात्र क्षोभ नहीं हुआ। वे अपने आत्महित में लगे रहे। यह सब धैर्य का माहात्म्य है। इसलिए तुम भी यदि आत्मकल्याण की कामना रखते हो, अपने कार्य की निर्विघ्न सिद्धि चाहते हो तथा परम्परा सुख की अभिलाषा रखते हो तो धैर्य धारण करो। धीर वीर पुरुष के सामने शस्त्र पुष्पहार के समान, और विष अमृत समान हो जाता है। असातावेदनीय कर्म से उत्पन्न हुई रोगादि वेदना भी उनके चित को दुःखी नहीं बना सकती है। अज्ञानी व मोही जीव धैर्यहीन होकर अल्प कष्ट को महान् कष्ट और न्यूनतम रोगादि पीडा को महती पीडा समझकर रोता और विलाप करता है और धैर्यका धारक वीर पुरुष उसकी परवाह न कर अधीरता का परित्याग कर शान्ति का अनुभव करता है। वह सोचता है कि मैंने नरकादि दुर्गतियों मे असहाय होकर महान् हृदय विदारक दुःखो को सहा है। यह दुःख क्या है ? इस समय तो मेरे आचार्य परिचारक साधु आदि अनेक सहायक हैं। मुझे सन्मार्ग का उपदेश देने वाले हैं। मेरे कल्याण की कामना रखकर मुझे कुमार्ग से निवृत्त कर रहे हैं। यदि इस समय भी धैर्य हीन हुआ तो मेरे समान अज्ञानी और कायर कौन होगा ! अतः इस सुयोग्य अवसर पर मुझे धैर्य का अवलम्बन लेकर शरीर से ममता हटाकर आत्महित के कार्य से विचलित नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार पांच भावनाओं का संक्षेप से वर्णन किया है। इन भावनाओं का संस्कार जिसके अन्तः करण मे अङ्कित होगया है, वह साधु सल्लेखना का आराधन सुगमता से करता है। भावना का अभ्यासी साधु बारह प्रकार के तपश्चरण द्वारा सल्लेखना का प्रारम्भ करता है।

सल्लेखना के भेद

सल्लेखना य दुविहा अब्भतरिया य बाहिरा चेव।

अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे ॥ २०६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सल्लेखना के दो भेद हैं। १ आभ्यन्तर सल्लेखना और २ बाह्यसल्लेखना। क्रोधादि कषायों को कृश करने (घटाने) को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं और तपस्या द्वारा काय के कृश करने को बाह्यसल्लेखना कहते हैं।

भावार्थ—क्रोधादिभावों को मन्द करने के लिए दृढ़ प्रयत्न करना तथा अनशनादि तपश्चरण द्वारा शरीर व इन्द्रियों के दर्प को क्षीण करना सल्लेखना है। सल्लेखना आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार की होती है। आत्मा के कर्मजन्य वैभाविक भावों को क्षीण करना, अर्थात् क्रोधादि कषाय के तीव्र उदय होते हुए भी ज्ञान व भावना के बल से आत्मा मे रागद्वेषादि रूप अथवा क्रोधादि रूप परिणति को न होने देना आभ्यन्तर सल्लेखना है।

इसका आशय यह है कि तीव्र कषाय के उदय होने पर आत्मा क्रोधादि के वश हो जाता है, उसकी ज्ञान-शक्ति उस समय अनुपयोगी सिद्ध होती है, किन्तु जिस साधु ने ऊपर लिखे अनुसार अपने आत्मा को धैर्यादि गुणों से अलंकृत एवं श्रुत भावना तथा एकत्वादि भावना से संस्कृत कर लिया है, वह विपरीत संयोगो के मिलने पर भी क्रोधादि कषायों का दमन करने का पूर्ण प्रयत्न करता है और वह ज्ञान तथा भावना के बल से कषायों को कम करने मे कृतकार्य होता है। इसी को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। ज्यों २ कषाय निग्रह करने का बल आत्मा में वृद्धिगत होता जाता है त्यो २ उसके आत्मा में क्रोधादि भावों की मंदता होती चली जाती है। क्रोधादि को मंद करने का जो उद्योग है उसीको आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

कषाय की मन्दता करने मे प्रवृत्त हुआ आत्मा तब तक पूर्णरूप से सफल नहीं होता है, जब तक इन्द्रिय और शरीर को अपने वश में नहीं कर लेता है। अतः उनपर अपना पूरी तरह काबु करने के लिए उनके बल को क्षीण करना आवश्यक होता है। क्योंकि क्रोधादि कषायों का प्रादुर्भाव शरीर और विषयों के मोह से उत्पन्न होता है। अतः आभ्यन्तर सल्लेखना की प्राप्ति करने के लिए शरीर और इन्द्रिय से मोह का त्यागकर इनको कृश करना उचित है। नियमानुसार शरीर इन्द्रिय के बल को क्षीण करने के प्रयत्न को सल्लेखना कहते हैं। शास्त्र में कहा है:—

मव्वे रसे पणीदे णिज्जूहित्ता दुपत्तलुक्खेण।
अण्णदरेणुवधाणेण मल्लिहइ य अप्पयं कममो ॥ २०७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—इन्द्रियों के बल की वृद्धि करनेवाले पौष्टिक आहार का परित्याग कर अवग्रह (आखडो नियम) द्वारा रुक्ष आहार ग्रहण करता हुआ साधक अपने शरीर को कृश करता है।

भावार्थ—सल्लेखना का आराधक साधु सब पदार्थों का त्यागकरके अपने शरीर से भी मोहरहित हुआ इन्द्रिय और शरीर के दर्प को दूर करने के लिए पुष्टिकारक जितने भी आहार हैं, उनका त्याग करता है। रुक्ष आहार में भी अवग्रह करता है। अर्थात् अनशन अवमौदर्यादि तपश्चरण का आचरण करता हुआ रुक्ष आहार का भी नियमपूर्वक परित्याग करता है।

अनशन तप साधु कभी अनशन (उपवास) करता है। उस दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग कर अनशन व्रत ग्रहण करता है। इसको चतुर्थ कहते हैं। चतुर्थ चार बार भोजन त्याग को कहते हैं। एक बार धारणा के दिन का, एक बार पारणा के दिन का, दोबार उपवास के दिन का भोजन का त्याग इसमें होता है, अतः इसे चतुर्थ कहते हैं। षष्ठ बेले (दोदिन का उपवास) को, अष्टम तेले और दशम चौले को कहते हैं। इसी प्रकार आगे के उपवास में भी समझ लेना चाहिए।

अनशन तप के दो भेद हैं—१ काल की अवधि वाला अनशन तप औरयावज्जीव अनशन तप। शास्त्र में कहा है:—

अद्धासणं सव्वासणं दुविहं तु अणसणं भणियं।
विहरंतस्स य अद्धासणं इदरं य चरिमंते ॥ २०६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—अनशन तप के दो भेद हैं—१ अद्धानशन और २ सर्वानशन। दीक्षा ग्रहण करके साधु जब तक सन्न्यास ग्रहण नहीं करता है तबतक काल की मर्यादा से जो अनशन व्रत ग्रहण करता है अथवा व्रतों में लगे हुए दोषों के प्रतीकार के लिए जो अनशन किया जाता है उसे अद्धानशन कहते हैं। सन्न्यास के समय (समाधिमरण के अन्तिम अवसर में) जो यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसे सर्वानशन कहते हैं।

भावार्थ—अद्धा शब्द का अर्थ काल है, यहां पर चतुर्थ, षष्ठ आदि से लेकर छह मास पर्यन्त का काल अद्धा शब्द से लिया गया है। अर्थात चतुर्थ (एक उपवास) से लेकर छह मास तक के उपवास को अद्धानशन कहते हैं। अद्धानशन को मुनि दीक्षाधारण करने के समय से लेकर जब तक सन्न्यास ग्रहण नहीं करता है तब तक अपनी इच्छा एवं आवश्यकतानुसार व्रतादि में उत्पन्न हुए दोषों की निवृत्ति के प्रायश्चित रूप धारण करता है। इस प्रकार काल की मर्यादा पूर्वक धारण किये जाने वाले उपवास को अद्धानशन कहते हैं। सन्न्यास के समय चारों प्रकार के आहार का त्याग करना सर्वानशन तप कहलाता है।

अवमौदर्यतप—किसी समय मुनि अवमौदर्य तप करते हैं। जिसकी जितनी खुराक हो उस खुराक से कम भोजन करने को अवमौदर्य कहते हैं। पुरुषों का अधिक से अधिक भोजन (खुराक) बत्तीस ग्रास माना गया है और महिलाओं का भोजन अठाईस ग्रास कहा गया है। एक ग्रास एक हजार चॉवलों का माना गया है। अर्थात् एक हजार चाँवलों का जितना बडा पिंड होता है उतना बडा एक ग्रास का परिमाण होता है। उससे कम एक चॉवल के दाने तक के आहार को अवमौदर्य कहते हैं। यथा:—

"ग्रासोऽश्रावि सहस्रतंदुलमितो द्वात्रिंशदेतेऽशनम् ।
पुंसो वैस्रसिकं स्त्रिया विचतुरास्तद्धानिरौचित्यतः ॥
ग्रासं यावदथैकमिक्थमवमौदौर्यं तपस्तच्चरे—
द्धर्मावश्यकयोगधातुसमतानिद्राजयाद्याप्तये ॥" (भग० आ० टीका २११)

अर्थात्—प्राचीन शास्त्रों में ग्रास एक हजार चाँवल प्रमाण कहा गया है। पुरुषों के उक्त प्रमाण वाले ग्रास बत्तीस होसकते हैं और स्त्रियों के अठाईस अर्थात् पुरुष के लिए अधिक से अधिक बत्तीस ग्रास प्रमाण भोजन और स्त्रियों के अठाईस ग्रास प्रमाण भोजन होता है। इससे अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। साधु का यह अधिक से अधिक आहार है। इसका आशय यह है कि अपने आहार में से एक ग्रास दो ग्रास आदि की कमी करते हुए एक ग्रास या एक चांवल के आहार तक पहुच जाना अवमौदर्य तप होता है। आवश्यक क्रियाओं में प्रमादाभाव अर्थात उत्साह उत्पन्न होने के लिए, योग साधन के लिए, स्वास्थ्य सिद्धि के लिए वात पित्त कफ की विषमता को दूर करने के लिए और निद्रापर विजय प्राप्त करने के लिए साधु इस तप का आचरण करते हैं। यथाः—

निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ।
हृषीकनिर्जयः साधोरवमौदर्यतो गुणाः ॥ २ १ ॥ (संस्कृत० भग०)

रसपरित्याग—सल्लेखना का आराधक रस परित्याग नाम का तप भी करता है। दूध दही घृत तैल गुड इन सब रसों का अथवा इन में से कभी किसी रस का और कभी किसी रस का त्याग करता है। अथवा पुष्प पत्र शाक नमक दाल आदि के त्याग करने को भी रस-त्याग माना गया है।

सल्लेखना का आराधक साधु भोजन मे स्वाद की अपेक्षा नहीं रखता अपितु रूखा सूखा जैसा भोजन मिलजाता है वैसा ही करलेता है। शास्त्रों मे कहा है:—

अशनं नीरसं शुद्धं शुष्कमस्वादु शीतलम् ।
भुंजते समभावेन साधवो निर्जितेन्द्रियाः ॥ २१५ ॥ (संस्कृत० भग० आ०)

अर्थ—जिन्होंने इन्द्रियों को वश में कर लिया है ऐसे संयमी नीरस, रूखा, सूखा, स्वादहीन, ठंडा, लवण घृत दुग्धादि से रहित शुद्ध भात चना रोटी आदि अन्न का भोजन करते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यान तप—किसी समय सल्लेखना का आराधक वृत्तिपरिसंख्यान तप का आचरण करता है। अनेक प्रकारके अभिग्रह (आखडी नियम व प्रतिज्ञा) करने को वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं। वृत्तिपरिसंख्यान तप का सेवन करने वाला संयमी नियमी करता है कि आज मैं एक या दो मुहल्ला में भोजन के लिए जाऊंगा और वहां आहार मिलगया तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा आज मेरे भोजन का त्याग है। आज मैं एक पोल या गुवाडी में ही जाऊंगा और वहां आहार की विधि मिलेगी तो ठीक है अन्यथा आहार का त्याग है। आज मैं अमुक मुहल्ले मे जाऊंगा और उसके प्रारंभ के घर म आहार की योग्य विधि मिलेगी तो आहार ग्रहण करूंगा; अन्यथा आज आहार का त्याग है। एक बार भोजन जो परोसा जायगा वही लूंगा दुबारा परोसा हुआ भोजन ग्रहण न करूंगा। आज पडिगाहने में एक आदमी होगा या दो होंगे तो आहार करूंगा। आज मैं इतने ग्रास ही भोजन करूंगा। आज पिंडरूप (ग्रास रूप) जो भोजन होगा, उसीका ग्रहण करूंगा; रबडी दूध आदि द्रव पदार्थ का सेवन न करूंगा। आज द्रवरूप पदार्थ का ही ग्रहण करूंगा। आज उसी पदार्थ का योग मिलेगा तो भोजन लूंगा जो न तो केवल द्रवरूप होगा और न केवल पिंडरूप जैसे कढी आदि। आज चना चावला मसूर मूंग आदि धान्य अन्न का ही आहार लूंगा। आज मैं केवल जलमात्र पाऊंगा। अमुक वस्तु हाथ में लिए हुए पडिगाहेंगे तो आहार लूंगा अन्यथा आज मेरे आहार ग्रहण करने का त्याग है। आज शाक के साथ मूंग या कुलथ माठ भात आदि मिश्रित होंगे तो मैं आहार लूंगा अन्यथा आहार का त्याग है। थाली के मध्य मे भात रख कर उसके चारों ओर शाक रखी होगी तो आहार लूंगा। आज मध्य में अन्न रखा हो और उसके एक तरफ दाल शाक आदि रखे गये होंगे तो आहार लूंगा। चटनी आदि से संयुक्त भात रोटी आदि होगी तो आज आहार ग्रहण करूंगा। केवल शुद्ध जल से युक्त भात होगा तो आज ग्रहण करूंगा। हाथ मे चिपकने वाला कोई अन्न मिलेगा तो लूंगा। आज हाथ में नहीं चिपकने वाला अन्न मिलेगा तो लूंगा। आज घुले चांवल आदि का आहार लूंगा। अथवा बिना घुले खड़े चॉवल होंगे तो आहार ग्रहण करूंगा। इत्यादि अनेक प्रकार की प्रतिज्ञा लेकर साधु गोचरी को निकलते हैं। की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार विधिपूर्वक यदि आहार मिलता है तो ग्रहण करते हैं अन्यथा उस दिन अनशन करते हैं। इसको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं।

पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए।
इच्चेवमादिविधिणा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ॥ २२१॥ (भग० आ०)

अर्थ—सुवर्ण के पात्र में, चांदी के भाजन में, कांसे के बर्तन मे या मिट्टी के पात्र मे परोसागया भोजन ही आज ग्रहण करूंगा।

आज मैं स्त्री के हाथ मे ही आहार लूंगा। वह स्त्री बाल्यावस्था वाली होगी या वृद्धा होगी या अलंकार रहित होगी या ब्राह्मणी होगी या वैश्य वर्ण की होगी या राजपुत्री होगी तो उसके हाथ से आहार लूंगा अन्यथा नहीं। इत्यादि पात्र, दाता, भोज्यवस्तु, गृहादि के विचार से अपनी शारीरिक, मानसिक शक्ति की पूरी २ जाच कर जो प्रतिज्ञा की जाती है उसे वृत्तिपरिसख्यान तप कहते हैं।

कायक्लेशतप—कभी मुनि अपनी आत्मीयशक्ति को विकसित करने लिए शरीर से ममत्व त्याग कर अनेक प्रकार के कायक्लेश रूपी तपों का आचरण करते हैं। कायक्लेशतप करने वाला संयमी अपनी शक्ति को लक्ष्य मे रखकर तपश्चरण करता है। जिस तप के आचरण करने से उत्तरोत्तर तप मे अनुराग और उत्साह की वृद्धि होती रहे उतना तप कर्मों की निर्जरा करनेवाला माना गया है। कायक्लेश तप कई प्रकार का होता है।

कोई कायक्लेश गमन से होता है। जिस समय ज्येष्ठ वैशाख मास की कडी धूप हो उससमय पूर्वदिशासे (सूर्य के सम्मुख) पश्चिम दिशा मे गमन करना, मध्याह्न के समय प्रचण्ड सूर्य की प्रखर किरणो से संतप्त भूतल पर गमन करना, पश्चिमदिशा से (सूर्य के सम्मुख) पूर्व दिशा मे गमन करना, सूर्य को पसवाड़े मे करके गमन करना, एक ग्राम मे पहुच कर बिना विश्राम लिए दूसरे ग्राम की ओर गमन करना, एक ग्राम को जाकर वहा से बिना विश्राम लिए वापिस लौट आना यह सब गमन निमित्तक कायक्लेश तप है।

कोई कायक्लेश तप स्थान (खड़े रहने) के विषयक होता है—प्रमार्जित स्तम्भ या भीत के सहारे खड़े रहना, पहले के स्थान से दूसरे स्थान मे जाकर वहा पर एक पहर एक दिन आदि काल का नियम लेकर खड़े रहना, अपने स्थान पर ही निश्चल होकर खडे रहना, कायोत्सर्ग करना, अर्थात् समान अन्तर मे पाँव रखकर भूमि पर खड़े रहना, एक पांव से खड़े रहना, आकाश मे उडते समय गृध्र पक्षी के जैसे पख फैलते हैं, वैसे दोनों बाहु फैलाकर खड़े रहना, पाँव के अग्रभाग के बल खडे रहना, पाँव के अंगूठे के बल खड़े रहना, इत्यादि अनेक प्रकार से काल की मर्यादा पूर्वक खडे रहना स्थान-कायक्लेश तप कहा जाता है।

अनेक आसन माँडकर तपश्चरण करने को आसन कायक्लेश तप कहते हैं। एक पहर, दोपहर आदि का प्रमाण कर पालथी माडकर बैठे रहना पर्यंकासन कायक्लेश तप है। नितम्ब भाग (चूतड़) के पाँव लगाकर बैठना समपदासन कायक्लेश तप है। गाय के दोहते समय एड़ियों को उठाकर पाँवों के अग्रभाग (फायों) के बल जैसा बैठते हैं, वैसा बैठना गोदोहासन कायक्लेश तप है। भूमि को नहीं छूते हुए दोनों पाँवों को मिलाकर और शरीर के ऊपर के भाग को सिकोड़कर बैठना उत्कुटिकासन कायक्लेश तप है। मगर के मुख समान दोनों पाँवों की आकृति बनाकर बैठना मगर-मुखासन कायक्लेश तप है। जैसे हाथी सूंड को फैलाता है, वैसे एक पाँव को फैलाकर बैठना अथवा एक हाथ को फैलाकर बैठना हस्तिशुण्डासन कायक्लेशतप है। दोनो जघाओं को सिकोड कर गौ जिस प्रकार बैठती है वैसे बैठने

को गवासन कायक्लेश तप कहते हैं। दोनो जांघो पर दोनों पांव रखकर बैठना अथवा दोनों पिंडलियों को दूर अन्तर पर स्थापन करना वीरासन कायक्लेश तप कहा जाता है। इस प्रकार अनेक आसन लगाकर ध्यान करने को आसननिमित्तक कायक्लेश तप कहते हैं।

अब शयन से जो कायक्लेश तप होता है, उसे कहते हैं। दंड समान शरीर को लम्बा करके सोना दंडायतशयन कायक्लेशतप है। खड़े खड़े सोना उद्वीभूशयन कायक्लेशतप है। अवयवोंको सुकोड़ कर सोना लगुडशयन कायक्लेश तप कहते है। मुखको ऊंचा रखकर चित सोने को उत्तानशयन कायक्लेशतप कहते हैं। मुखको नीचे रखकर औंधा सोने को अवमस्तकशयन कायक्लेश तप कहते है। बाईं या दाहिनी करवटो मे से किसी करवट मे सोना पार्श्वशयम कायक्लेश तप माना गया है। मृतक के समान बिना हिलेचले चेष्टा रहित सोने को मृतकशयन कायक्लेश तप कहा जाता है। बाहर निरावरण प्रदेश में (खुले मैदान में) सोने को अभ्रावकाशशयन कायक्लेश तप कहते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार के शयन हैं, उनमे से अपनी शक्ति व सुविधा के अनुसार जिस प्रकार सोये हो वैसे ही नियत समय तक सोते रहना, शयन का परिवर्त्तन (बदला बदली) न करने से शयन निमित्तक कायक्लेश तप होता है। अब अन्य कायक्लेशों को कहते हैं।

थूंकने की आवश्यकता होने पर भी नहीं थूंकना, शरीर में खुजली की बाधा उपस्थित होने पर भी शरीर को नहीं खुजलाना, सूखे तृण के ऊपर, काठ के पट्टे पर, पत्थर की शिला पर, तथा भूमि पर शयन करना, केशो का लोच करना, (उखाड़ना) रात्रि मे न सोना जागरण करना, स्नान नहीं करना, दांतो को नहीं माजना, अतिशीत गर्मी तथा जलवृष्टि आदि की बाधा सहना, शरीर को क्लेश पहुचाने वाले अनेक साधनों को जुटाकर शरीर सम्बन्धी कष्टों को शान्ति से सहन करना कायक्लेश तप कहा गया है।

विविक्त शय्यासन तप—जो प्रासुक हो, जिस वसतिका में राग तथा द्वेष भाव को उत्पादन करने वाले मनोज्ञ व अमनोज्ञरूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द न पाये जावें तथा जहां पर स्वाध्याय और ध्यान मे विघ्न उपस्थित न होता हो, उस वसतिका को विविक्त कहते हैं। वही वसतिका मुनि के योग्य मानी गई है। ऐसी वसतिका मे सोने या रहने को विविक्त शय्यासन तप कहते हैं।

इस विविक्त शय्यासन में स्त्रियों, नपुन्सकों, असमियों और पशुओं का संचार नहीं होना चाहिए। इनसे उनके ध्यानाध्ययन मे बाधा उपस्थित होती है और अपने कर्तव्य कर्म को निर्विघ्न रूप से नहीं कर सकते। आत्मगवेषियो के लिए एकान्त और पवित्र स्थान की अनिवार्य आवश्यकता है। इसीलिए विविक्त शय्यासन को एक तप का स्थान दिया गया है।

वसतिका के बारे मे यह खयाल रखना भी नितान्त आवश्यक है कि वह उद्गम, उत्पादना व एषणा दोषों से रहित हो अन्यथा वह सोने अथवा रहने योग्य नहीं है। उद्गम, उत्पादन, और एषणा दोषो से भयंकर एक दोष और है जिसका नाम अधः कर्म है। अधः कर्म अर्थात सब से नीचा कर्म (कार्य)।

(१) आधाकर्म दोष—यह सब दोषों से महान् दोष है। इस दोष से मुनि के महाव्रतों का नाश होता है। वृक्षों को काट कर लाना, ईंटों को पकाना, पृथ्वी खोदना, नीव आदि को पत्थर मिट्टी आदि से भरना, पृथ्वी को कूटना, कीचड करना, खम्भे तैयार करना, अग्नि से लोहे को तपाना व घनों से कूटना, करौत से काठ चीरना, बसोले से छीलना, फरस से छेदन करना इत्यादि नाना प्रकार की क्रियाओं से छह काय के जीवों को पीडा देकर वसतिका स्वयं बनाई हो या दूसरे से बनवाई हो, अथवा बनाने वाले का अनुमोदन किया गया हो तो वह आधाकर्म दोष है। यह महादोष है। इसका सेवन करने से मुनिपना नष्ट होता है।

उद्गम दोष

(१) उद्देशदोष—जितने भी दीन अनाथ कंगाल या भेष धारी हैं उन सब के लिए बनाई गई धर्मशाला आदि हो या पाखंडी साधुओं के लिए बनवाये गये मठ वगैरह अथवा बौद्ध साधुओं के लिए या निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए बनवाये गये आश्रमादि हों वे सब उद्देशिक वसति कहलाते हैं। अर्थात् किसी पाखंडी आदि के उद्देश से बनवाई गई वसति में रहने से उद्देश दोष होता है।

(२) अध्यधि दोष—गृहस्थ अपने उपभोग के लिए मकान बनवाता हो तब पत्थर ईंट चूना आदि अधिक मंगवाकर साधुओं के लिए भी एक दो कमरे बनवाले और उसमे मुनि ठहरें तो अध्यधि दोष होता है।

(३) पूतिदोष—गृहस्थ ने अपने लिए मकान बनवाने के निमित्त बहुत से पत्थर ईंट काष्ठ आदि एकत्र कर रखे हों, उनमे थोड़े से पत्थर ईंट काष्ठादि मुनि की वसतिका के निमित्त मिलावे तो पूति दोष होता है।

(४) मिश्रदोष—पाखंडियों या गृहस्थों के ठहरने के लिए मकान बनवाते हुए गृहस्थ के मनमे विचार उत्पन्न हो जावे कि संयमीजनों के ठहरने के लिए भी इसमें वसतिका बनवावें, इस उद्देश से पहले इकट्ठी की गई पत्थर चूना आदि सामग्री में थोडा पत्थर चूना काठ आदि सामग्री और मिला दे तो मिश्र दोष होता है।

(५) स्थापित दोष—अपने लिए कोई गृह भवनादि बनवाया और पश्चात विचार किया कि यह संयमियों के लिए ही नियत है ऐसा संकल्प करने से स्थापित दोष होता है।

(६) प्राभृतकदोष—जिस दिन साधु आवेंगे, उस दिन इस वसतिका की सफेदी पुताई वगैरह करवावेंगे, ऐसा विचार करके मुनिके आने पर वसतिका का संस्कार (धुलाई पुताई आदि) करवाने से प्राभृतदोष होता है। अथवा साधु के आने के काल को लक्ष्य में रखकर वसतिका सँवारने में विलम्ब करना इसको भी प्राभृतक दोष कहते है।

(७) प्रादुष्कार दोष—जिस मकान में अन्धकार बहुत है उसमें प्रकाश लाने के लिए (मुनियों के निमित्त) भीत फोड़कर खिड़की या जाली निकालना, ऊपर के काठ के तख्ते आदि हटाना, दीपक जलाना-यह सब प्रादुष्कार दोष है।

(८) क्रीतदोष—गाय भैंस बैल आदि सचित्त (सजीव) द्रव्य देकर अथवा गुड़, शक्कर, घृतादि अचित्त द्रव्य देकर संयमी के लिए वसतिका खरीदना क्रीतदोष है।

(९) भावक्रीतदोष—विद्या, मन्त्रादि देकर मुनि के लिए वसतिका खरीदना भावक्रीत दोष है।

(१०) पामिच्छ (प्रामिश्र) दोष—भाडा या व्याज देकर मुनि के लिए वसतिका लेना, वह पामिच्छ (प्रामिश्र) दोष है।

(११) परिवर्त्त दोष—'आपका मकान मुनियों के ठहरने के लिए दो और मेरे मकान मे आप रहो,' इस प्रकार विनिमय (बदला) करके मुनियों के निवास के लिए मकान लेने से परिवर्त्त दोष होता है।

(१२) अभिघट दोष-अपने मकान की दीवाल आदि के लिए जो छप्पर, स्तंभ, चटाई आदि सामग्री बनवाई थी, वह मुनियों की वसतिका के लिए लाना अभिघट दोष है। इस दोष के दो भेद हैं—१ आचरित अभिघट और १ अनाचरित अभिघट दोष जो सामग्री दूर देश से अथवा दूसरे गांव से लाई गई हो तो अनाचरित अभिघट दोष होता है अन्यथा आचरित अभिघट दोष। कहलाता है।

(१३) उद्भिन्न दोष—जो मकान ईंटों से, मिट्टी के पिंड से, कांटों की बाड से या किवाड़ों से ढका हो, उस पर से उनको हटाकर वह मकान मुनियों को देदेना उद्भिन्न दोष होता है।

(१४) मालारोह दोष—निसैनी आदि से चढ़कर 'आप यहां पधारिये, आपको विश्राम करने लिए यह स्थान दिया जाता हैं, ऐसा कहकर संयमियों को दुमंजिला या तीन मंजिल पर मकान देना मालारोह दोष है।

(१५) आछेद्य दोष—राजा, मंत्री या अन्य किन्हीं प्रधान पुरुषों का भय दिखला कर दूसरे के स्थान को मुनि के ठहरने के लिए दिलाना वह आछेद्य दोष है।

(१६) अनिसृष्ट दोष—दानकार्य में अनियुक्त वसतिका के स्वामी से अथवा बालक से या परवश हुए स्वामी से जो वसतिका दी जाती है वह अनिसृष्ट दोष से युक्त होती है।

इस प्रकार सोलह उद्गम दोष हैं। ये दोष गृहस्थ के आश्रित हैं। मुनि को इन दोषो मे से किसी एक दोष का भी भान हो जावे तो उस वसतिका में मुनि को नहीं ठहरना चाहिए। मालूम होजाने पर यदि साधु उस दूषित वसतिका मे ठहरता है तो वह दोष का भागी होता है।

उत्पादन दोष

अब उत्पादन दोष को कहते हैं। यह दोष साधु के आश्रित है। इस के भी सोलह भेद हैं। इन भेदों का संक्षेप स्वरूप यह है।

(१) धात्री दोष—ससार मे धात्री कर्म पांच हैं, उनमे से किसी एक के निमित्त से वसतिका की प्राप्ति करना धात्री दोष है। (१)कोई धात्री (धाय) बालक को स्नान कराती है। (२) कोई बालक को क्रीड़ा कराती है। (३) कोई बालक को वस्त्र अलङ्कारादि से सजाती है। (४) कोई बालक को खिलाती पिलाती है। (५ कोई बालक को सुलाती है। ऐसी पांच धात्रियां (धायें) होती हैं। जब कोई गृहस्थ अपने बालक को मुनि के निकट लावे, तब मुनि बालक के माता पिता को कहे कि बालक को इस प्रकार स्नान कराना चाहिए, इस तरह क्रीड़ा करवाने से बालक प्रफुल्लित रहता है, इस तरह के वस्त्र व अलङ्कारादि से अलकृत करने से बालक सुन्दर लगता है, बालक को अमुक् २ पदार्थ का सेवन करवाने से उसकी शारीरिक व मानसिक शक्ति का विकास होता है तथा अमुक् रीति से बालक को सुलाना चाहिए—इस प्रकार धात्री कर्म का उपदेश देकर साधु गृहस्थ को अपने ऊपर अनुरक्त करके यदि वसतिका प्राप्त करता है तो उसके धात्री दोष उत्पन्न होता है।

(२) दूतकर्म दोष—अन्य ग्राम नगर या देश में रहने वाले गृहस्थ के पुत्र, पुत्री, दामाद या अन्य सम्बन्धियों के सन्देश-समाचारआदि कहकर वसतिका प्राप्त करने से दूतकर्म दोष होता है।

(३) निमित्त दोष—अङ्ग, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भूमि, स्वप्न, अन्तरीक्ष और शब्द के भेद से आठ प्रकार का निमित्त ज्ञान होता है। इस निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है। अर्थात् शरीर के अङ्ग उपांग का आकार एवं स्वरूप देखकर तिल मसे आदि व्यंजन का अवलोकन कर; शरीर में रहने वाले स्वस्ति, भृंगार, कलश, दर्पण, भौंरी आदि लक्षणों को जानकर; वस्त्र, छत्र, आसनादि को चूहे, कांटे आदि से अथवा शस्त्र अग्नि आदि से छिन्न भिन्न देख कर या सुनकर तथा भूमि की रुखाई, चिकनाई, रङ्ग रूपादि देखकर; शुभ या अशुभ स्वप्न को देखकर या सुनकर; आकाश में ग्रह नक्षत्रादि की आकृति उल्कापात, दिशा का रूपादि देखकर एवं चेतन अचेतन के स्वर (शब्द) का श्रवण कर जो भूत भविष्यत् वर्त्तमान मे घटित होने वाले शुभ अशुभ, सुख दुःख, जय पराजय, सुभिक्ष दुर्भिक्षादि को उक्त अष्ट निमित्त ज्ञान से जानकर गृहस्थ को कहना कि पहले ऐसा हुआ था, इस समय ऐसा होने वाला है और भविष्य में ऐसा होगा—इस प्रकार निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है।

(४) आजीव दोष—अपना जाति, कुल, ऐश्वर्य आदि द्वारा अपनी महिमा (बड़प्पन) प्रकट करके वसतिका की प्राप्ति करना आजीव दोष है।

(५) वनीपक दोष—कोई गृहस्थ साधु से पूछे कि 'हे भगवन् ! दीन, अनाथ या पाखंडी, भेष धारी आदि सबको आहार दान करने से या ठहरने को स्थान देने से पुण्य होता है या नहीं ? इस प्रकार पूछने पर साधु विचारे कि यदि पुण्य नहीं होता है, ऐसा कहूंगा तो यह गृहस्थ अप्रसन्न हो जावेगा और वसतिका न देगा, ऐसा सोचकर गृहस्थ के अनुकूल उत्तर देकर वसतिका की प्राप्ति करने वाले साधु के वनीपक दोष होता है।

(६) चिकित्सा दोष—आठ प्रकार की चिकित्सा (वैद्य * विद्या) से वसतिका प्राप्त करना वह चिकित्सा दोष है।

(७) क्रोध दोष—क्रोध दिखाकर वसतिका प्राप्त करना क्रोध दोष है।

(८) मान दोष—मैं इतना बड़ा तपस्वी हूं, मैं बड़ा विद्वान् हूं, मेरी आत्मा में शापानुग्रह शक्ति है-इत्यादि अभिमान दिखाकर वसतिका प्राप्त कर मान दोष है।

(९) माया दोष—छल कपट का प्रयोग करके वसतिका प्राप्त करना माया दोष है।

(१०) लोभ दोष—किसी प्रकार का लोभ दिखाकर वसतिका प्राप्त करना लोभ दोष है।

(११) पूर्वस्तुति दोष—मुनियों के लिए आपका घर ही आश्रय है; ऐसी बात हमने दूर दूर देशों में सुनी है इस प्रकार पहले गृहस्थ की स्तुति करके वसतिका प्राप्त करना पूव स्तुति दोष है।

(१२) पश्चात् स्तुति दोष—कुछ काल वसतिका में रह कर जाते समय गृहस्थ की प्रशंसा इस अभिप्राय से करना कि भविष्य में जब कभी यहां आवेंगे तो वसतिका की प्राप्ति होगी तो वह पश्चात् स्तुतिदोष मानागया है।

(१३) विद्यादोष—विद्या के प्रयोग से अथवा विद्या का लालच देकर गृहस्थ को वश में कर वसतिका की प्राप्ति करना विद्यादोष है।

* शल्य, शालाक्य, काय-चिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायन और वाजीकरण यह आठ प्रकार की आयुर्वेद चिकित्सा है।

(१४) मन्त्रदोप—मन्त्र का प्रयोग करके या मन्त्र का लोभ देकर वसतिका प्राप्त करना मन्त्र दोप है।

(१५) चूर्ण दोप—नेत्रांजन, शरीरसंस्कार चूर्ण, वशीकरणादि चूर्ण का लोभ देकर वसतिका प्राप्त करना चूर्ण दोष है।

(१६) मूलकर्म दोप—विरक्तों को अनुरक्त करने का प्रयोग दिखाकर वसतिका प्राप्त करना मूल कर्म दोष है।

ये सोलह दोप पात्र (मुनि) के आश्रित हैं; इसलिए साधुओं को इन सब दोपों से रहित वसतिका का सेवन करना चाहिये।

एषणा दोष

अब एपणा दोप को कहते हैं। इसके दश भेद निम्न प्रकार हैं:—

(१) शंकित दोप—यह वसतिका साधु के ठहरने योग्य है या नहीं ? इस प्रकार शंका जिस वसतिका में उत्पन्न हो जावे वह शंकित दोप से दूपित मानी गई है।

(२) म्रक्षित दोप—जो वसतिका तत्काल लीपी, पोती गई अथवा सींची गई हो, जलका पात्र लुढकाकर उसी समय धोई गई हो, वह वसतिका म्रक्षित दोप युक्त होती है।

(३) निक्षिप्त दोप—सचित्त पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज या त्रसजीवों के ऊपर पट्टा (तख्ता आदि) फलक (काठका पट्टा रखकर 'यहां आप शय्या कीजिए' ऐसा कहकर जो वसतिका दी गई हो, वह निक्षिप्त दोप से दूपित होती है।

(४) पिहित दोप—हरितकाय, कांटे, सचित्त मिट्टी आदि के आवरण को हटाकर जो वसतिका दीजावे वह पिहित दोप वाली मानी गई है।

(५) साधारण दोप—काष्ठ, वस्त्र, कांटे आदि को घसीटते हुए अग्रगामी मनुष्य के द्वारा दी जानेवाली वसतिका साधारण दोप वाली कही गई है।

(६) दायकदोप—जो मनुष्य सूतक या पातक (जन्म या मरण की अशुचि) से अशुद्ध हो अथवा पागल हो, या नपुंसक हो, भूतप्रेतादि की बाधावाला हो या नग्न हो, ऐसे पुरुप से दीगई वसतिका दायक दोप से युक्त मानी गई है।

(७) उन्मिश्रदोष—जो पृथिवी जलादि स्थावरजीवों और चींटी, खटमल आदि त्रसजीवों से युक्त वसतिका हो, वह उन्मिश्र दोष से दूषित कही गई है।

(८) अपरिणत दोष—जो स्थान किसी के गमनागमन से मर्दित नहीं हुआ है, वह घर, मकान आदि वसतिका का स्थान अपरिणत दोष युक्त होता है।

(९) लिप्तदोष—जिस मकान में गुड़ शक्कर घृत तैलादि लिप्त हो, जिसमे चींटी आदि जीव चिपक जावें–उस वसतिका को लिप्तदोष से संयुक्त समझना चाहिए।

(१०) परित्यजनदोष—जिस वसतिका के अल्प भाग का शय्या व आसन (सोने बैठने) के कार्यों में उपयोग हो और फिर भी उसका बहुत भाग रोकना पड़े तो उसे परित्यजन दोष कहते हैं।

ये दश दोष एषणा के हैं, ये जिस वसतिका में पाये जावें उस वसतिका में संयमी को नहीं ठहरना चाहिए।

अंगारादि चार दोष

इन उक्तदोपों के अतिरिक्त १ अंगार, २ धूम, ३ संयोजना और प्रमाणातिरेक ये चार दोप और हैं।

(१) अंगारदोप—यह वसतिका सर्दी गर्मी, वायु आदि उपद्रवों से रहित है। यह न तो अति उष्ण है और न अतिशीत है; तथा वायु के उपद्रव से रहित बड़ी सुहावनी और विशाल है–इस प्रकार आसक्ति पूर्वक वसतिका में निवास करने वाले साधु के अंगार दोष होता है।

(२) धूमदोष—यह वसतिका सर्दी गर्मी तथा वायु आदि के उपद्रवों से युक्त है, इस प्रकार निंदा करता हुआ वसतिका में नरहने वाले साधु के धूम दोप होता है।

(३) संयोजनादोप—जो संयमी के काम में आने वाली वसतिका असंयमी पुरुषों के बाग बगीचे या रहने के निवास स्थान से मिली हुई हो तो वह संयोजना दोप से युक्त कही गई है।

(४) प्रमाणातिरेक—जो वसतिका साधु के शयनासन (सोनें बैठने) आदि कार्यों के उपयोग में तो अल्प आवे और बहुत सी भूमि ग्रहण करे तो उस साधु को प्रमाणातिरेक दोप प्राप्त होता है।

ऊपर विवेचन किये गये छियालीस दोपो से रहित वसतिका मे निवास करने वाले मुनि के विविक्त शय्यासन तप होता है। विविक्त शयनासन करने वाले मुनि को उस वसतिका में भी नहीं ठहरना चाहिए जिसके प्रमार्जन मे विवेक से काम नहीं लियागया है, जो अन्धाधुन्ध विना देखे भाले झाड़ी बुहारी यालीपी पोती गई हो; तथा जिसमें जीवो की उत्पत्ति और कीड़े मकोड़े आदि जन्तुओं की अत्यधिकता हो । तथा जिस मे राग द्वेप युक्त भेषधारी या असंयमियों का शय्या आसन हो– ऐसी वसतिका संयामियों के योग्य नहीं मानी गई है। आगे उक्त प्रकार विविक्त स्थान मे शय्यासन करने वाले सयमी के निवास करने के लिए योग्य वसतिकाएँ कौनसी हैं, इसे दिखाते हैं—

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले ।
अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विचित्ताइं ॥ २३१ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सूनाघर, पर्वतों की गुफाएँ, वृक्षो मूलभाग, देशदेशान्तर से आने वाले व्यापारी वर्गादि के मनुष्यों के लिए ठहरने के मकान, देवकुल (देवले–देव देवी के मन्दिर) स्वतः बना हुआ शिलागृह—अर्थात् किसी मनुष्य के द्वारा जिसका निर्माण नहीं हुआ हो ऐसा पत्थर की शिलाओं का बना हुआ घर, क्रीडा करने के लिए आने वाले मनुष्यो के लिए बनाये गये उपवन गृह (बाग बगीचों के घर) मठ आदि ये सब स्थान सयमियो के ठहरने योग्य विविक्त वसतिकाएँ हैं।

इन स्थानों में विश्राम करने वाले साधुओं को किसी प्रकार का दोप नहीं लगता ॥ वे 'तूतू, मैं मैं'से तथा 'यह वसतिका मेरी है, यह तेरी है' इत्यादि कलह से दूर रहते हैं। ऐसी एकान्त वसतिकाओं मे रहने से मन को क्षोभित करने वाले मनुष्यों के रोले नहीं सुनाई देते हैं, परिणामो में सक्लेश ता नहीं होती, चितमें व्यग्रता नहीं होती। असंयमी मनुष्यों का अनुचित ससर्ग नहीं होने से ध्यान और अध्ययन में व्याघात नहीं होता।

शंका—ध्यान और अध्ययन में क्या अन्तर है ? क्योंकि वाह्य विपयों से चित्त क। निवृत्ति तो दोनों मे समान है।

समाधान—एक विषय मे ज्ञान की सन्तान को स्थिर करना ध्यान कहलाता है। पर स्वाध्याय में ऐसा नहीं होता। स्वाध्याय में ज्ञान का अनेक विपयों मे संचार होता है। अर्थात् जब ज्ञान परम्परा एक विषय में कुछ समय तक स्थिर हो जाती है तब तो ध्यान होता है और जब ज्ञान धारा विषय से विपयान्तर एक प्रमेयसे दूसरे प्रमेय में शीघ्र बदलती रहती है तब स्वाध्याय होता है।

शंका—कहीं शास्त्रों में स्वाध्याय को शुभ ध्यान कहा है, सोकैसे ?

समाधान—स्वाध्याय ध्यान का कारण है इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके स्वाध्याय को भी ध्यान कह दिया गया है।

एकान्त वसतिका में निवास करने वाला मुनि बिना क्लेश के सुख पूर्वक अनशनादि बाह्य तप तथा स्वाध्याय ध्यानादि अभ्यन्तर तप में प्रवृत्त हुआ आत्म स्वरूप में लवलीन रहता है। उसके चित्त को तथा इद्रियों को आकर्षित करने वाले प्रतिकूल संयोगों का सम्पर्क न होने से चित्त में शान्ति और इन्द्रियों का दमन सुलभता से होता है। एकान्त में रहने के कारण उसके पांच समितियों का पालन सहज में होजाता है। वह मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति रुकजाने से आत्महित के कृत्यों में लवलीन रहता है। उसके स्वाध्याय ध्यानादि में विघ्न करने वाले रागद्वेषादि भाव उत्पन्न नहीं होते हैं। परिणामों में संक्लेश नहीं होने से चित्त में परम विशुद्धि होती है। आत्म-स्वभाव में स्थिर रहने से कर्मों के आस्रव का अभाव होकर संवर और निर्जरा होती है। शास्त्र में कहा है:—

जो णिज्जरेदि कम्मं असंवुडो सुमहदावि कालेण।
तं संवुडो तवस्सी खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ २३४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जो साधु बाह्य विषयों में दौडते हुए मन वचन काय को न रोककर मासोपवासादि कायक्लेशकारी उग्रोग्र बाह्य तपस्या के द्वारा बहुत काल में जितने कर्मों की निर्जरा करता है, गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा तथा परिषहजय में तत्पर रहने वाला साधु उतने कर्मों की निर्जरा अन्तर्मुहूर्त्त में करता है। क्योंकि गुप्ति आदि से जो कर्मों की निर्जरा होती है वह संवर पूर्वक होती है और समिति गुप्ति आदि रहित केवल बाह्य तपसे जो निर्जरा होती है वह संवर रहित होती है। संवर रहित निर्जरा मोक्ष में उपयोगी नहीं होती है। क्योंकि संवररहित बाह्य तप से निर्जरा करने वाला साधु जैसी पुराने कर्मों की निर्जरा करता है, वैसे ही नवीन कर्मों का बन्ध भी करता है। और संवर पूर्वक निर्जरा करने वाला साधु पुरान कर्मों की निर्जरा भी करता है और नवीन कर्मों के आस्रव को भी रोकता है। अतः आगम में संवर पूर्वक निर्जरा को ही महत्त्व दिया गया है। निर्जरा को संवर पूर्वक बनाने के लिए साधु को ऐसे तपश्चरण का आचरण करना चाहिए जिससे मन दुष्कृत्यों की ओर प्रवृत्त न हो। जैसे इन्द्रियों के विषयों का सेवन करना दुष्कर्म है, वैसा ही अथवा उससे अधिक दुष्कर्म क्रोधादि कषायों के वश में होना है। इन्द्रियों और मन को वश में रखकर प्रायश्चित्त स्वाध्यायादि तप की निर्बाध सिद्धि करने के लिए अनशनादि तप किया जाता है। क्रोधादि का आवेश बढ़ जाने पर आत्मा प्रायश्चित स्वाध्यायादि तपस्या को करने में असमर्थ हो जाता है; इसलिए तप की वृद्धि के साथ क्रोधादि कषायों का उपशम भी होना परमावश्यक है। जिस तपस्वी के क्रोध मान माया या लोभ का आवेश होता है, वह

[illegible] है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि तपस्या वही श्रेष्ठ मानीगई है, जिससे चारित्र के पालन में, [illegible] बढ़ती रहे तथा पूर्व के धारण किये व्रत और नियमों का दृढ़ता से पालन होता रहे।

बाह्यतप के गुण

[illegible] बाह्यतप भी बहुत जरूरी है। बाह्यतप आत्मा को सन्मार्ग मे तत्पर करने का अपूर्व साधन है। इस तप से जीवका [illegible] तथा [illegible] दूर होता है। कष्ट सहिष्णुता बढ़ती है और परिषह सहन करने की प्रकृति बनती है। शरीर से [illegible] वैराग्य भाव में दृढ़ता आती है और संसार मे चित्त उद्विग्न होकर आत्म-धर्म मे प्रवृत्त होता है।

यद्यपि संसार से भयभीत हुए बिना तपश्चरण मे तत्परता नहीं होती है तथापि बाह्यतप के आचरण करने वाले का आगम के पठन पाठन मनन में संलग्न होजाता है और निरन्तर ज्ञानामृत का पान करते रहने से आत्मा में पात्रता आजाती है। तब संसार से [illegible] होता है और उस संसार की असारता निश्चय होजाती है; इसलिए वह तपस्वी संसार के दुःखों से घबराकर आत्महितकर धर्म में लग जाता है।

इन बाह्य तपों का उपयोग यही है कि अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग इन चार तपों के द्वारा जिह्वा इन्द्रिय का दमन होता है। विविक्त शयनासन और काय क्लेश तपके द्वारा स्पर्शन, घ्राण, चक्षु और कर्णेंद्रिय का दमन होता है। मन का दमन तो सभी से होता है। एकान्त वसतिका मे स्पर्शनादि इन्द्रियो को लुभाने वाले विषयों का अभाव होता है. अतः विविक्त वसतिका में निवास करने से स्पर्शनादि इन्द्रियां आत्मा के वश में रहती हैं।

आहारादि का त्याग करने से विषय-प्रेम घटता है और रत्नत्रय में स्थिरता बढ़ती है। क्योंकि विषयों में व्याकुल हुआ चित्त रत्नत्रय मे स्थिर नहीं रहकर विषय सम्बन्धी अशुभ विचारों-संकल्प-विकल्पों के जाल में गोता लगाता रहता है। बाह्य तप के कारण विषयों से उदासीनता बढ़ती है और उत्तम कार्यों (स्वाध्यादि) मे प्रेम बढ़ता है।

बाह्यतप के आचरण से शरीर में कृशता आती है और आत्मशक्ति विकसित होती है। इससे मुनि की जीवित रहने की आशा व तृष्णा का क्षय होता है। विनश्वर शरीर से मोह हटकर आत्मीय गुणों (क्षमादि) में अनुराग उत्पन्न होता है। जो शरीर से मोह रखता है, वह मनुष्य बाह्य तप का अनुष्ठान करने से भय खाता है। उसकी आहारादि सम्बन्धी लम्पटता नहीं छूटती है। तथा वह असंयमादि का आचरण करके भी शरीर को सुखी रखने तथा प्राण धारण किये रहने की इच्छा रखता है। और वह रत्नत्रय के आराधन में उपेक्षा धारण

करता है। अतःशरीर से मोह का सम्बन्ध शिथिल करने के लिए वाह्यतप का आचरण करना चाहिए। शरीर विषयक मोह के घटने पर आत्म-गुणों मे प्रेम की वृद्धि होती है, सयम पर स्थिर रहने की भावना दृढ़ होती है तथा विनश्वर शरीर का उत्तम कार्यों में उपयोग करने की सच्ची लगन उसके मन में पैदा होती है।

मरण काल में जो सम्पूर्ण आहार का परित्याग करना पड़ता है; उसका अभ्यास वाह्यतप के आचरण करने से ही होता है। जिसने पहले अनशनादि व्रत का अभ्यास किया है, वह समाधि मरण के अवसर पर सुगमता से आहार का त्याग कर सकता है और जिसने अनशनादि वाह्य तप का आराधन नहीं किया है; वह सहसा आहार का त्याग करने में कृतकार्य नहीं होता है, उसे आहार का त्याग करने से भय उत्पन्न होता है। क्षुधा-तृषा की वाधा सहन करने का अभ्यास न होने से वह एकदम आहार का त्याग करने से व्याकुल चित्त हो जाता है। उसकी आखों के सामने अँधेरा सा आ जाता है, सिर चक्कर खाने लगता है और उसका मन अशान्त हो जाता है। अतः मरण को सुधारने के लिए अनशनादि तप का आचरण वरावर करते रहना चाहिए।

वाह्यतप के आचरण से निम्नलिखित गुण व्यक्त होते हैं :—

निद्रागृद्धिमदस्नेहलोभमोहपराजयः
ध्यानस्वाध्याययोर्वृद्धिः सुखदुःखसमानता ॥ २४२ ॥ (स. भग. आ.)

अर्थ—निद्रा आत्मा को ज्ञानोपयोग से रहित जड़ वना देती है। निद्रा के वशीभूत हुआ मुनि सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, ध्यान से पराङ्मुख होता है। निद्रा मनुष्य को मृतक समान बना देती है और दर्शनावरणादि कर्मों का वन्ध करती है। उस पर विजय प्राप्त करने का मुख्य साधन अनशन अवमौदर्यादि वाह्य तप हैं। निद्राविजयी वनने के लिए यथाशक्ति तपस्या करना परमावश्यक है। जो नित्य भरपेट भोजन करता है, सरस आहार करता है वह मृदुस्पर्शयुक्त निरुपद्रव सुखप्रद स्थान में निद्रा राक्षसी का ग्रास वनता है। उसको सामायिक स्वाध्याय व ध्यान करते समय निद्रा घेरलेती है। भरसक प्रयत्न करने पर भी वह अपने चित्त को सामायिक स्वाध्यायादि में नहीं लगा सकता है। नींद पर नींद आने लगती है और वह चेतना शून्य होकर अशुभ विचारों के प्रवाह में बहने लगता है अतएव निद्रा का त्याग करने के लिए वाह्यतप का नित्य यथाशक्ति अवश्य आचरण करना चाहिए।

गृद्धि (आहारादि की आसक्ति) संयमी को संयम से ढकेलती है। जिस साधु के मन में आहार की लम्पटता होती है, वह भक्ष्य अभक्ष्य का, प्रासुक अप्रासुक का, सदोष-निर्दोष का विचार नहीं करता है। वह तो अपनी लालसा को शान्त करना चाहता है जो वह

[illegible] के अधीन होकर अपने संयम रत्न को खो देता है। जो तप का अभ्यासी है, अनशनादि तप का अनुष्ठान करने वाला है, [illegible] आहारादि की लालसा नहीं होती है। वह जब शरीर से भी मोह नहीं रखता है, तब आहारादि में आसक्ति कैसे कर सकता है ? अतः [illegible] के आचरण करने वालों के आहारादि की लालसा भी नहीं होती है।

बाह्य तप के द्वारा ही मदजय अर्थात् इन्द्रियों का दमन होता है। उपवास, ऊनोदर, रसत्याग आदि यथायोग्य तपस्या को जो संयमी करता रहता है, उसकी इन्द्रियाँ दर्पहीन हो जाती हैं। उनमें विषय सेवन की जो उत्सुकता होती है, वह उपशान्त हो जाती है। इन्द्रियों की प्रकृति है कि जब उनको बल देने वाले अनूकूल विषयों का सम्पर्क मिलता है, तो उनके दर्प (मद) की वृद्धि होती है और उनका वश में रखना कष्ट-साध्य होता है। किन्तु उपवासादि तप के कारण अनुकूल सामग्री न मिलने से वे शक्तिहीन हो जाती हैं, तब उनका मद नष्ट हो जाता है और वे मन्त्र-कीलित सर्प की भांति मदहीन होकर संयमी के अधीन रहती हैं। इन्द्रियों के दमन करने का निर्दोष व प्रधान साधन तप के अतिरिक्त कोई नहीं है।

स्नेह, लोभ और मोह का पराजय करने के लिए अमोघ शस्त्र एक बाह्यतप है। तपस्या करने वाला अपने शरीर से भी स्नेह नहीं करता। उसको जब अपने जीवन का भी लोभ नहीं होता तब शरीर से मोह क्यों करेगा ? और ऐसी दशा में उसके स्त्री पुत्र व अन्य वस्तुओं में स्नेह, लोभ या मोह कैसे हो सकता है? क्योंकि जितनी भी बाह्य वस्तुएँ हैं, उनका साक्षात् सम्बन्ध शरीर के साथ है। शरीर द्वारा ही उनका परम्परा सम्बन्ध आत्मा के साथ है। जिसने शरीर से स्नेहादि सम्बन्ध तोड़ दिया है उसके स्त्री पुत्र धन या शिष्यादि वर्ग के साथ स्नेहादि सम्बन्ध स्वतः ही टूट गया। अतः जो आत्म-हितैषी मनुष्य अति कठिन मोहादि शत्रुओं से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं उनको अनशनादि तप का आचरण अवश्य ही करना चाहिए।

ध्यान की सिद्धि व वृद्धि चित्त की एकाग्रता से होती है। चित्त की एकाग्रता सम्पन्न करने के लिए अनशन, अवमौदर्यादि बाह्य तप का आचरण परमोपयोगी माना गया है। कारण कि उपवास या ऊनोदर आदि तपस्या के द्वारा अशक्त हुई इन्द्रियाँ अपने विषयों से उदासीन होती हैं। और इन्द्रियों को उदासीन होने से मन भी मुर्झा जाता है। वह विषयों से उदासीन हुआ आत्मीय ध्यानादि कार्यों में लवलीन होता है। इन्द्रियाँ जिधर प्रवृत्त होती हैं, मन भी उधर खिंच जाता है। जब इन्द्रियाँ चञ्चलता का परित्याग कर स्थिरता धारण कर लेती हैं तब असहाय हुआ मन भी स्वतः स्थिर होने लगता है। और चित्त की स्थिरता को ही ध्यान कहते हैं। अतः ध्यान की सिद्धि व उसको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करने के लिए अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग व विविक्तशयनासन का आचरण करना नितान्त आवश्यक है।

स्वाध्याय वृद्धि के लिए भी बाह्य तप नितान्त आवश्यक है। जो बहुत भोजन करने वाला है या पुष्ट और गरिष्ठ रसीले आहार

का सेवन करता है, उसे आलस्य घेर लेता है, निद्रा आने लगती है और स्वाध्याय से चित्त ऊब जाता है। जिसने उपवास अवमौदर्यादि तप से आलस्य और निद्रा को दूर कर दिया है, वह निर्बाध होकर स्वाध्याय में रम सकता है। अतः स्वाध्याय की सिद्धि व वृद्धि के लिए बाह्य तप अपूर्व साधन है।

बाह्य तप का आचरण करने वाले मुनि के सुख दुःख मे समभाव होता है। अर्थात् उसके इन्द्रिय-जन्य सुख में राग और क्षुधादि वेदना से उत्पन्न हुए दुःख मे द्वेष भाव नहीं होता है। अतः वह सुख दुख में समभाव धारण करने वाला होता है।

तात्पर्य यह है कि बाह्यतप मुनि को बाह्य विषयों से पृथक् करता है और आत्मा के गुणों के विकास करने में प्रवृत्त करता है। संयम का तो निष्कलंक अलंकार तप है। मुक्ति अङ्गना उसी के गले मे वर माला डालती है जो तप रूप भूषण से भूषित होता है। क्योंकि संसार के मूल कारण कर्मों का समूल नाश तपश्चरण से ही होता है।

दूसरे मुनि का तपस्या को देखकर नये कोमलांग मुनियों को भी तपस्या में अनुराग उत्पन्न होता है। उनके वैराग्य की वृद्धि होती है, शरीर से प्रेम नष्ट होता है, संसार में आसक्त हुए रोगीजन भी तपस्वी मुनि के तपश्चरण का अवलोकन कर संसार से भयभीत होते हैं। वे विचारने लगते हैं, देखो! यह मुनिराज संसार से भयभीत होकर अपने शरीर से भी कितने विरक्त हैं, धन्य है इनको, जो ऐसे दुधर तपश्चरण का आचरण करते हैं। धिक्कार है हमको, जो संसार से निडर होकर शरीर के दास बने हुए हैं, हमको अपने कल्याण के अर्थ अवश्य तपश्चरण करना योग्य है। ऐसा चिन्तन कर तपस्या करने मे प्रवृत्त होते हैं। जिन धर्म से विमुख प्राणी भी तपस्वी साधुओ के दर्शन कर उनके दुधर तप से प्रभावित होते हैं और धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर अपना कल्याण करने में तत्पर हो जाते हैं।

अनशनादि तप के अनुष्ठान से आत्मीय गुणों के विकास के साथ शरीर भी स्वस्थ होता है, शरीर का भारीपन मिटता है, मेदा (चर्बी) की वृद्धि रुकती है, वात और कफ की विषमता दूर होती है, अपच की बीमारी का नाश होता है, आलस्य दूर होकर स्फूर्ति बढ़ती है, कार्य करने की क्षमता प्राप्त होती है, बुद्धि का विकास होता है।

मुनि को यदि सर्वोपरि ज्ञान प्राप्त करना है, अपनी बुद्धि और मेधा शक्ति की वृद्धि करना है, विश्व को आश्चर्य चकित करने वाले शास्त्रीय ज्ञान तथा दिव्य ज्ञान को उपलब्ध करना है तो तपस्या रूप औषधि का सेवन करो। इस तप रूप रसायन का सेवन कर जड़-बुद्धि साधु अलौकिक दिव्य ज्ञान के धारक होगये हैं। द्वादशाङ्ग वाणी का पूर्ण ज्ञान तथा अवधि, मनः पर्याय और केवलज्ञान तपश्चरण से ही प्रकट होते हैं। ये ज्ञान शास्त्रों के अभ्यास से नहीं उत्पन्न होते हैं, इनका उत्पादक तपश्चरण ही है।

सं. प्र.

पू. कि. ५

पूर्ण श्रुतज्ञानादि तो तपस्या से होते ही हैं, किन्तु जड़-बुद्धि मनुष्य के ज्ञान का विशेष प्रादुर्भाव भी तपस्या के आचरण से ही
मरता है। वस्तुत मे अल्प बुद्धि मनुष्यो के ज्ञानावरण का चमत्कारी क्षयोपशम तपश्चरण से हुआ है। यह निःसन्देह है कि तपस्या से अवश्य
ही ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम, उपशम या क्षय होता है। अतः यदि ज्ञानवान्, मेधावान्, विद्यावान् आदि बनना हो तो तप का
अभ्यास करना चाहिए। इसीसे तेजस्विता, वाग्मिता और विद्वत्ता उत्पन्न होती है।

सल्लेखना के आराधन का फल यह है कि काय और कषाय को कृश करने मे उद्यत हुआ संयमी अनशनादि तप की क्रमशः
वृद्धि करता है। अर्थात एक उपवास के बाद दो उपवास (बेला) करता है। तत्पश्चात् तीन उपवास (तेला) चोला आदि अनशन तप को
बढ़ाता है। मुनियो के अधिक से अधिक आहार का प्रमाण बत्तीसग्रास कहा है। उसमें एकग्रास, दोग्रास, तीनग्रास आदि की न्यूनता (कमी)
करते हुए अवमौदर्य तप की वृद्धि करता है। एक रसका, दो रसों, तीन रसो आदि का त्याग क्रमसे करते हुए रसपरित्याग तप को बढ़ाता
है। "आज मैं एक मुहल्ले मे ही आहार के लिए भ्रमण करूंगा, अथवा सात घरों मे या तीन घरो मे ही आहार के लिए प्रवेश करूंगा।
आज एकग्रास या दो चार दस बीस या इकतीस ग्रास ही ग्रहण करूंगा।" इस प्रकार ग्रास के प्रमाण का नियम कर वृत्तिपरिसंख्यान तप की
वृद्धि करता है। दिनमे आतपन योग करके रात्रि मे प्रतिमायोग धारण करने का नियम करता हुआ कायक्लेश तप की उन्नति करता है। सूने
घर, पर्वत की गुफा, वनादि, एक वसतिका में आश्रय लेकर विविक्तशय्यासन तपको वृद्धिगत करता है। इस प्रकार तपों की वृद्धि करते हुए
संयमी के थकावट मालूम होती है, तब वह उक्त अनशनादि तप को क्रम से न्यून (कम) करता है। बढ़ी हुई तपस्या को शनैः शनैः घटाने
को तप की हानि कहते हैं। अथवा सर्व प्रकार बढ़ते हुए तपश्चरण से रूक्ष व रसहीन आहार को अल्प करते हुए शरीर को कृश करता है।

अथवा सल्लेखना का दूसरा प्रकार यह है कि कषाय और काय कृश करने को उद्यमी संयमी एकदिन अनशन (उपवास)
ग्रहण करता है, दूसरे दिन वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करता है, तीसरे दिन अवमौदर्य तप अंगीकार करता है। अथवा प्रतिदिन
आहार मे कमी करता हुआ अपने शरीर को और कषाय को घटाता जाता है।

सल्लेखना का आराधन अन्य २ प्रयोगों से

जब सल्लेखना करने वाले संयमी के आयुष्य शेष हो तथा शरीर में योग्य सामर्थ्य विद्यमान हो तब वह अनगार के
शास्त्रोक्त बारह प्रतिमायोगों को अंगीकार करता है। उस शक्तिशाली साधु के उन प्रतिमाओं के स्वीकार करने से शरीर व मन में
पीडा नहीं होती है। वह प्रसन्नता पूर्वक अपने शरीर व कषाय को कृश करने के लिए प्रतिमायोग अङ्गीकार करता है। जो साधु अपने
बल की तुलना किये बिना प्रतिमायोग धारण करता है उसके योग का भंग होता है और चित्त मे संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं।

प्रतिमायोग

प्रतिमायोग का धारण साधारण शक्तिशाली मुनि नहीं कर सकता है। उनका धारण करने वाला मुनि उत्तम संहनन का धारक होना चाहिए। जो धैर्य और शरीर बल से बलिष्ठ होता है तथा आत्मीय शक्ति से सम्पन्न होता है और परिषह पर विजय करने में शूरता रखता है, जो धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान को परिपूर्ण करने वाला है, जिस देश में वह स्थित है, वहां पर बड़ी कठिनता से प्राप्त होने वाले आहार ग्रहण करने का नियम लेता है कि यदि एक मास के भीतर अमुक दुर्लभ आहार मिलेगा तो उसका आहार लूंगा उसके अतिरिक्त एक महीने तक अन्य भोजन का त्याग है। इस प्रकार एक मास का प्रतिज्ञा करता है और उस मास के अन्तिम दिन में वह प्रतिमा योग धारण करता है। यह एक प्रतिमा है।

भिक्षु प्रतिमा और उसके ७ भेद

वह संयमी फिर पूर्वोक्त आहार से सौगुने उत्कृष्ट और दुलर्भ भिन्न प्रकार के आहार की दो मास की प्रतिज्ञा लेकर दो मास के अन्तिम दिन मे प्रतिमा योग धारण करता है। वह दूसरी भिक्षुप्रतिमा होती है।

पूर्व कथित आहार से सौगुने उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार की तीन मास पर्यन्त प्रतिज्ञा धारण करता है। यदि तीन माह के भीतर अमुक भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा सब भोजन का तीन माहतक त्याग है। उस तीन माह के अन्तिम दिन में प्रतिमा योग धारण करता है। उस तीसरी भिक्षु प्रतिमा कहते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर सौ सौगुने उत्कृष्ट और दुर्लभ (कठिनता से मिलने वाले) भोजन की प्रतिज्ञा चार पांच छह व सात माह तक की क्रम से अंगीकार करता है और चार माह, पांच माह तथा छह माह और सात माह के अन्तिम दिनों मे प्रतिमा योग स्वीकार करता है,यह क्रमशः चौथी, पांचवी. छटी और सातवीं भिक्षु प्रतिमा होती है। तत् तत्सम्बन्धी योग को तत् तत्प्रतिमा योग कहते है। इस प्रकार सात प्रतिमाओं के सम्पन्न होने पर पूर्वोक्त आहार से उत्कृष्ट और दुर्लभ भोजन की सात सात दिन तक की प्रतिज्ञा तीन बार अंगीकार करता है। प्रतिज्ञा के अनुसार भोजन की प्राप्ति होने पर यथाक्रम तीन ग्रास, दो ग्रास और एक ग्रास ग्रहण करता है। ये आठवीं, नववीं और दशवीं तीन भिक्षु प्रतिमाएं हैं। इसके अनन्तर रात और दिन प्रतिमा योग से खडा रहता है, यह ग्यारहवीं और उसके बाद रात्रि में ध्यान स्थित रहता है, यह बारहवीं–प्रतिमा तदनन्तर प्रथम अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान प्रादुर्भूत होता है। और पश्चात् सूर्य का उदय होने पर केवल ज्ञान प्रकट होता है। यही कहा है :—

> "मासिय दुय दिय चउ पंचमास छम्मास सत्तमासीय।
> तिण्णे व सत्तराइं राइंदिय राइपडिमाओ ॥ १ ॥"

आचाम्ल तप

प्रश्न—सल्लेखना के कारण भूत उक्त जितने तप वर्णन किये गये हैं, उनमें सबसे श्रेष्ठ कौन है ?

उत्तर—शरीर को कृश करने के निमित्त भूत जो तप हैं, वे अनेक हैं, किन्तु उनमें 'आचाम्ल' तप सर्व श्रेष्ठ है।

प्रश्न—आचाम्ल तप की विधि क्या है ?

उत्तर—वेला, तेला, चोला और पचोला तक के उपवास के अनन्तर पारणे के दिन परिमित और शीघ्र पचने वाला कांजी का आहार प्रायः साधु किया करते हैं। अर्थात् आत्मा में संक्लेश उत्पन्न न हो इस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार वेला (दो दिन का उपवास), तेला (तीन दिन का उपवास), चोला (चार दिन का उपवास) और अधिक से अधिक पंचोला (पांच दिन का उपवास) करे। जिस दिन पारणा करना हो उस दिन परिमित और लघु (शीघ्र पचने वाला) काजी भोजन करे। इसे आचाम्ल भोजन कहते हैं। कहा भी है:—

"समोऽथषष्ठाष्टमकैस्तपोऽधिकैस्ततो विप्रकृष्टैर्दशमैः शमात्मकः।
तथा लघुद्वादशकैश्च सेवते मितमुदाऽऽचाम्लमनाविलोलघुः॥"

अर्थात्—आचाम्ल तपस्या का इच्छुक संयमी प्रथम दो दिन का उपवास करे और अपने चित्त में संक्लेश न हो, शान्ति का अनुभव होवे तब तीन दिन का उपवास करे। उतने उपवास से भी आत्मा मे संक्लेश भाव न हो तो चार दिन का उपवास करे। पश्चात् पांच दिन के उपवास की प्रतिज्ञा करे। प्रत्येक पारणे के दिन परिमित और लघु कांजी का भोजन करे।

प्रश्न—इतना विवेचन आपने समाधिमरण के समय जो भक्तप्रत्याख्यान के विषय मे किया है उस भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक कितना होता है ?

भक्त प्रत्याख्यान का काल

उत्तर—जब आयु बहुत बाकी हो तब भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक बारह वर्ष का बताया गया है। अर्थात् आयु के अधिक होते हुए भी किसी ने पहले बतलाये गये समाधिमरण के कारणों में से किसी कारण के उपस्थित होने पर भक्तप्रत्याख्यान प्रारम्भ कर दिया हो तो उसके भक्तप्रत्याख्यान का काल बारह वर्ष तक हो सकता है, इससे अधिक नहीं।

भक्तप्रत्याख्यान काल की यापन विधि

प्रश्न—भक्तप्रत्याख्यान के उक्त बारह वर्ष के काल को संयमी किस प्रकार बितावे ?

उत्तर—बारह वर्ष के काल में से प्रथम चार वर्ष संयमी अनेक प्रकार के तपश्चरण में बितावे। उन चार वर्षों में अपने परिणामों को उज्ज्वल रखते हुए नाना प्रकार के कायक्लेश तप का आचरण करे। चार वर्षों के बीत जाने पर अगले चार वर्षों में संयमी दूध दही घृत गुड़ आदि सम्पूर्ण रसों का त्याग कर रूखा सूखा व स्वल्प भोजन पान स्वीकार करता हुआ अपने शरीर को कृश करता रहे। इस प्रकार करने से उसका शरीर तो कृश होता है; किन्तु परिणामों में निर्मलता की वृद्धि होती है। इस तरह आठ वर्ष व्यतीत करता है।

अवशिष्ट चार वर्षों में से पहले दो वर्षों को आचाम्ल (कांजी) भोजन तथा चटनी शाकादि स्वादिष्ट रस व्यंजनादि से रहित भोजन से व्यतीत करता है। उन दो वर्षों के अनन्तर एक वर्ष केवल आचाम्ल भोजन से बिताता है। अन्तिम एक वर्ष प्रथम छह मास में मध्यम तपस्या का अनुष्ठान कर शरीर को कृश करता है और अन्तिम छह मास में उत्कृष्टोत्कृष्ट कायक्लेश तपश्चर्या का आचरण कर शरीर को क्षीण करता है। इस तरह वह संयमी अपनी आयु के अन्तिम बारह वर्षों में सल्लेखना का आराधन करता है।

प्रश्न—क्या सल्लेखना करने वाले संयमी को अपने आयु के अन्तिम वर्ष उक्त विधि के अनुसार ही बिताने योग्य हैं अथवा और कोई दूसरा भी प्रकार है ?

उत्तर—उक्त विधि से ही तपश्चरण करने का नियम नहीं है; किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता और प्रतिकूलता से तपस्या का अनुष्ठान तथा आहारादि का ग्रहण व त्याग करना चाहिए। शास्त्रों में कहा है :—

> भत्तं खेत्तं कालं धादुं च पडुच्च तह तवं कुज्जा।
> वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभण उवयति॥ २५५॥ (भग. आ.)

अर्थ—भोजन अनेक तरह का होता है। कोई भोजन ऐसा होता है, जिसमें शाक अधिक होती है, किसी में दूध या दही या घृतादि अधिक मात्रा में होते हैं। किसी में जौ चना मूंग मोठ कुलथी आदि धान्य का भाग अधिक होता है। कोई भोजन शाक दाल आदि रहित होता है। इत्यादि अनेक प्रकार के भोजन होते हैं। क्षेत्र भी अनेक प्रकार के होते हैं—कोई अनूप देश होता है (जिस देश में जल बहुत होता है—जलाशय अधिक होते हैं उसे अनूप देश कहते हैं) कोई देश जांगल होता है (जिसमें वृष्टि कम होती है और नदी आदि नहरों

मे कृषि होती है, उसे जांगल देश कहते हैं), कोई देश साधारण होता है (जिसमें उक्त दोनों लक्षण पाये जाते हैं, उसे साधारण देश कहते हैं)।

काल के शीतकाल ग्रीष्मकाल और वर्षाकाल ये भेद होते हैं।

अपने शरीर की प्रकृति को धातु कहते हैं। किसी की शरीर-प्रकृति वात प्रधान होती है, किसी की कफ प्रधान और किसी की पित्त प्रधान होती है। अपनी प्रकृति को लक्ष्य मे रखकर वात, पित्त और कफ की समता रखते हुए योग्य भोजन का सेवन करना चाहिए अनूप देश मे वात और कफ वधक आहार का सेवन करना ठीक नहीं। जांगल देश मे पित्त प्रकुपित करने वाले आहार का ग्रहण अहितकर है। इसी प्रकार शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल के योग्य भोजन का ग्रहण और इनके अयोग्य भोजन का त्याग करना संयमी का कर्तव्य है।

इस प्रकार द्रव्य (भोजन) क्षेत्र और काल के अनुकूल तपश्चरण और भोजन का ग्रहण करने वाला संयमी अपने भावो की उत्तरोत्तर विशुद्धि करता हुआ सल्लेखना की सिद्धि करने मे कृतकार्य होता है।

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यह सब प्रयास तभी सफल है जबकि भावों मे उज्ज्वलता वृद्धिगत होती रहे। चाहे सल्लेखना की विधि का किसी भी प्रकार आचरण किया जाय यह अपनी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु अपने भावो मे मलीनता उदासीनता और सक्लेश न आवे इसी का ध्यान रखना चाहिए। जितनी भी सल्लेखना की विधियां हैं वे परिणामो मे उज्ज्वलता उत्पन्न करने के लिए हैं। इसलिए संयमी को उचित है कि वह एक क्षणमात्र भी आत्मा की विशुद्धि का त्याग न करे। आत्मा की विशुद्धि के विना जितना भी तप किया जाता है वह सब निरर्थक है; क्योंकि उससे आत्मा का हित नहीं होता। जो आत्म-हित के उद्देश्य के विना तप करता है, उसे चाहे लोक मे आदर सम्मान व पूजा प्रतिष्ठा की प्राप्ति हो जाय पर तुष खण्डनवत् है उसकी यह आकांक्षा उसको अधोगति मे ले जाने वाली है। भाव रहित कायक्लेश तप से उसको कदाचित् देवगति भी प्राप्त हो जावे तो भी उसका अंतिम परिणाम कुगति है। इसलिए आत्मा का (अपना) हित करने की इच्छा रखने वाले को सासारिक विषयों की अभिलाषाओं के लात मार कर कर्मों की निर्जरा और आत्म-गुणों को प्रकाशमान करने के लिए तपस्या करना चाहिए, क्योंकि कर्मों के क्षय होने से आत्म-सुख की प्राप्ति अवश्य होती है। वृक्ष के मूल मे जल सिंचन करने वाला मनुष्य वृक्ष के हरे भरे पत्तों की शीतल छाया और उसके पुष्पो की मकरन्द का अनुभव करता हुआ उसके मृदु, स्निग्ध और दिव्य फलो का अनुभव करता है। वैसे ही कर्मों की सवर पूर्वक निर्जरा करने वाला मोक्षमार्ग का पथिक महात्मा आनुषंगिक रूप से प्राप्त होने वाले नर लोक और देवलोक के सुखों का अनुभव करता हुआ शाश्वत दिव्य अनुपम सुखों को प्राप्त होता है।

कषाय से बचने के उपाय

उक्त प्रकार काय को कृश करने का उपाय दिखाकर अब कषाय को कृश करने के उपायों का वर्णन करते हैं। साधक को विचार करना चाहिए कि काय को कृश करना तभी कार्यकारी होता है, जबकि काय के साथ कषाय भी कृश हो जावे। क्योंकि कषाय को कृश (भेद) किये बिना केवल काय को कृश करना निष्फल है। ऐसी निष्फलता तिर्यंचादि गति में अनेक वार इस जीव ने की है। उससे क्या लाभ हुआ? अतः क्रोधादि कषायों को उपशम करने का भरसक प्रयत्न करना ही आवश्यक है; क्योंकि सब दुःखों की जनक कषाय ही हैं। संसार में जीव का शत्रु अन्य कोई नहीं, यह क्रोधादि कषाय ही सबके शत्रु हैं।

अतः क्रोधाग्नि को क्षमा जल से शान्त करो। मान रूपी पर्वत का मार्दव (विनय) रूपी वज्र से पतन करो। माया की कठोर ग्रन्थि (गांठ) का आर्जव (सरलता) रूपी सूचिका (सूई) से भेदन करो। लोभ-समुद्र के प्रवाह को संतोष-सूर्य की प्रखर किरणों से सुखा दो।

प्रज्वलित हुई कषाय रूप अग्नि जीवन का सार तत्त्व जो चारित्र है, उसे क्षण भर में भस्म कर देती है। इतना ही नहीं, वृद्धि को प्राप्त हुई यह कषाय-अग्नि, दुर्लभ सम्यक्त्व-पीयूष को भी सुखा कर आत्मा को अनन्त संसारी बना देती है। इसलिए इस कषाय को हृदय में थोड़ा सा भी स्थान नहीं देना चाहिए। क्योंकि थोड़ी सी कषाय अग्नि प्रतिकूल वचन का संयोग रूपी ईंधन और असहनशीलता रूपी प्रतिकूल वायु का संसर्ग पाकर उग्ररूप धारण करलेती है, इसलिए कषाय को उत्तेजित करने वाले बाह्य संयोगों से भी सदा दूर रहना चाहिए। यदि कषाय को उत्तेजना देने वाले बाह्य निमित्त प्राप्त होजावें तो इनसे बचने की चेष्टा करना ही श्रेयस्कर है।

जिस समय क्रोधादि कषायाग्नि अन्तःकरण में प्रादुर्भूत हो उसी समय 'हे भगवन् मैं आपकी शिक्षा को शिरोधार्य करता हूँ, मेरा यह (कषाय जन्य) पातक मिथ्या (निष्फल) हो, मैं आपको नमस्कार करता हूँ,' इत्यादि वचन रूप जल से उसको शान्त करने की [illegible] है। इस कषाय रूप भयानक विषधर के विष को दूर करने का यह गारुडी मन्त्र है। जिस आत्मा में इस गारुडी मन्त्र का सद्भाव [illegible] है, उस आत्मा पर कषाय रूपी विष का कुछ भी असर नहीं होता है। अतः जहां तक बन सके कषाय के उत्पादक कारणों के सम्पर्क से दूर रहना चाहिए। यदि उनका संयोग बलात्कार से उपस्थित हो जावे तो क्षमा, मार्दव, आर्जव और संतोष आदि से उनका शमन करना [illegible] है।

ऊपर लिखे कषाय रोग नाशक नुस्खे (प्रयोग) के सेवन करने वाले को निम्नोक्त अपथ्य से सर्वथा बचना चाहिये।

हास्य, रति, अरति, शोक, भयादि नव नोकषाय और चार संज्ञाएँ (आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की वांछा) हैं। इनसे सदा

दूर रखना चाहिए। क्योंकि हास्य (अट्टहास, हंसी, मजाक,) क्रोधादि के विकार को उत्तेजित करता है। रति (विषय प्रेम) और अरति ([illegible] अप्रिय) तथा शोक,भय, ग्लानि, और कामक्रीडा के भाव रागद्वेष के जनक हैं। तथा आहारादि संज्ञा भी आत्मा मे [illegible] भावों को अंकुरित करती हैं।

इनके अतिरिक्त ऋद्धि, रस और सात इन तीन गारवों का भी त्याग करना आवश्यक है। ऋद्धि में तीव्र अभिलाषा ऋद्धि गारव, रसों में तीव्र अभिलाषा रस गारव और सुख की तीव्र अभिलाषा सात गारव है। इनसे भी क्रोधमानादि कषाय रूप विकार भाव उत्पन्न होते हैं। साधुओं को कषाय की शान्ति के लिए इनका भी त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

कषाय को कृश करने मे तत्पर हुए सयमी को अशुभ लेश्याओं का भी परित्याग करना चाहिए। कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं। जिस आत्मा में यह उत्पन्न होती हैं,उसके चारित्र का विघात कर उसे चारित्रहीन असंयमी बना देती हैं। उनके द्वारा तीव्र अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, अतः उनका आत्मा से समूल उच्छेद कर देना चाहिए।

इस प्रकार जिस संयमी ने बाह्य सल्लेखना (शरीर को कृश करना) और आभ्यन्तर सल्लेखना (कषाय को कृश करना) इन दोनों सल्लेखनाओ की सिद्धि के लिए पूर्वोक्त बाह्य तप आदि का आचरण किया है, संसार का त्याग करने मे जिसने अपनी बुद्धि को लगाया है, वह संयमी सम्पूर्ण तपों में उत्कृष्ट तप जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान हैं, उनकी प्राप्ति करने में तत्पर रहता है। अर्थात् ऊपर की सब क्रियाओं का पालन धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिए ही किया जाता है। क्योंकि उक्त क्रियाएं साधन हैं और धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान साध्य हैं। इस प्रकार सल्लेखना का निरूपण किया।

सल्लेखना के आराधक आचार्य का कर्त्तव्य

सल्लेखना के आराधक (यदि वह स्वयं आचार्य है तो) का क्या कर्तव्य होता है, उसका प्रतिपादन करते हैं।

सल्लेखना करने मे उद्युक्त हुए आचार्य को गण की हित कामना का पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। अपना आत्म-हित करने के लिए सल्लेखना का आराधन जैसा मुख्य कृत्य है, वैसा ही आगे के लिए संघ का सुप्रबन्ध करना भी उनका प्रधान कर्तव्य होता है। धर्मतीर्थ का विच्छेद न हो, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अविच्छिन्न परिपाटी चलती रहे, इसके लिए वह आचार्य अपनी आयु का विचार कर अपने शिष्य समूह को तथा अपने स्थान मे जिन बालाचार्य को स्थापित किया था, उन्हें बुलाकर सौम्य तिथि, करण, नक्षत्र और शुभ लग्न मुहूर्त देखकर शुभ प्रदेश मे सङ्घ का सर्वथा त्याग करते हैं। तथा अपने समान आचार्य गुण से भूषित,सम्पूर्ण सङ्घ की रक्षा शिक्षादि

कार्य-सञ्चालन करने में समर्थ बालाचार्य को अपना भार सौंपते हैं। उस समय उनको परिमित शब्दों में छोटा सा उपदेश देते हैं। उसके बाद वह बालाचार्य सम्पूर्ण सङ्घ का आचार्य माना जाता है। उस समय वे पूर्वाचार्य उस बालाचार्य के सामने अपने समस्त सङ्घ को भी सूचित करते हैं :-हे मोक्षमार्ग के यात्रियो,तुम्हारा सम्यग्दर्शन,ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय निर्विघ्न चल रहा है उसपर सतत आगे बढते रहो, अतः तुम्हारे मार्ग मे विघ्न बाधाओंको दूर करने के लिए, इस रत्नत्रय धर्म की परिपाटी अविच्छिन्न चलती रहे इसके निमित्त इस बालाचार्य को सार्थवाह-संघपति-आचार्य नियत करता हूँ। आज से यह तुम्हारा आचार्य है। इसकी आज्ञा के अनुकूल चलना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। इसप्रकार समस्त संघ के समक्ष बालाचार्य को आचार्य पद पर नियुक्त करते हैं और आप सम्पूर्ण सङ्घ से अपना सम्बन्ध विच्छेद करते हैं।

तदनन्तर सम्पूर्ण सङ्घ और उस नवीन आचार्य तथा बालमुनि से लेकर वृद्ध मुनि पर्यन्त सम्पूर्ण साधुओं से मन वचन काय द्वारा क्षमा मांगते हैं। मेरा तुम्हारे साथ दीर्घकाल तक सहवास हुआ है, मैंने तुम्हारी इच्छा के अनुकूल प्रतिकूल हितकामना से जो शासन किया उसमें तुम्हारे चित्त को दुःखित किया हो तो उस अपराध को अब क्षमा करो। इस तरह पूर्वाचार्य के क्षमा याचना करने के पश्चात् सम्पूर्ण सङ्घ के साधु व नवीन आचार्य, संसार के दुःखों से रक्षण करने वाले, सबपर प्रेमामृत की वर्षा करने वाले, उत्तम क्षमादि दश धर्मों का तथा रत्नत्रय धर्म का स्वयं पालन करने वाले और समस्त सङ्घ को पालन कराने वाले अपने पूर्वाचार्य की प्रथम वन्दना करते हैं पश्चात् पञ्चांगों द्वारा मन वचन और काय से नमस्कार करते हैं। और मन वचन काय से पूर्वाचार्य को क्षमा प्रदान करते हैं तथा आप भी अपने पूर्व कृत अपराधों की क्षमा याचना करते हैं।

शिष्य समूह आचार्य के लिए परिग्रह स्वरूप है

जिस प्रकार स्त्री पुत्रादि परिग्रह हैं, वैसे ही सल्लेखना के आराधक आचार्य के शिष्य समूह भी उनके लिए परिग्रह है। जब तक उनका त्याग नहीं किया जाता है, आत्मा पर उनकी रक्षा शिक्षादि के प्रबन्ध का बोझ बना पर रहता है। अतः सब जीवादि तत्त्वो के रहस्य के वेत्ता, तथा प्रायश्चित्तादि शास्त्रों के अनुभवी आचार्य अपनी आत्मा के कल्याण करने मे तत्पर हुए पूर्वाचार्य, उस भार को उतार कर अपनी आत्मा को तत्सम्बन्धी रागद्वेषसे मुक्त कर परम आनन्द का अनुभव करते हैं और योग्य प्रायश्चित लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने में प्रवृत्त होते हैं। कारण कि आचार्य को सङ्घ के शिष्यों के हित के लिए अनेक प्रकार से शासन करना पड़ता है, उनको कटु कठोर किन्तु परिणाम में हितकारी वचन भी कहने पड़ते हैं इत्यादि बातों से आचार्य को जो दोष उत्पन्न होता है, उसकी निवृत्ति करने के लिए वे उचित प्रायश्चित का भी आचरण करते हैं।

सङ्घ का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेश

गच्छ (सङ्घ) का परित्याग करते समय आचार्य सङ्घ को जो उपदेश देते हैं वह निम्न प्रकार है :—

हे कल्याण के इच्छुक मुनीश्वरो ! तुमने शान्ति सुख की प्राप्ति के लिए धन, धान्य गृह, पुत्र, कलत्रादि का परित्याग कर जिनेन्द्र सदृश जगत्पूज्य मुनिपद धारण किया है। इस की शोभा रत्नत्रय रूप भूषण से है। अतः इसकी उत्तरोत्तर निर्मलता प्राप्त करना तुम्हारा मुख्य कर्तव्य है। दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना और चारित्राराधना को उन्नत बनाने वाली प्रवृत्ति करने में तुम्हारा सच्चा हित है।

हे सङ्घ नायक ! महानदी जहां से निकलती है, वहां पर तो अल्पविस्तारवाली होती है, किन्तु आगे बढ़ते ही विस्तृत होती हुई महान् रूप धारण कर समुद्र में मिलती है। वैसे ही तुम भी प्रारम्भ में गुण व शील को अल्प प्रमाण में धारण कर उत्तरोत्तर क्रमशः वृद्धि करते हुए गुण और शीलों को विशाल रूप देने का पूर्ण प्रयत्न करो–इसी में तुम्हारा कल्याण है।

तुम मार्जार के शब्द के समान चारित्र तप को मत आचरण करो। जैसे मार्जार (बिल्ली) का शब्द प्रारम्भ में महान् और पश्चात् मंद होता जाता है, वैसे ही प्रारम्भ में अति दुर्धर चारित्र और तप की भावना (अनुष्ठान) में प्रवृत्त होकर पश्चात् उसमें क्रमशः मन्दता (क्षीण पना) धारण करना तुम्हें उचित नहीं है। यदि तुमने ऐसा किया तो तुम अपना और सङ्घ का विनाश करोगे। क्योंकि जो आलसी अग्नि से जलते हुए अपने घर को भी नहीं बुझा सकता, वह दूसरे के घर की रक्षा करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? तुमको चारित्र और तप से गिरते हुए देखकर दूसरे उत्कृष्ट तपस्वी और दृढ संयमी भी शिथिल होने लगेंगे। अतः हे गणाधिप ! द्रव्य क्षेत्र कालादि को ध्यान में रखते हुए तुम क्रमशः चारित्र और तपश्चरण को वृद्धि की ओर ले जाओ। हे सङ्घ की उन्नति के इच्छुक ! तुम ज्ञान, दर्शन और चारित्र में अतिचार मत आने दो। अतिचारों का स्वरूप निम्नोक्त प्रकार है।

ज्ञान के ८ अतिचार

अस्वाध्याय के काल में गणधरादि कथित सूत्र (आगम) का स्वाध्याय करना, क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि और भाव शुद्धि के बिना स्वाध्याय करना; अपने गुरु के नाम को छिपाना, आगम के मूल पाठ में तथा उसके अर्थ में अथवा दोनों में अशुद्धि करना,अर्थात् अशुद्ध पाठ उच्चारण करना तथा आगम के यथोचित्त अर्थ का प्रकाशन कर उसे हीनाधिक या विपरीत अर्थ समझना या दूसरों को समझाना; आगम का आगम के वेत्ताओं का बहुमान न करना–आदर सत्कार न करना–ये ज्ञान के आठ अतिचार हैं।

दर्शन के ५ अतिचार

शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा अन्य-दृष्टि प्रशंसा और संस्तवन ये पांच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। इनका विवेचन दर्शनविनय में हो चुका है।

चारित्र के अतिचार

समिति का व भावनाओं का अभाव होना आदि चारित्र के अतिचार हैं। चारित्र के अतिचारों का वर्णन चारित्राचार के विवेचन के अवसर पर कर आये हैं, उन सब अतिचारों का तुम त्याग करो। देखो, स्वपक्षीय जैन धर्म पर आरूढ मुनिगण से तथा परपक्षीय इतर धर्माम्नायी प्राणियों से कदापि वैर विरोध मत करो। अन्तःकरण की शान्ति का भङ्ग करने वाले वाद-विवाद का भी परित्याग करो। क्योंकि वाद-विवाद में प्रवृत्त हुआ पुरुष अपने जय के उपायो और पर के पराजय के उपायो को ही ढूंढता है; किन्तु वस्तु के तथ्य स्वरूप को प्रकट कर समाधान करना नहीं चाहता है। इससे क्रोधादि कपायों की जागृति होती है, जो कि आत्मा का परम शत्रु है। अतः इनसे सदा बचना चाहिए। हां, तत्त्वजिज्ञासा से कोई प्रश्न करे तो शान्ति से उसका समाधान करना आवश्यक है।

आचार्य के लिए ध्यान देने योग्य विषय

हे गणधर! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में जो अपने को और गण-सङ्घ को स्थापित करे, रत्नत्रय को आप धारण करे और गण को धारण करावे वह गणधर कहलाता है। जो इसके अनुकूल प्रवृति न करे वह गणधर पद के योग्य नहीं माना गया है। अतः तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ रहो। बहुत मुनिगण मेरे अधीन हैं; इसलिए मैं गणधर (आचार्य) हूँ, ऐसा अभिमान तुम्हारे हृदय में कभी नहीं होना चाहिए। किन्तु तुम्हें यह विचार निरन्तर करते रहना चाहिये 'कि मुझे सङ्घ की सेवा का सौभाग्य मिला है; अतः मैं इस सेवा के कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करूं।' कर्त्तव्य पालन में तुम्हारा थोड़ा सा प्रमाद अनेक पवित्रात्माओं की महती हानि का कारण होगा, इसलिए तुमको प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए।

जो साधु आहार, पिच्छी, कमंडलु और वसतिका का शोधन न कर ग्रहण करता है, वह मूलस्थान को प्राप्त होता है अर्थात् वह मुनिपद से पतित हो जाता है उसको पुनःमुनि दीक्षा लेनी पड़ती है। लेकिन जो साधु उद्गम, उत्पादन, एपणादि दोषों से रहित आहार, पिच्छी, कमंडलु और वसतिका को चारित्र की रक्षा के लिए स्वीकार करता है वह उत्तम चारित्र का धारक माना जाता है।

ज्ञानाचारादि पञ्चाचार में स्थिर रहने वाले तथा उनका निरतिचार स्वयं पालन करने वाले और अन्य मुनियों को पालन कराने वाले आचार्यों की जिनागम में उक्त मर्यादा वर्णन की गई है। परन्तु जो लोकानुवर्त्ती तथा सुखेच्छु हैं, उनका आचरण आगम-मर्यादा का उल्लंघन करने वाला होता है। आगम में असंयमी जनों के साथ सम्पर्क रखने, मिष्ट तथा रसीले भोजन करने, कोमल शय्या में शयनासन करने, सब ऋतुओं में रमणी स्थानों में निवास करने आदि में आसक्त रहने वाले साधुओं की यथेच्छप्रवृत्ति का निषेध किया है। उनमें रत

वे अपने मुनि पद को दूषित करते हैं।
रहने वाले मुनि आचार्य पद के सर्वथा अयोग्य हैं। उसके इन्द्रिय संयम व

हे आचार्य ! जो साधु आगम निषिद्ध उद्गमादि दोषों से दूषित आहार वसतिकादि का उपभोग करता है, वह वास्तविक मुनि नहीं है तो फिर
प्राणी संयम नष्ट हो जाता है। वह दुर्बुद्धि साधु मूलस्थान को प्राप्त होता है। वह केवल नग्न द्रव्यलिंगी है।
वह आचार्य कैसे हो सकता है ?

जो साधु कुल, ग्राम, नगर और राज्य से अपना सम्बन्ध त्याग चुका है और फिर भी इनसे ममत्व रखता है—यह मेरा कुल है,
यह मेरा ग्राम, नगर और राज्य है, इस प्रकार का सङ्कल्प करता है—वह संयम से शून्य नग्न पुरुष मात्र है। क्योंकि जिस पदार्थ में जो ममत्व
रखता है, वह उसके संयोग मे हर्षित और वियोग में दुःखित होता है; अतः जो रागद्वेष और लोभ मे तत्पर रहता है वह असयमी होता है
ऐसा ध्रुव सत्य मानना चाहिए।

हे मुनिनायक! किसी साधु के अपराधों को किसी दूसरे पर प्रकट मत करना। उसने अपने संयम जीवन की बागडोर तुम्हें सौंप
रखी है; अतः वह तुम पर विश्वास रखकर अपने गुप्त से गुप्त दोषों को प्रकाशित कर देता है। तुम्हारा परम कर्त्तव्य है कि तुम उनको कभी
प्रकाशित न करो। तुम सब कार्यों में सबके प्रति समदर्शी रहो तथा बाल मुनि से लेकर वृद्धि मुनि तक समस्त सङ्घस्थित मुनियों का अपने
नेत्र के बाल के समान संरक्षण करो।

हे सङ्घाधिपते ! जिस देश मे कोई राजा न हो, अथवा राज विप्लव हो रहा हो या दुष्ट राजा का शासन हो, वहां पर कदापि
मत रहो। जहां पर धर्मपरायण श्रावक जन न हों या तुम्हारे संयम का विघात होता हो, उस देश में विहार मत करो। इस प्रकार संक्षेप से
तुम्हें शिक्षा दी गई है। अतः अपना तथा सङ्घ का योग क्षेम साधन करते हुए, धार्मिक जनता को धर्म मे स्थिर करना और धर्म के पात्र सरल
चित्त मनुष्यों को धर्म पर लगाना अपना कर्त्तव्य समझो। आर्य प्रदेश मे आगमोक्त विधि का पालन करते हुए इस प्रकार निरन्तर विहार करना
ही मङ्गलकारी है।

हे मुनियो ! तुमने मुनि पद को धारण किया है। उसके आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओं
का पालन करना तुम्हारा आवश्यक कर्त्तव्य है। क्योंकि ये आवश्यक क्रियाएं तप और संयम की आधारभूत होती हैं। जब मुनि
सामायिकादि आवश्यक क्रियाओं में तत्पर रहता है, उस समय उसके इन्द्रिय संयम और प्राणी-संयम दोनों संयमों का पालन होता है और
असयम का परिहार होता है। तथा सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं से निवृत्त होने के कारण कर्मों का संवर और आत्मीय कार्यों में लवलीन रहने से
कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए तप की भी सिद्धि होती है क्योंकि जो कर्मों को तपता है, नष्ट करता है, उसे तप कहते हैं। ऐसे तप का

स्वरूप आवश्यक क्रियाओं में पाया जाता है। 'तपसा निर्जरा च' तपस्या से कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। यह तप का कार्य आवश्यक क्रियाओं के सद्भाव में पाया जाता है; अतः आवश्यक क्रियाओं के पालन करने में कभी प्रमाद मत करो।

देखो ! यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, किन्तु विनाश के उन्मुख है और निस्सार है। तुमने मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए अति दुर्लभ जिन दीक्षा ग्रहण की है, यह बड़े पुण्य के उदय से सुन्दर अनुपम अवसर मिला है। जिन दीक्षा धारण करना संसार में अपूर्व दिव्य लाभ है; अतः इसको सार्थक बनाने के लिए आवश्यक क्रियाओं में सदा सावधान रहो।

हे महात्माओ ! जिस समय तुम आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर अवकाश पाओ, उस समय तुमको अपने संयम चारित्र की रक्षार्थ गोचरी के लिए श्रावकों के गृहों में चर्या करनी पड़े, धर्म के पिपासुओं को धर्मोपदेश देना, अथवा उनके साथ धर्म सम्बन्धी वार्तालाप करना पड़े उस समय तुमको ईर्या भाषा एषणा आदि पांच समितियों का पालन करना आवश्यक है। ऋद्धि में रसों, में और सुख में तीव्र अनुराग व अभिलाषा नहीं रखना चाहिए। तीन गुप्ति का पालन करने में निरन्तर दत्तचित्त रहना चाहिए। जिनाज्ञा के विरुद्ध अपनी बुद्धि का उपयोग कदापि न करना चाहिए।

हे आत्मा का साधन करने वाले साधुओ ! आहारादि चार संज्ञाओं और चार कषायों तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का परिहार करो। ये आत्मा को गिराने वाले हैं। संयम और तप के विराधक हैं। इनमें से किसी एक के वशीभूत हुआ आत्मा संयम व चारित्र को खो देता है। तथा पांचो इन्द्रियों की दुष्ट प्रवृत्ति को रोको। ये लुटेरे के समान तुम्हारे संयम व व्रत को लूटने वाले हैं; अतः इनको जीतो अर्थात् अपने अधीन रखो। वे पुरुष पुंगव धन्य हैं, जो शब्दरसादि इन्द्रियों के विषयों से व्याप्त इस लोक में आसक्ति रहित हैं। स्पर्शादि विषय जिनके अन्तःकरण को आकुलित नहीं कर सकते हैं, वे ही सच्चे आत्म-गवेषी हैं। ज्ञान और चारित्र में लवलीन रहने वाले ऐसे ही महात्मा मनु के आदर के पात्र होते हैं।

हे साधुओ ! जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में बड़े हैं, वे गुरु कहलाते हैं। अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु ये गुरु हैं। आप लोग उनकी सेवा शुश्रूषा करो। सेवा शुश्रूषा करके लाभ, कीर्ति और आदर-सत्कार की इच्छा मत रखो। केवल गुणोंमें भक्ति श्रद्धा रखकर सेवा शुश्रूषा करो। जो जिसकी भक्ति करता है, उसके गुणों का प्रभाव भक्त श्रद्धालु की आत्मा पर अवश्य अंकित होता है। वह भक्त भी कुछ समय के अनन्तर वैसा ही गुणी हो जाता है। तथा गुरुओं की शुश्रूषा करने से उनके रत्नत्रय के प्रति अनुमोदना होती है। और अनुमोदना से बिना परिश्रम के पुण्य की उत्पत्ति होती है, जिससे सब सुयोग्य साधनों की प्राप्ति हो जाती है।

हे मुनियो! यद्यपि तुम्हारा कर्त्तव्य आवश्यक क्रियाओं का आचरण, स्वाध्याय, ध्यानादि हैं, अर्हन्त और सिद्ध की प्रतिमा का दर्शन तुम्हारे लिए आवश्यक नहीं है, जैसा कि गृहस्थ (श्रावक) को आवश्यक है; किन्तु उनका सुयोग मिलने पर प्रत्यक्ष में अथवा परोक्ष में कृत्रिम और अकृत्रिम अर्हन्त व सिद्ध-प्रतिमा की भक्ति अवश्य करनी चाहिए। जैसे मित्र तथा शत्रु का चित्र या मूर्ति आत्मा में शीघ्र रागद्वेष भावना को जन्म देती है; और जैसे मित्र या शत्रु का चित्र या मूर्ति ने तो तुम्हारा उस समय कोई उपकार या अपकार नहीं किया है, तो भी उनका गुण स्मरण हो जाने से प्रेम व वैरभाव उदित हो आता है, वैसे ही अर्हन्त और सिद्ध की प्रतिमा के दर्शन व भक्ति करने से, उनके गुणों का स्मरण होने पर आत्मा के वीतराग भाव की उत्पत्ति या पुष्टि होती है, रत्नत्रय के पालने में तत्परता होती है। उनकी भक्ति संवर और पूर्व बन्धे हुए कर्मों की अपूर्व निर्जरा की करने वाली है। इसलिए चैत्यभक्ति अत्यन्त उपयोगी है, उसको नित्य करो।

आचार्यों के लिए आवश्यक विनय और उसके भेद

दर्शन ज्ञान चारित्र तप [illegible] और इनके पालक साधु महात्माओं का विनय करो। 'विनय नयति कर्ममलमिति विनयः' जो कर्म मल का नाशक है, उसे विनय कहते हैं।

दर्शनविनय—शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा आदि आठ मलदोष, देव मूढतादि तीन मूढता, छह अनायतन और आठ मद इन पच्चीस दोषों का परित्याग कर सम्यग्दर्शन को निर्मल करो। इन पच्चीस दोषों में से जिस शङ्कादि दोष की उत्पत्ति की सम्भावना तुम्हारी आत्मा में हो, उसको दूर करो उससे तुम्हारा सम्यग्दर्शन अत्यन्त निर्मल होकर तुम्हें मोक्ष के अतिनिकट पहुंचावेगा।

ज्ञानविनय—आगम में सूत्रों के वाचनादि का जो काल कहा गया, उसका विवेचन ज्ञानविनयाचार के प्रकरण में कर आये हैं, उसके अनुसार योग्य काल में स्वाध्याय करो। श्रुत का अध्ययन कराने वाले गुरु का नाम मत छिपाओ, उनकी भक्ति करो। कुछ तपस्या ग्रहण कर श्रुत का आदर पूर्वक अध्ययन करो। श्रुतज्ञान का शब्दशुद्धि, अर्थशुद्धि और उभयशुद्धि के साथ अध्ययन करो। इस तरह विनय पूर्वक अध्ययन किया गया श्रुतज्ञान कर्मों का संवर और निर्जरा करता है। किन्तु विनय रहित अध्ययन किया गया श्रुतज्ञान ज्ञानावरण कर्म का बन्ध करता है।

चारित्रविनय—अनन्त काल से जीव का इन्द्रियों के प्रिय व अप्रिय स्पर्शादि विषयों में रागद्वेष करने का अभ्यास हो रहा है। क्रोधादि कषायों का भी सब जीवों के उदय है; बाह्य निमित्त को पाकर वे प्रकट हो जाते हैं, उनके उदय से चारित्र का घात होता है। मन वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति से तथा रागद्वेष के आविर्भाव से कर्म आते हैं और चिपटते हैं। पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और वनस्पति

कायिक ये पांच स्थावर जीव और द्वीन्द्रियादि त्रसजीव इन छह काय के जीवों को बाधा पहुंचाने वाला गमनागमन करना, मिथ्यात्व या असयम में प्रवृति करने वाले वचन बोलना, साक्षात् या परम्परा जीवों की पीड़ा पहुंचाने वाले भोजन का ग्रहण करना, किसी वस्तु को बिना देखे और बिना पिच्छी स पोंछे भूमि पर धरना या उठाना, भूमि को बिना देखे मल मूत्रादि क्रिया करना, ये सब क्रियाएँ पाप जनक हैं, इनका त्याग करने से चारित्र विनय होता है। ऊपर कही गई अशुभ क्रियाओं के त्याग के बिना चारित्र नहीं होता है। उक्त क्रियाएं आरम्भ-जनक है। और आरम्भ करने वाले के चारित्र का अभाव होता है। इसलिए यत्नपूर्वक उन सब क्रियाओं का त्याग करके अपने चारित्र को उज्ज्वल बनाओ।

तपोविनय—अनशन (उपवास), अवमौदर्य (ऊनोदर)आदि तप के करने से उत्पन्न शारीरिक व मानसिक कष्ट को सहन कर लेना तपोविनय है। यदि तप के द्वारा आत्मा में संक्लेश भाव उत्पन्न हों तो उससे महान कर्म बन्ध होता है और अल्प निर्जरा होती है। इसलिए उतनी ही तपस्या करना योग्य है, जिससे तपश्चरण का उत्साह वृद्धिगत होता रहे।

उपचार विनय—गुरु आदि पूज्य पुरुषों का प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार, नमन, वंदनादि करना उपचार विनय है। जो गुरु आदि का यथायोग्य विनय करता है, उसकी सब प्रशसा करते हैं और उसको उत्तम समझकर बुद्धिमान पूजते हैं और जो विनय नहीं करते हैं उसको सब लोग निन्दा व अवहेलना करते हैं। जो साधु अपने गुरु आदि पूज्य पुरुषों की मन वचन काय से विनय नहीं करता है अर्थात् जो गुरु आदि की मन से अवज्ञा करता है, उनके आसन से उठने पर या बाहर से आने पर नहीं उठता है, जाते हुए के पीछे कुछ दूर तक नहीं जाता है, उनको हाथ जोड़कर नमस्कार नहीं करता है, उनकी स्तुति नहीं करता है, उनसे आज्ञा नहीं लेता है, उनके सामने आसन पर बैठा रहता है, आते हुए सम्मुख नहीं जाता है, उनके आगे आगे चलता है, उनकी निन्दा करता है, कठोर वचन कहता है; गाली आदि अपमान जनक वचन बोलता है, वह साधु नीच गोत्र कर्म का बन्ध करता है। उसके फलस्वरूप वह संसार में निन्दनीय कुल में जन्म लेता है। अथवा कूकर शूकरादि योनि में उत्पन्न होता है। अविनीत शिष्य को गुरु से रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है। विनीत शिष्य को गुरु प्रेम से शिक्षा देते हैं, उसका सम्मान करते हैं, इसलिए तुमको विनय में तत्पर रहना चाहिए। अविनय मे महान् दोष हैं और विनय में महान् गुण हैं, ऐसा समझकर विनय में तत्परता धारण करो। और नित्य स्वाध्याय में अर्थात् जीवादि तत्त्वों के मनन में उनके प्ररूपक शास्त्रों के अध्ययन में तल्लीन रहो। निद्रा, हास्य, क्रीड़ा आलस्य और लौकिक वार्तालाप का त्याग करो। शास्त्र मे कहा है :—

"णिद्दं ण बहु मण्णेज्ज हासं खेडं विवज्जए।
जोग्गं समणधम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥ १ ॥"

अर्थ—निद्रा को बहुमान मत दो अर्थात् अल्प निद्रा लो, कारण कि निद्रा आत्मा को चेतना (उपयोग) हीन अज्ञानमय बना देती है, और शुभ क्रियाओं से वंचित कर प्रमादी करती है। उतनी नींद लो, जिससे दिन भर का स्वाध्यायादि से जन्य श्रम दूर हो जाये। हंसी मखौल मत करो। पूज्य पुरुषों (साधुओं) को असयमी जन के समान हंसना शोभा नहीं देता है। किसी प्रकार की क्रीडा न करो। अर्थात् बालक के समान व्यर्थ के कामों मे मन को मत बहलाओ। तुम्हें तो आगम में ही क्रीडा करनी चाहिए। तुम आलस्यहीन होकर मुनि-धर्म के योग्य कार्यों मे अपने चित को लगाते रहो।

हे धर्म धुरन्धरो! तुम धर्म के प्रवर्त्तक हो, अतः क्षुधा पिपासा आदि परीषह के प्राप्त होने पर तथा अशिष्ट ग्रामीण पुरुषों के अनुचित भाषण से या दुर्जनो के कटु कठोर गाली आदि सुनकर आत्मा मे ग्लानि उत्पन्न कर धर्म का कदापि त्याग न कर देना। कभी २ दुर्जन व क्रूर प्राणी ऐसे मर्मभेदी दुर्वचनो का प्रहार करते हैं, जिनका सहन करना अति कठिन हो जाता है; परन्तु वस्तुस्वरूप का चिन्तन कर मनको समझाना चाहिये।

हे मुनिवृन्द! देखो, जो देवेन्द्रों से पूजनीय हैं, चार ज्ञान के धारक हैं, जिनको उसी पर्याय मे मोक्ष की प्राप्ति का पूर्ण निश्चय है, ऐसे तीर्थंकर भी अपने बल वीर्य को न छिपाकर तप में पूर्ण उद्योग करते हैं, छह २ मास तक के उपवास और आतपन योगादि कायक्लेश तप के करने में सदा तत्पर रहते हैं; तो अन्य साधुओं का क्या कहना? उनको तो अपने महान् कर्मों का क्षय करना है। अतः उनको तो इसमे अधिक तत्पर रहना चाहिए।

हे आत्म-हित-चिन्तको! तुम्हारी आयु, शरीर, बल और आरोग्य का विनाश न जाने कब हो जावेगा। इसका काल नियत तो है नहीं। क्योंकि मृत्यु दावानल के समान है, न जाने किस समय इस जगत् रूपी वन को भस्म करदे। हमको इसका ज्ञान नहीं कि मृत्यु कब आयगी? काल की गति अति तीव्र है; एक क्षण भर में इस शरीर का विध्वंस कर सकती है। जब तक काल का आगमन नहीं हुआ तब तक इस शरीर से तपस्या करलो। काल के निवास करने का कोई क्षेत्र नियत नहीं है। जैसे गाड़ी रथादि भूतल पर ही गमन कर सकते हैं, सूर्य चन्द्र ग्रहादि आकाश मे ही भ्रमण करते हैं, मगर मच्छादि जल में ही गति करते हैं, वैसे मृत्यु के गमन प्रदेश निश्चित नहीं है। वह तो जल, स्थल और आकाश सर्वत्र अप्रतिहत गति है। ऐसे स्थान भी हैं, जहां अग्नि चन्द्र व सूर्य की किरण, शीत उष्ण वात और बर्फ का प्रवेश नहीं हो सकता है; किन्तु ऐसा कोई स्थान (क्षेत्र) नहीं हैं। जहां काल का प्रवेश नहीं है, वात पित्त कफ शीत वर्षा घाम आदि का प्रतीकार किया जा सकता है; किन्तु संसार में काल (मृत्यु) का प्रतीकार करना अशक्य है। रोगों की उत्पत्ति के कारण वात पित्त कफ की विषमता तथा प्रकृति विरुद्ध आहार विहारादि हैं। परन्तु अकाल मृत्यु के तो कारण संसार के सब पदार्थ हैं। अर्थात् किसी भी बाह्य पदार्थ के निमित्त से प्राणियों का मरण हो सकता है।

हे संसार भीरुओ ! काल का कोई समय भी नियत नहीं है। वर्षा, शीत और गर्मी का समय नियत है, वैसा मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है। जैसे जनशून्य महा अरण्य में सिंह के मुख में प्रविष्ट खरगोश की रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं है, वैसे ही काल के मुख में प्रविष्ट हुए इस प्राणी की रक्षा करने वाला इस संसार में कोई नहीं है। मृत्यु के बिना भी अन्य वस्तुओं से भी उसे भय लगा ही रहता है। कभी रोग का भय होता है, तो कभी वज्रपातादि से भीति बनी रही है। जैसे वज्र अचानक आकाश से गिर पड़ता है, अचानक व्याधि उत्पन्न होकर शरीर को त्रस्त कर देती है, वैसे ही मृत्यु अकस्मात् आकर प्राणी को दबोच लेती है।

हे मुनिवृन्द ! बाल और वृद्ध मुनियों से परिपूर्ण इस मुनि संघ का वैयावृत्त्य भक्ति पूर्वक करो। इस महान् कार्य में अपनी शक्ति को न छिपाओ। क्योंकि वैयावृत्त्य करना मुनि का परम कर्त्तव्य है। यह अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करने वाला है, ऐसी जिनेन्द्र देव की आज्ञा है। यह वैयावृत्त्य स्व पर के रत्नत्रय को उद्दीप्त करने वाला है तथा कर्म की निर्जरा करने वाला परम तप है। इसलिए वैयावृत्त्य करने में उदासीनता मत धारण करो। प्रतिदिन उत्साह और उमङ्ग से वैयावृत्त्य करने में तत्पर रहो।

यदि मुनि रोगादि से अशक्त हों या वृद्ध हों, उनके शयन स्थान, बैठने का स्थान, उपकरण-पिच्छी, कमण्डलु, पुस्तकादि का प्रतिलेखन (मार्जन शोधन) करो। निर्दोष शास्त्रोक्त विधि सहित आहार व औषध की योजना करो। उनके आत्मा के भावों को निर्मल बनाने के लिए योग्य शास्त्र का स्वाध्याय या उपदेश (व्याख्यान) करो। शक्ति हीन या रोग ग्रस्त मुनियों के मलमूत्र को उठा कर स्वच्छ करो। उन शक्ति हीन साधुओं को उठाकर करवट बदलाओ, सुलावो, बैठे करो।

जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हों, उनकी पगचम्पी करो, हस्तादि का मर्दन करो। जिनपर चारों प्रकारों में से किसी प्रकार का उपद्रव हुआ हो, दुष्ट पशुओं से पीड़ा हुई हो, जो अनीतिपरायण दुष्ट राजाओं से सताये गये हों, नदी के द्वारा या बंदी करने वाले अन्यायी पुरुषों के द्वारा कष्ट पा रहे हों, जो हैजा प्लेग आदि महामारी के शिकार हो गये हों, उन मुनियों का कष्ट अपनी विद्यादि के बल से दूर करो। यदि कोई मुनि दुर्भिक्ष के कारण पीड़ा पा रहे हों तो उनको सुभिक्ष देश में लेजा कर उनकी पीड़ा का निवारण करो। अधीर मुनियों को धैर्य बधाओ कि 'हे महात्माओ ! आप किसी बात का भय न करो, हम आपकी हर तरह सेवा टहल करेंगे, आपको किसी प्रकार का क्लेश न होने देंगे।' ऐसे कोमल व सान्त्वना के वचन कहकर उनको धीरज बधाओ। इस प्रकार वैयावृत्त्य करने से मुनि धर्म की रक्षा होती है, धर्म मे उत्साह बढता है, और मुनियों का संरक्षण होता है। जिस सङ्घ में वैयावृत्त्य करने मे परायण और सेवा चतुर साधु होते हैं, उस सङ्घ के मुनियों की संसार मे ख्याति होती है, जनता की उनपर स्वाभाविक भक्ति होती है एवं मुनि-धर्म के प्रति रुचि बढती है।

स. प्र.

किन्तु, हे साधुओ! वैयावृत्त्य वही प्रशस्त और कल्याण का करने वाला है; जो आगम के अनुकूल है। मुनियों को वैयावृत्त्य की जिनेश्वर देव ने जैसी आज्ञा दी है, उसके अनुसार किया गया वैयावृत्त्य धर्म की वृद्धि करने वाला होता है। जो साधु अपनी शक्ति को न छिपाकर पूर्ण श्रम से वैयावृत्त्य करता है, लेकिन वह भगवान् की आज्ञा के प्रतिकूल करता है तो उसको धर्म का घातक धर्महीन माना है।

जो साधु अपने मुनिपद की अवहेलना कर असंयमी जनों की पदचम्पी करता है, उनके हस्त मस्तकादि अंगों और उपांगों का मर्दन करता है या उनकी औषधि आदि का सदोष प्रयत्न करता है, वह जिनेन्द्र के शासन का तिरस्कार करने वाला तथा मुनिधर्म की महिमा का विनाश करने वाला है। साधुओं का भी वैयावृत्त्य करते समय आगम विधि पर ध्यान रखना चाहिए। दोष पूर्ण वैयावृत्त्य करने वाला संयमी अपना तथा दूसरे का (जिसकी वैयावृत्त्य कर रहा है उसका) अकल्याण करता है। इसलिए हे साधुओ! वैयावृत्त्य अवश्य करो, यह तुम्हारा प्रधान कर्त्तव्य है, किन्तु उचित व जिनेन्द्र देव की आज्ञा के अनुकूल करो।

हे जिनाज्ञापालक मुनियो! तुमने तो साक्षात् जिनेन्द्र समान लिंग (भेष) धारण कर लिया है; अतः यदि तुमने जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन न किया तो तुम महा अपराधी सिद्ध होओगे। क्योंकि तुम धर्म के ध्वज हो, जिनेन्द्र देव के पश्चात् तुम ही धर्म की धुरा के धारक हो। वैयावृत्त्य करने से मुनिधर्म की रक्षा होती है। श्रुत धर्म की आराधना होती है। जो साधु वैयावृत्त्य करने मे उदासीनता दिखाता है, वह जिनाज्ञा का लोपक है। श्रुतधर्म का विराधक है। वह मुनि के आचार का नाशक है। वैयावृत्त्य तप में उद्योग हीन साधु इतर मुनियों का सहयोग नहीं पाता है। उसको वैयावृत्त्य करने से विमुख हुआ देखकर इतर साधु भी मुनि सब से पराङ्मुख होजाते हैं। इससे सङ्घ का भङ्ग होता है। सङ्कट मे सहायता न करने वाले मुनि का सब लोग त्याग करते हैं। उसपर सङ्कट आने पर इतर साधुजन भी उसकी उपेक्षा करने लगते हैं। उसका महत्त्व गिर जाता है। सब लोग उसका अनादर करने लगते हैं। धर्म की अवहेलना होती है। वह इस उत्तम कर्त्तव्य से वंचित रहने के कारण अपनी आत्मा का भी शत्रु सिद्ध होता है।

हे साधुओ! स्वाध्याय करना परमोत्तम कार्य है, तथापि वैयावृत्त्य करना उससे भी महान् कार्य है। क्योंकि स्वाध्याय करने वाला साधु केवल अपनी आत्मा की उन्नति कर सकता है, किन्तु वैयावृत्त्य करने वाला संयमी अपनी व दूसरे की उन्नति करता है। गुण-परिणामादि जिनका कि तृतीय किरण में वर्णन कर आये हैं वैयावृत्त्य करने वाले के आत्मा में स्वतः आकर निवास करते हैं। स्वाध्याय करने वाले पर आई हुई विपत्ति का निवारण वैयावृत्त्य करने वाला ही करता है। स्वाध्यायी भी वैयावृत्त्य करने वाले के मुँह की ओर ताकता है, उसकी सहायता की अपेक्षा रखता है। अतएव स्वाध्याय करने वाले से भी श्रेष्ठ वैयावृत्त्य करने वाला महात्मा है।

पू. कि. ५

हे मुनियो ! तुम ब्रह्मचर्यरत्न की रक्षा करने में दत्तचित्त रहो। यद्यपि तुम्हारा आत्मा संवेग वैराग्य से परिपूर्ण है, तथा तुम्हारी दिनचर्या भी ऐसी है,जिसका पूर्णतया पालन करते रहने से उसका पोषण होता है; तथापि बाह्य सम्पर्क बड़ा बलवान् होता है। वह बलात्कार इस कर्म परतन्त्र आत्मा को अपने उत्तम कर्त्तव्य से विमुख कर देता है। इसलिए तुमको ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए तथा रत्नत्रय भावना में लवलीन रहने के लिए आर्यिकाओं का सम्पर्क न होने देना चाहिए। क्योंकि आर्यिका का संसर्ग अग्नि के समान चित्त में सन्ताप उत्पन्न करने वाला है तथा विष के समान संयम जीवन का विघात करने वाला है। वह अपकीर्ति की कालिमा लगाने वाली कज्जल की कोठरी है। आर्यिका के संसर्ग से संभव होने वाले चित्त-संक्लेश और संयम-जीवन का रक्षण तो दुर्धर तपस्वी कर भी सकते हैं; किन्तु जनापवाद से उत्पन्न होने वाली अपकीर्ति से बचना असंभव है।

मुनियों को जनापवाद के मार्ग पर ही न जाना चाहिए। शास्त्रों में कहा है :—

"काये पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत्।
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥ १ ॥"

अर्थात्— यह विनश्वर शरीर तो अवश्य गिरने वाला है; नष्ट होने वाला है, इसकी रक्षा कैसे हो सकती है ? इसकी रक्षा का प्रयत्न करना निष्फल है। इसके द्वारा तो स्थायी रहने वाला यश उपार्जन करना चाहिए। क्योंकि भौतिक शरीर का नाश होने पर भी यह शरीर स्थिर रहता है। इसलिए अपने यश का सदा ध्यान रखना चाहिए। जिसको अपने आत्मीय गुणों की उच्चता का विचार नहीं है, वह कभी आत्मोन्नति करने में कटिबद्ध नहीं रह सकता। वह अपने आत्मा को पतन से नहीं बचा सकता है। अतः अपने ब्रह्मचर्य गुण की महत्ता का रक्षण करने के लिए कभी आर्यिका आदि स्त्रियों का सम्पर्क नहीं करना चाहिए।

हे संसार भीरुओ ! तुमने संसार से डर कर एकान्त निवास किया है। अतः इस एकान्त में भी भय का कारण आर्यिका का सम्पर्क है। इससे स्थविर (वृद्ध) अनशनादि तपस्या में निरन्तर उद्यत रहने वाले तपस्वी, बहु श्रुत (अनेक शास्त्रों के वेत्ता) और जगत् में माननीय प्रभावशाली साधु भी निन्दा के पात्र होते हैं तो शास्त्र के तत्त्व ज्ञान से शून्य, साधारण चारित्र का पालक तरुण (जवान) साधु इस अपवाद (निन्दा) से अपने को किस तरह बचा सकता है ? उसकी निन्दा होना अनिवार्य है। यदि कोई साधु अपने आत्मा को बलवान् व पूर्ण जितेन्द्रिय समझ कर निरर्गल आर्यिकाओं से सम्पर्क बढाता रहे तो उसे अपनी आत्मा का घातक ही समझना चाहिए। क्योंकि कितना भी कठिन जमा हुआ घृत क्यों न हो, वह अग्नि का सम्बन्ध पाकर अवश्य पिघल जाता है। आर्यिका का संसर्ग आत्मा को बांधने वा [illegible] बन्धन बन सकता है।

हे सयमियो ! परम वैराग्य की मूर्ति, तपस्या मे रत, शृंगार हीन,संयम परायण आर्यिकाओं का संसर्ग भी साधु के ब्रह्मचर्य व्रत मे विघ्न उपस्थित करने वाला माना है, तो सयम हीन, शृंगार रस मे रङ्गी हुई ससार के भोग विलास में रत रहने वाली स्त्रियो का संसर्ग साधुओं के लिए कितना घातक हो सकता है ? इसमे प्रमाण व युक्ति की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

इसलिए हे व्रतियो ! यदि तुमको अपने पुनीत व्रतों की रक्षा करनी है, संसार के दुःख से उद्धार करने वाले इस मुनिधर्म का पालन करना है, अपने आत्मा को पाप कालिमा से बचाना है तो तुम किसी भी स्त्री के साथ वार्त्तालाप तक मत करो, उसकी तरफ मत देखो। भुजङ्गनी से भी स्त्री को महा भयानक समझो । भुजगनी का विप तो स्पर्श करने (डंसने) से शरीर में असर करता है; किन्तु स्त्री तो देखने मात्र से ही शरीर और अन्तःकरण को तत्काल विषाक्त कर देती है, और क्षण भर में संयम से रहित करके अनेक भवों में दुःख का अनुभव कराती है। इसलिए भूलकर भी स्त्री का सम्बन्ध न होने दो । यदि वह तुम्हारे निकट धम भावना से भी आकर बैठे तो तुम उस स्थान से अलग हो जाओ । निमित्त कारण बड़ा बलवान् होता है; वह अपना असर किये बिना नहीं रहता है । बहुत दूर पड़े हुए नीबू में इतनी शक्ति होती है कि वह देखने वाले मनुष्य के मुख में पानी उत्पन्न कर देता है । तीव्र शोक अथवा उत्कट सुख के कारणों का समागम होते ही आंखों से अश्रुधारा बहने लगती है। ठीक ही है बाह्य निमित्त के सयोग से वस्तु में परिवर्त्तन हो जाता है । इसी प्रकार स्त्री का सम्पर्क भी मानसिक विचारों मे तत्काल परिवर्त्तन कर देता है । इसलिए जो तुम अपना हित चाहते हो तो स्त्री का सम्पर्क न होने दो, इसी मे तुम्हारा कल्याण है। जो सयमी स्त्री का सम्पर्क करके भी अपने व्रत को अक्षुण्ण बनाये रखने की सम्भावना करता है, वह सर्प के मुख में हाथ देकर जीने की इच्छा रखता है ।

हे व्रतियो ! इसके अतिरिक्त रुपये पैसा आदि पदार्थ जो तुम्हारे व्रत संयम के नाशक हैं, उनका भी अवश्य दूर से परिहार करो । उनका स्पर्श तक न करो । व्रतों की रक्षा उसी सयमी के होती है, जो उनमें विघ्न बाधा पहुचाने वाले कारणों से सम्पर्क नहीं रखता है । व्रत बाधक पदार्थों का सयोग रखने वाला संयमी अपने संयम व्रत से अवश्य गिर जाता है । इसलिए तुम्हें उन सब विपरीत कारणो से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए ।

हे पवित्र चारित्र के पालको ! सङ्घ में चारित्रहीन साधुओं का सम्पर्क मत होने दो । पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और मृग चारित्र ये पाच प्रकार के भ्रष्ट साधु हैं । इन पतित साधुओं का दूर से ही परित्याग करो । 'संसर्गजा दोप गुणा भवन्ति' जिसका संसर्ग होता है, उस व्यक्ति के गुण व दोप संसर्ग करने वाले मे अवश्य आते हैं । जैसे कस्तूरी के संसर्ग से वस्त्र में सुगन्ध और लहसन के संगम से दुर्गन्ध स्वतः आती है, इसमे अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती है । इसी प्रकार हीनाचारी पुरुषों के समागम से आचार में

हीनता स्वतः आजाती है। इसलिए अपने चारित्र को निर्मल व उन्नत बनाने वाले साधुओं को मलीन व भ्रष्ट चारित्र वाले साधुओं का समागम न करना चाहिए। पार्श्वस्थादि साध्वाभासों का स्वरूप पहले वर्णन कर दिया गया है। वहां से उनका स्वरूप जान कर उनकी सङ्गति का परित्याग करना चाहिए।

पार्श्वस्थादि साधुओं की सङ्गति करने वाले माधु का किस तरह पतन होता है—इसके विषय में भगवती आराधना में निम्न प्रकार कहा है—

लज्जं तदो विहिंसं पारंभं णिव्विसङ्कदं चेव।
पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ॥ ३४०॥

अर्थ—पार्श्वस्थादि साध्वाभासों की सङ्गति करने वाले मुनि को पहले पहल तो लज्जा आती है। उसके यह विचार उत्पन्न होता है कि मुझे इन पतित साधुओं के साथ मे देखकर अन्य लोग क्या कहेंगे? पश्चात् मनमे ग्लानि भी होती है कि मैं आत्मा के पतन कराने वाले इस व्रत भङ्ग कारक कुकृत्य को कैसे करूं, इससे मेरा महान पतन होगा। तदनन्तर चारित्र मोह के उदय से व्रत भङ्ग कारक कार्य का प्रारम्भ करता है। व्रत भङ्ग करने के बाद वह साधु निःशङ्क होकर आरम्भ परिग्रहादि पाप कृत्यों में प्रवृत्ति करता है। जो साधु पार्श्वस्थादि के संसर्ग होने के पहले धर्म प्रिय था। धम को प्राणों से भी प्यारा मानता था, वही साधु चारित्र हीन साधुओं के सम्पर्क से क्रमशः लज्जा ग्लानि पाप कार्यों मे प्रवृत्ति तथा उसमें शङ्का रहित होकर पार्श्वस्थादि साध्वाभासों के समान चारित्र हीन बन जाता है।

यद्यपि कोई संसार से भय भीत साधु पार्श्वस्थादि के संसर्ग से वचन और कार्य द्वारा आगम विपरीत कोई कार्य नहीं करता है; तथापि पार्श्वस्थादि का समागम उनके प्रति प्रेम की वृद्धि करता है। कारण कि अनादिकाल से इस जीव ने संसार में पतन करने वाले इन्द्रिय सुख को अच्छा मान रखा है और उसी का सतत अनुभव करता रहा है। चारित्र मोहनीय कर्म का मन्द उदय होने पर सद्गुरु के संयोग से उसने संयम ग्रहण किया है, किन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाले इन्द्रियों के दास पार्श्वस्थादि का संसर्ग पाकर पुनः वह सांसारिक सुख में झुक जाता है और उनसे स्नेह बढ जाता है। स्नेह के बढने से उनमें विश्वास होने लगता है। पश्चात् वह साधु स्वयं पार्श्वस्थादि बन जाता है। जैसे नूतन मिट्टी के पात्र में सुगन्धित पदार्थ रखने से वह सुगन्ध मय हो जाता है एवं मिट्टी का तैल भरने पर उसमें वैसी ही दुर्गंध आने लगती है। वैसे ही पार्श्वस्थादि के संसर्ग से उस साधु मे पार्श्वस्थादि के गुणों का संक्रमण उत्पन्न हो जाता है। यह उचित ही है जो वस्तु जिसका संसर्ग करती है, वह कुछ समय मे तन्मय हो जाती है। जैसे कसैला आंवला शक्कर के रस का संसर्ग पाकर अपने कसैले स्वभाव को छोड़कर मीठा हो जाता है। और अग्नि के संयोग से शीतल जल अपने स्वभाव का त्याग कर उष्ण हो जाता है। वैसे दुर्जन मनुष्यों के संसर्ग से सज्जन

हे साधुओ ! रत्नत्रय से पतित आरम्भ परिग्रहादि मे आसक्त चारित्र हीन पार्श्वस्थादि की
प्रकृति का मनुष्य भी दुर्जन बन जाता है । अतएव हे साधुओ ! रत्नत्रय से पतित आरम्भ परिग्रहादि मे है क्योंकि निमित्तों की प्रबलता
संगति न करो । तुम ऐसा न समझो कि हम शुद्ध हैं तो उन (पार्श्वस्थादि) का संसर्ग हमारा क्या कर सकता
कम नहीं होती ।

हे संयमियो ! तुममे से कई साधु ऐसा भी प्रश्न कर सकते हैं कि जो मुनीश्वर अति दृढ संयमी हैं, जिनका चित्त मेरु समान
अचल है । यदि वे पार्श्वस्थादि के साथ सम्पर्क रखें तो उनको क्या हानि हो सकती है ?

इसका उत्तर यह है कि निमित्त मे अचिन्त्य शक्ति है । प्राचीन काल के अनेक धीर वीर महर्षि भी विपरीत निमित्त को पाकर
चारित्र से पतित होगये हैं । श्री माघनन्दी समान महामुनि भी प्रतिकूल निमित्त को पाकर संयम से हाथ धो बैठे थे, तो आधुनिक अल्पशक्ति
के धारक साधुओ की कहा चली । मान भी लें कि अब भी किसी महा मनस्वी तीव्र तपस्वी पर पार्श्वस्थादि का ससर्ग कुछ भी असर नहीं कर
सकता तथापि उनका लोकापवाद तो अवश्यभावी है । साधारण लोग समझने लगते हैं कि पार्श्वस्थादि- सयम भ्रष्ट साधुओं का सङ्ग करने
वाला यह साधु भी संयमहीन प्रतीत होता है, अन्यथा यह पार्श्वस्थादि के साथ सम्पर्क क्यों रखता ।

कुत्सित आचरण वाले व्यक्ति का ससर्ग उग्र तपस्वी निर्मल चारित्र के पालक मुनि को भी दोषी प्रसिद्ध करता है और दुर्जन के
दोष का फल सज्जन को भोगना पड़ता है । जैसे किसी चोर के साथ सम्बन्ध रखने वाला साहूकार भी चोर के अपराध से दोषी माना जाता
है । पुलिस चोरी के अभियोग मे साहूकार को गिरफ्तार कर लेती है । तथा असंयमी (भ्रष्ट संयमी) के साथ रहने से संयमी का भी चारित्र
लुट जाता है । जैसे-किसी धनिक के साथ लुटेरो के द्वारा निर्धन मनुष्य भी लुट जाता है । जब मनुष्य दुश्चरित्र मनुष्यों के साथ रम जाता है,
तब उसे सज्जन पुरुषों का साथ नहीं सुहाता है, जैसे पित्तज्वर के रोगी को मिश्री मिला दूध भी कड़ुवा लगता है । इसलिए दुर्जनों का सङ्ग
कदापि मत करो । सदा सत्पुरुषों के सङ्ग में ही रहो । देखो सत्पुरुषों के सङ्ग में रहने वाला दुर्जन भी पूजा जाता है, प्रतिष्ठा पाता है । जैसे कि
पुष्प माला में पिरोया हुआ सूत का डोरा भी बड़े २ राजा महाराजाओं और देवी देवताओं के गले में शोभा आदर पाता है ।

यद्यपि तुम ससार के दुःखों से भयभीत हो और संयम के पालन में रत हो, तथापि तुम को अपने संवेग व संयम गुण की
वृद्धि करने के लिए संविग्न और संयमी मुनिराजों के साथ ही रहना चाहिए । देखो, सङ्घ की शोभा साधु संख्या से नहीं होती, किन्तु सच्चारित्र
से होती है । इसलिए लाखों पासत्थादि (पार्श्वस्थादि) चारित्र शून्य साधुओं की अपेक्षा एक सुशील मुनि अति श्रेष्ठ है । क्योंकि कुशील, संयम-
हीन, शिथिलाचारी साधुओं के आश्रय से दर्शन शीलादि का ह्रास होता है और सुशील साधु के निमित्त से सङ्घ में शील, दर्शन, ज्ञान और
चारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है । अतः उत्तम शील व संयम के धारक मुनि का ही आश्रय करो । देखो, कड़ुवी तूम्बी में रखा हुआ मिश्री

मिश्रित दुग्ध भी कड़ुवा हो जाता है। और इक्षुकी जड़ में सींचा गया खारा जल भी मिष्ट हो जाता है;क्योंकि वस्तु को जैसा आश्रय मिलता है वह वैसी ही परिणत होती है। अतः तुम भी सत्पुरुषों की ही सङ्गति करो।

तुमको सदा हित, मित व प्रिय वचन ही बोलना उचित है। कभी किसी के प्रति अप्रिय तथा अहितकर वचन उच्चारण मत करो। किन्तु ऐसा प्रिय वचन भी न कहो जिससे दूसरे की अवनति या दुर्गुणों की वृद्धि की सम्भावना हो। यदि किसी के हित के लिए अप्रिय वचन बोलना आवश्यक हो तो उसकी उपेक्षा न करो। जीर्ण ज्वर से पीड़ित रोगी के लिए कटुक औषधि ही पथ्य (हितकर) होती है वैसे ही तुम्हारा कटु भाषण भी उसके दुर्गुण का नाश करने वाला होगा। अतः दूसरे के उपकार की ओर भी तुम्हारा ध्यान रहना चाहिए।

परम भट्टारक देवाधिदेव तीर्थंकर भी भव्य प्राणियों के कल्याण के लिए धर्मविहार करते हैं। उन्होंने दूसरों के दुःखोद्धार करने की उत्कट भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है। स्वपर के आध्यात्मिकोत्थान के लिए कमर कसे रहना महान् पुरुषों का परम कर्त्तव्य है और परोपकार ही महत्ता का लक्षण है। किसी ने कहा है—

"क्षुद्राःसन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं वाड़वो।
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये॥ १ ॥"

अर्थ—ऐसे क्षुद्र प्राणी इस संसार मे हजारों हैं, जो अपने भरण पोषणादि (स्वार्थ सिद्धि) करने मात्र में तत्पर हैं। किन्तु जो परार्थ को ही स्वार्थ मानते हैं, ऐसे सत्पुरुषों मे अग्रणी (अग्रेसर) पुरुष पुंगव एक आध ही होते हैं। वे ही धन्य हैं। वड़वानल अपने विशाल उदर को भरने के लिए सर्वदा समुद्र का जल पीता है। वह क्षुद्र मानव के समान स्वार्थ परायण है। परन्तु मेघ ग्रीष्म काल के संताप से पीड़ित समस्त संसार के प्राणियों के सताप को मिटाने के लिए ही समुद्र के जल को पीता है। वह जगत् मे महान् माना जाता है और उसकी ओर समस्त संसार की आशा भरी दृष्टि लगी रहती है, तथा उसके दर्शन मात्र से जगत के जन्तु आनन्द का अनुभव करते हैं। इसलिए हे मुनियो! तुम्हें सदा स्वपर कल्याण की ओर ध्यान देना चाहिए।

तुम्हारा सब आचरण व कर्त्तव्य ही ऐसा होना चाहिए जिसका निर्दोष पालन करने से जगत् के प्राणियों का स्वतः उपकार हो

जाता हो । तुम्हारे परम वीतरागता का उद्योत करने वाले दिगम्बर भेष के दर्शन मात्र से जीवों के अन्तःकरण में धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है । तुम्हारे इन्द्रिय संयम की पराकाष्ठा लोगों को सयम का पाठ सिखाती है । तथा तुम्हारा प्राणी संयम (छह कायके जीवो की रक्षा का व्रत) अखिल विश्व के छोटे बड़े सब जीवो को अभयदान देता है तथा तुम पर अटूट श्रद्धा और भक्ति का सञ्चार कराता है । तुम्हारा दिगम्बर शुद्ध स्वरूप ही सब प्राणियों के प्रतीति का कारण है । तुमने जो अहिंसादि व्रत धारण कर रक्खे हैं उनके कारण तुम्हारे आत्मा मे निरन्तर अति निर्मल विचार धारा वहा करती है । दया क्षमा निर्लोभता की पराकाष्ठा तुम मे ही नजर आती है । इसलिए तुम अपनी पदमर्यादा को कभी मत भूलो ।

यदि तुमं मे भी संयोगवश कोई शैथिल्य आजावे या तुम्हारे व्रतादि मे कोई त्रुटि दिखाई दे और गुरु आदि तुमको कटु कठोर शब्दो से सन्मार्ग मे प्रवृत्त करने के लिए उद्यत हों तो तुम्हें उनका उपकार मानकर कृतज्ञ होना चाहिए। गुरु आदि ने अपने कल्याण के काय स्वाध्याय ध्यानादि मे विघ्न करके जो मेरे हित की कामना से यह शिक्षा दी है, यह उनका महान् अनुग्रह है; वड़ा भारी उपकार है शिक्षा को शिरोधार्य करना मेरा परम कर्त्तव्य है-इत्यादि सोचकर तुम्हें परिणाम में हितकर कटु कठोर भाषण का उत्तम औषधि के समान आदर करना उचित है ।

हे साधुवर्ग ! तुम आत्म-प्रशंसा कभी मत करो । जो अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करता है, वह अपने यश का नाश करता है। वह सत्पुरुषों की गोष्ठी मे तृण के समान लघु (हल्का) माना जाता है । उसका यश नष्ट होता है । जैसे खटाई से दूध फट जाता है, वैसे ही आत्म-प्रशंसा से यश, अपयश का स्थान ग्रहण कर लेता है ।

जो अपनी आप प्रशंसा करता है उसके गुणों में लोगों को सन्देह होने लगता है । कस्तूरी की सुगन्ध वचन से प्रकट नहीं की जाती है । वह तो स्वय फैलकर अपना स्वरूप व गुण प्रकट कर देती है । यदि कस्तूरी का व्यापारी अपनी कस्तूरी की सुगन्ध की प्रशंसा का पुल बांधने लगता है तो लोगो को उसकी कस्तूरी मे सन्देह पैदा हो जाता है कि इसकी कस्तूरी नकली मालूम देती है । कोई नपुंसक जैसे स्त्री का भेप धारण कर स्त्री के समान हाव भाव करता है, किन्तु वह स्त्री नहीं हो पाता है ।

गुणवान् सत्पुरुष का स्वभाव होता है कि कोई गुणग्राही सज्जन उसके गुण की प्रशंसा करने लगता है तो उसका मुख नीचे झुक जाता है । वह अपने गुणो का वर्णन अपने मुख से कैसे कर सकता है ? जो अपने गुण की स्वयं प्रशंसा नहीं करता है और अपने कार्य द्वारा गुण प्रकाशित करता है वह संसार में भूरि भूरि प्रशंसा का पात्र होता है । विद्वानो ने कहा है :—

"यदि संति गुणास्तस्य निकषे सन्ति ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकागन्धः शपथेन विभाव्यते ॥ १ ॥"

अर्थ—किसी व्यक्ति में यदि गुण विद्यमान हैं तो गुणग्राही मनुष्यों के परीक्षा रूपी कसौटी पर कसे जाने से वे स्वयं ही प्रगट हो जाते हैं। क्योंकि कस्तूरी की गन्ध सौगन्ध खाने से नहीं मानी जाती, किन्तु वह स्वयं प्रकाश में आजाती है।

अपने गुणों का वचन द्वारा कथन करना तो उनका नाश करना है और गुणों के अनुकूल प्रवृत्ति करना ही उनको प्रकाशित करना है। इसलिए हे मुनियो। तुम कभी अपने मुह से अपने गुणों का कीर्तन न करो। तुम्हारा सदाचार में प्रवर्त्तन ही तुम्हारे गुणों को प्रकाशित करने वाली दुन्दुभि है। यदि गुणहीन पुरुष तुम्हारे गुण को न समझ पावें तो कोई हानि नहीं है। उनके सामने तुम अपने गुणों का कीर्तन करने पर भी महत्ता नहीं पा सकते; क्योंकि वे तुम्हारे गुणों का महत्व ही नहीं समझते हैं। और गुणवानों व गुणज्ञों के मध्य में तुम्हारे गुण बिना कहे ही प्रगट हो जावेंगे। अतः किसी भी जगह अपने गुण वचन द्वारा कभी प्रगट-मत करो। वचन से अपने गुण प्रगट करने वाला महत्व न पाकर लघुता ही पाता है। कहा है :—

निर्गुणो गुणिनां मध्ये ब्रुवाणः स्वगुणं नरः ।
सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥ १ ॥

अर्थ—गुणवान मनुष्य भी जैसे गुणहीन मनुष्यों मे वचन द्वारा अपने गुणों का वर्णन करता हुआ अनादर पाता है, वैसे ही गुणहीन मनुष्य गुणवानों में अपने गुण का बखान करके अपमान पाता है।

इसका आशय यह है कि गुणवान मनुष्य को अपनी प्रशंसा अपने आप कभी नहीं करना चाहिए। अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करने वाले की महिमा घटती है और निरादर होता है।

हे मुनियो। तुम अपने सङ्घ के अथवा पर सङ्घ के किसी मुनि की निन्दा मत करो। क्योंकि परनिन्दा संसार वृक्ष को विस्तृत करने मे जल के समान है। इस प्रकार परनिन्दा परभव में दुःख उत्पन्न करने वाली है। तथा परनिन्दा से इस भव में अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। वैर उत्पन्न होता है। दुःख व शोक होता है। परनिन्दा करने वाले को सदा भय बना रहता है उसकी लोक में लघुता (हलकापन) प्रगट होती है, तथा सज्जन पुरुषों का अप्रिय बन जाता है।

स. प्र.

प्रायः मनुष्य अपने को अच्छा प्रगट करने के लिए दूसरों की निन्दा करता है। किन्तु उसकी यह निन्द्य प्रवृत्ति नितान्त मूर्खता
[illegible] प्रगट करता है। क्या कोई रोगी दूसरे को कडुवी औषधि पिलाकर उस रोग से मुक्त हो सकता है। जो पर निन्दा करके अपने गुण का
प्रकाश करने की चेष्टा करता है, वह मनुष्य अपने को उज्ज्वल बनाने की इच्छा से अपने शरीर के चारों तरफ कज्जल की वृष्टि करता है।
[illegible] रञ्जन को चारों ओर उड़ाने वाला स्वयं अछूता नहीं बचता है, उसी प्रकार दूसरों की निन्दा करने वाला स्वयं निन्दा का पात्र
होता है। तुम सत्पुरुष हो। सत्पुरुष उसे कहते हैं, जो सत्पुरुष का लक्षण धारण करे। शास्त्र कारों ने बताया है कि :—

"अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि।
उदए व तेल्लबिंदू किह सो जंपिहिदि परदोसं॥"

अर्थ—परकीय स्वल्प गुण भी सत्पुरुष को पाकर विशाल रूप धारण कर लेता है। जैसे जल मे गिरी हुई तैल की बूंद विशाल
[illegible] हो जाती है। अर्थात् जैसे जल के सम्बन्ध को प्राप्त हुई तैल की बूंद को जल चारों ओर विस्तृत कर देता है वैसे ही सत्पुरुष छोटे से
[illegible]रकीय गुण की प्रशंसा करके उसे महान् बना देता है।

अतएव हे मुनियो! तुम सदा ऐसा प्रयत्न करो, जिसके कारण संसार के समस्त विवेकी मनुष्य तुम्हें धन्य धन्य कहें और
[illegible] कण्ठ से कहने लगें कि ये मुनि अखण्ड ब्रह्मचर्य के धारक हैं। ये प्रकाण्ड विद्वान् अनेक शास्त्रों के वेत्ता हैं, स्वमत और पर मतों के
[illegible]हस्य के ज्ञाता हैं। ये किसी भी प्राणी को लेशमात्र दुःख नहीं देते हैं। इनका अनुपम चारित्र गङ्गा नदी के जल के समान निर्मल है। ये अपने
[illegible]णों का पूर्ण पालन करते हैं। धन्य है, इन महात्माओं को जो संसारी प्राणियों को अपना आदर्श स्वरूप दिखाकर धर्म में जागृति उत्पन्न कर
[illegible]हे हैं। इस प्रकार का तुम्हारा धवलयश संसार मे फैल कर धर्म प्राण जनता को सन्मार्ग में प्रवृत्ति कराने वाला सिद्ध होता है। यही जैन
[illegible]र्म की उत्तम से उत्तम प्रभावना है। तथा तुम्हारे आत्म कल्याण का मुख्य उपाय है।

इस प्रकार पूर्व आचार्य ने सङ्घ के नवीन आचार्य और सम्पूर्ण मुनिराजों को उपदेश दिया।

इस उपदेश को सुनकर सम्पूर्ण सङ्घ के मुनि समूह ने एक स्वर से कहा—हे स्वामिन् आपके इस मङ्गलमय उपदेश का हम सब
[illegible]दय से स्वागत करते हैं। यह अमृतमय कल्याण करने वाली शिक्षा हृदय पटल पर जीवन भर अङ्कित रहेगी तथा मोक्ष मार्ग की यात्रा में
[illegible]पक का काम करेगी। इस प्रकार कहकर आत्म हित करने के लिए समस्त सङ्घ से पृथक् होने वाले गुरुदेव के गुणों का स्मरण करके भक्ति
आर्द्रचित्त होकर सम्पूर्ण साधुओं के नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगती है और हाथ जोड़कर गुरुदेव के सम्मुख खड़े होकर प्रार्थना

करते हैं—

हे भगवन् ! आपके उपकार का वर्णन करने के लिए हमारे शब्द कोश में कोई शब्द नहीं है। हम इसे कभी नहीं भूल सकते। अमुक कार्य करो, अमुक कार्य मत करो, ऐसी शिक्षा देकर आपने हमको सत्पथ पर लगाया है। ऐसी शिक्षा भाग्यवान् पुरुष ही पाता है। जिसने पूर्व भव में तपस्या की है, उसे ही आप समान गुरुदेव का शरण मिलता है। हम जगत् में परम धन्य हैं जिन्हें ऐसा लोहे पारस का सा सम्बन्ध उपलब्ध हुआ है। लोह समान अधम हमारे आत्मा ने पारस मणि समान आपके संयोग को पाकर सुवर्णवत् उत्तम बनने की योग्यता प्राप्त की है। आपने ससार सागर के अगाध पापमय जल मे डूबते हुए हमको हस्तावलम्बन देकर उबारा है।

हे प्रभो ! हमने अज्ञान से, प्रमाद से अथवा राग द्वेषादि विकारों के आवेश में आकर जो आपकी आज्ञा का लोप किया हो, परिणाम में हितावह आपके आदेश की अवहेलना कर जो प्रतिकूल प्रवृत्ति की हो, उन सब अपराधों की हम हाथ जोड़ कर क्षमा याचना करते है।

हे स्वामिन् ! आपने हम हृदय हीनों को सहृदय बनाया है। आपके सदुपदेश ने हमारे अन्तःकरण में विवेक सूर्य का उदय किया है। जिससे हम आत्म-हित व अहित को समझने लगे हैं। आपने हमको शास्त्रों का अध्ययन करवाकर सकर्ण और सनेत्र बनाया है। अर्थात् शास्त्रों को पढाकर ज्ञान सूर्य का प्रकाश करे कर्ण और नेत्रों को सफल बनाया है। तथा मोक्ष मार्ग में चलाकर और जीव रक्षा की निमित्त भूत प्रतिलेखादि क्रियाओं में प्रवृत्ति करवाकर हमारे चरण और हस्त को कृतार्थ किया है। इस प्रकार मनुष्य जीवन को सफल करने वाले सन्मार्ग (मोक्षमार्ग) मे लगाकर आपने हमको कृतार्थ किया है।

हे भगवन् ! आप सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों के हित कर्त्ता हैं। आप ज्ञान और तप में महान हैं। आप समस्त जगत् के जीवों के स्वामी हैं। आप अब प्रवास करने वाले हैं, अथवा सन्यास मरण को अङ्गीकार करने वाले हैं। अतः हमको सब देश शून्य दिखाई दे रहे हैं तथा सब क्षेत्र अन्धकार मय प्रतीत हो रहे हैं। हे स्वामिन् ! आप शील से मण्डित और गुणों से भूषित हैं और ज्ञान के भण्डार हैं। आप सब जीवों को दुःख से छुड़ाकर सुख प्रदान करने वाले हैं। अब आप प्रवास करने वाले अथवा समाधिमरण धारण करने वाले हैं। ऐसे समय मे हमको सब देश शरण हीन प्रतीत हो रहे हैं।

इस प्रकार वियोग पीडित साधुओं के हृदय द्रावक करुणार्द्र वचन को सुनकर वस्तु स्वरूप के ज्ञाता आचार्य समस्त को सान्त्वना देकर आत्महित कारक रत्नत्रय मे अतिशय प्रवृत्ति करने मे उद्युत हुए आराधना के लिए परसङ्घ में गमन करने की अभिलाषा करते हैं।

शङ्का—पद के आचार्य सन्यास ग्रहण करने के लिए पर सङ्घ मे क्यो जाते हैं, अपने सङ्घ मे ही क्यों नही रहते हैं ?

समाधान— यदि आचार्य अपने सङ्घ में रहकर ही सन्यास ग्रहण करें तो आज्ञा-भङ्ग, कठोर भाषण, कलह, विषाद, खेद, निर्भयता, स्नेह, करुणा, और ध्यान-विघ्न आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। यह इस तरह है :—

यदि आचार्य सङ्घ मे रहें और वृद्ध साधु अयश जनक कार्य कर बैठें तथा गृहस्थ की ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक क्षुल्लक कलह करने मे प्रवृत्त हो जाय तथा समाधि मरण की विधि के अज्ञाता शिष्य मुनि तीक्ष्ण स्वभाव वाले हों और आचार्य की आज्ञा का उल्लंघन करने लग जावें तो आचार्य के चित में अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हो सकता है।

शङ्का—परसङ्घ मे भी शिथिलाचारी वृद्ध मुनि, कलहकारी क्षुल्लक गृहस्थ तथा सन्यास विधि के अज्ञाता शिष्य साधु हो सकते हैं। वहां पर भी आचार्य के चित मे क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रह सकती है।

समाधान—परसङ्घ मे जाकर सन्यास मरण विधि का आचरण करने वाले आचार्य वहां के साधुओं को आज्ञा नहीं देते हैं। उन साधुओं को आज्ञा देने का कर्त्तव्य उस सङ्घ के आचार्य का है। इसलिए वहां आज्ञा-भङ्ग की सम्भावना नहीं है। यदि किसी समय आज्ञा करने का प्रसङ्ग उपस्थित होजावे और साधु या क्षुल्लक आज्ञा न माने तो आचार्य के चित में क्षोभ नहीं होता है। आचार्य को उसी समय विचार होने लगता है कि मैंने इनपर कोई उपकार तो किया नहीं मेरे आदेश का पालन ये क्यों करने लगे? इस प्रकार चित में समाधान हो जाता है।

स्थविर मुनि, कलह मे तत्पर क्षुल्लक गृहस्थ तथा मार्गानभिज्ञ शिष्य मुनि को संयम विरुद्ध आचरण करते हुए देखकर आचार्य, उनके प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करेंगे। और बहुत काल का परिचय होने से वे वृद्ध मुनि, क्षुल्लक व शिष्य साधु भी आचार्य के प्रति कठोर वचन उच्चारण करने लग जावें तो आचार्य के चित मे अत्यन्त अशान्ति उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। इसी प्रकार-वृद्ध साधु, क्षुल्लक गृहस्थ या छोटे२ साधुओं को परस्पर कलह शोक संतापादि उत्पन्न करते हुए देखकर आचार्य के चित में अशान्ति उत्पन्न हो सकती है। अथवा क्षुद्र या महान रोग या भयानक व्याधि से पीड़ित सङ्घ के शिष्यों को देखकर आचार्य के मन में मोह जन्य संताप उत्पन्न हो सकता है तथा उनपर स्नेह का प्रादुर्भाव होने से महान् दुःख उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है।

समाधिमरण में तत्पर हुए आचार्य को क्षुधा पिपासा आदि की बाधा को शान्ति से सहन करना चाहिए। किन्तु वे अपने सङ्घ में निर्भय हुए आहार जलादि की याचना करने लगेंगे। अथवा स्वतःआहारादि का सेवन करने लगेंगे। तथा परित्यक्त भोजन पान के पदार्थों का भी सेवन करने लगेंगे उस समय उनको निवारण करने में कौन समर्थ होगा? अपने सङ्घ में रहने से ऐसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए आचार्य का अपने सङ्घ में रहकर समाधि मरण का साधन करना आगम मे निषेध किया गया है।

जिनका आचार्य ने बाल्यावस्था से पालन किया है ऐसे बाल मुनियों को, वृद्ध मुनियों को और अनाथ आर्यिकाओं को देखकर अब इनसे मेरा अत्यन्त वियोग होगा, ऐसा विचार होने से आचार्य के मनमें स्नेह का आविर्भाव हो सकता है। तथा समाधि मरण के लिए उद्यमशील आचार्य को देखकर छोटे २ बाल मुनि, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, आर्यिका आदि वियोग जन्य दुःख से आर्त्तनाद करने लगते हैं। उनकी दुःख भरी रोने की ध्वनि को सुनकर और नेत्रों से बहती हुई अविरल अश्रुधारा को देखकर आचार्य के अन्तःकरण में कारुण्य का उदय हो आता है और उसीसे उनके धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान के स्थान में आर्त्तध्यान उत्पन्न हो सकता है।

उपर्युक्त सब दोष अपने संघ में रहकर समाधिमरण की साधना करनेवाले आचार्य को ही नहीं होतेहैं,बल्कि जो आचार्य समान उपाध्याय और प्रवर्त्तक मुनि होते हैं, उनके आत्मा में भी इन दोषों की सम्भावना रहती है। अतएव इन दोषों से बचने के लिए आचार्यादि समाधि मरण का साधन करने के लिए परसंघ में प्रवेश करते हैं।

समाधि मरण की साधना के लिए आये हुए आचार्यादि को देखकर परसंघ के आचार्य व अन्य साधुवर्ग के मनमें उत्कट आल्हाद उत्पन्न होता है। हमारा अहोभाग्य है जो हम पर प्रेम व अनुग्रह करके अपने संघ का परित्याग कर ये महाभाग हमारे संघ में पधारे हैं, ऐसे प्रेम से पूरित चित्त परसंघ स्थित मुनिराज आगन्तुक की सेवा करने के लिए तत्परता दिखाते हैं और दत्तचित्त होकर आगन्तुक की परिचर्या करते हैं।

जो आगन्तुक आचार्यादि साधु के समाधिमरण की व्यवस्था करने वाला निर्यापकाचार्य होता है वह शास्त्र का वेत्ता और शुद्ध चारित्र का पालन करने वाला होना चाहिए। तथा उसका प्रधान कर्त्तव्य होता है कि वह आगन्तुक क्षपक (साधु) का पूर्ण आदर-सत्कार करे।

निर्यापकाचार्य आगम का वेत्ता, संसार से भयभीत, पाप कर्मों से डरने वाला, चारित्र का सुचारुता से पालन करने वाला और सन्यास विधि की व्यवस्था करने में निपुण होता है। ऐसे आचार्य के पाद मूल में समाधि मरण का साधक साधु रहकर अपनी आराधना की सिद्धि करता है। जिसमें उक्त गुण नहीं है,वह निर्यापकाचार्य होने योग्य नहीं माना गया है इसलिए समाधिमरण की सिद्धि के अभिलाषी को अपनी अपूर्व आराधना को सफल करने के लिए निर्यापकाचार्य के स्वभाव गुण आदि की परीक्षा करके उसकी शरण ग्रहण करना उचित है।

निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का क्रम

प्रश्न—समाधिमरण का अभिलाषी यति निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है, उसका समय प्रमाण क्या है ? तथा जिस विधि से अन्वेषण करता है, वह विधिक्रम क्या है ?

स. प्र.

उत्तर—समाधिमरण का आकांक्षी आचार्य अथवा अन्य साधु समाधिमरण की साधना के लिए निर्यापकाचार्य का अन्वेपण (तलाश) एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष, अधिक से अधिक बारह वर्ष तक करता है। आगम में उसका क्रम विधान निरूपण किया गया है। भगवती आराधना मे कहा है—

एकं व दो व तिण्णि य बारसवरिसाणि व अयरिसंतो।
णिज्जवयणमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥ ४०२ ॥ भग. आ.

अर्थ—समाधिमरण की कामना करने वाला साधु या आचार्य जिनागम के रहस्य के वेत्ता निर्यापकाचार्य की गवेपणा (तलाश) करता है। उसका काल एक वर्ष दो वर्ष तीन वर्ष उत्कृष्ट बारह वर्ष पर्यन्त कहा गया है। अर्थात् निर्यापकाचार्य की तलाश करने में साधु खेद रहित होकर बारह वर्ष तक भ्रमण कर सकता है।

भावार्थ—आचारवान् आदि गुणों से मण्डित आचार्य ही निर्यापकाचार्य समाधिमरण की साधना करवाने मे समर्थ हो सकते हैं। उनको ढूढने के लिए साधु सातसौ योजन पर्यन्त अथवा इससे भी अधिक दूर क्षेत्र मे विहार करता है। इस विहार काल का परिमाण बारह वर्ष तक का हो सकता है। निर्यापकाचार्य को ढूंढने मे साधु बारह वर्ष तक व्यतीत कर सकता है।

प्रश्न—निर्यापकाचार्य की गवेपणा करने के लिये विहार करने वाले साधु का क्रम निधान क्या है? किस विधि से वह साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेपण करता है?

उत्तर—निर्यापकाचार्य के अन्वेपण करने के लिए विहार करने वाले की विधि पांच प्रकार की है। १ एक रात्रि प्रतिमा कुशल, २ स्वाध्याय कुशल, ३ प्रश्न कुशल, ४ स्थंडिलशायी और ५ आसक्ति रहित ये पांच विधियां हैं।

प्रश्न—एक रात्रि प्रतिमा कुशल किसे कहते हैं?

उत्तर—निर्यापकाचार्य की तलाश में निकलने वाला साधु तीन उपवास करता है और चतुर्थ रात्रि में ग्राम या नगरादि के बाहर प्रदेश में अथवा श्मशान में पूर्व दिशा या उत्तर दिशा में अथवा जिधर जिन प्रतिमा हो उधर मुंह करके दोनों पांवों के मध्य चार अंगुल का अन्तर रखकर खड़ा हुआ नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को निश्चल करके शरीर से ममत्व का परित्याग करता है। अर्थात् चित्त को स्थिर कर कायोत्सर्ग करता है। मनुष्य तिर्यंच देव तथा अचेतन द्वारा किये गये उपसर्ग का शान्ति से सहन करता है। सूर्योदय तक वह मुनि भय से उस स्थान को छोड कर न तो आगे पीछे होता है और न नीचे गिरता है। यह एक रात्रि की प्रतिमा है। इसमे जो कुशल होता है उसे

उसको एक रात्रि प्रतिमा कुशल कहते हैं।

प्रश्न—स्वाध्याय-कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो साधु स्वाध्याय करके दो कोश चलकर जिस क्षेत्र में आहार मिलने की योग्यता हो ऐसे क्षेत्र की वसतिका में जाकर ठहरता है अथवा यदि मार्ग अधिक हो तो सूत्र पौरुषी या अर्थ पौरुषी के समय मङ्गल करके आगे भोजन के लिए विहार करता है उस साधु को स्वाध्याय कुशल कहते हैं।

प्रश्न—प्रश्न-कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—मार्ग में पडने वाले स्थानों में विहार करते हुए मुनियों, आर्यिकाओं, बाल वृद्ध युवक श्रावकों को पूछता हुआ साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है। उसे प्रश्न कुशल कहते हैं।

प्रश्न—स्थंडिलशायी किसे कहते हैं ?

उत्तर—जहां भिक्षा भोजन उपलब्ध हुआ वहां काय शोधन के लिए (मलादि का त्याग करने के लिए) स्थंडिलभूमि (प्रासुक स्थान) का अन्वेषण करता है, रात्रि को स्थंडिल भूमि पर सोता है उसे स्थंडिलशायी कहते हैं।

प्रश्न—आसक्ति रहित किसको कहते हैं।

उत्तर—जो साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करने को निकला है, वह किसी देश, नगर, मनुष्य या भोजनादि में आसक्ति रहित होकर विहार करता हुआ अपने संभोग के योग्य साधुओं के साथ मे मिलकर विहार करता है। अथवा एक दो साधु को अपने साथ मिलाकर विहार करता है उसे आसक्ति रहित कहते हैं।

प्रश्न—समाधिमरण करने की अभिलाषा से कोई साधु या आचार्य विहार कर रहा है और अकस्मात् वाणीभङ्ग हो जावे, अर्थात मूकावस्था प्राप्त होजावे या मृत्यु को प्राप्त होजावे तो क्या वह आराधक माना जाता है ?

उत्तर—उसका उद्देश यह था कि गुरु या आचार्य के निकट जाकर अपने सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करूंगा, इस अभिप्राय से निकले हुए साधु विहार करते हुए गूंगे होजावें या मृत्यु को प्राप्त होजावें तो वे आराधक ही माने गये हैं।

सं. प्र.

शङ्का—जिन्होंने गुरु के समीप आलोचना नहीं की है तथा गुरु प्रदत्त प्रायश्चित का भी आचरण नहीं किया है वे साधु या आचार्य आराधक कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—अपराध करके जो साधु आलोचना नहीं करता है, वह मायावी होता है और जिसके हृदय में माया शल्य रहती है, उसके रत्नत्रय की निर्मलता नहीं होती है। ऐसा सोचकर जिन्होंने अपने अन्तः करण मे शल्य का उद्धार करने का निश्चय किया है; जिनके चित्त मे दुःख से परिपूर्ण ससार से भय उत्पन्न हुआ है, यह शरीर अपवित्र विनश्वर नि.सार और सदा दुःख देने वाला है, तथा इन्द्रिय सुख आपात (प्रारम्भ मे) रमणीय अतृप्ति जनक और तृष्णा को वढाने वाला है ऐसा विचार कर जो शरीर और इन्द्रिय सुख से विरक्त हुए हैं; जिनके मनमे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मे अतिउत्कृष्ट श्रद्धा उत्पन्न हुई है तथा जो अपराध निवेदन करने के लिए गुरु के निकट जा रहे हैं ऐसे साधु या आचार्य के, वचन शक्ति का विनाश मार्ग मे ही होजावे या मरण को प्राप्त होजावे तो वे आलोचना किये विना भी, आलोचना करने के निर्मल भाव होने के कारण रत्नत्रय के आराधक माने गये हैं।

गुरु का अन्वेपण करने के लिए आये हुए साधु या आचार्य को देखकर निर्यापकाचार्य संघ के साधु आदि का क्या कर्त्तव्य कर्म होता है, इसे दिखाते हैं।

आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठिंति सहसा हु दट्ठूणं।

आणा संगह वच्छलदाए चरणे य णादुं च ॥ ४१० ॥ भग. आ.)

अर्थ—निर्यापकाचार्य संघ के साधु, अतिथि साधु को आते हुए देखकर शीघ्र खडे होजाते हैं। खड़े होजाने से जिनाज्ञा का पालन होता है। आगत अतिथि का स्वागत व सग्रह होता है। वात्सल्य प्रदर्शन होता है। और आगत अतिथि के आचार व्यवहार का ज्ञान होता है।

संघ स्थित मुनि और आगन्तुक मुनि एक दूसरे की प्रतिलेखनादि क्रियाओं की परीक्षा करते हैं। कारण कि आचार्यों के आम्नाय व उपदेश भिन्न भिन्न होते हैं। इसलिए उनके आचार मे भेद पाया जाता है। अतएव एक दूसरे की प्रतिलेखनादि आवश्यक क्रियाओं का आचरण देखते हैं। गुप्ति और समिति का पालन सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं।

आशय यह है कि अपने संघ को छोड़कर जो साधु अपने चारित्र को उज्ज्वल करने आया है, वह भी संघ के मुनियो के स्वभाव, उनके सयम पालन व आवश्यक क्रियाओं के आचरणादि की परीक्षा करता है। तथा संघ के साधु भी आगन्तुक के स्वभाव उसके इन्द्रिय विजय रूप संयम और प्राणियों की रक्षा रूप सयम का निरीक्षण करते हैं। यह साधु प्रतिलेखनादि क्रियाओं में किस प्रकार जीव रक्षा

पर ध्यान देता है तथा इसने इन्द्रियों के विषयों पर कितना विजय प्राप्त किया है तथा यह सामायिकादि आवश्यक क्रियाओं का यथा समय प्रमाद रहित होकर आचरण करता है या नहीं ? मन वचन काय की चंचलता को रोकने की इसकी शक्ति कैसी है ? इसका गमन, भाषण, भोजनादि आगम के अनुकूल है या नहीं ? इत्यादि बातों की परीक्षा करते हैं। शास्त्रों में कहा है :—

वास्तव्यागन्तुकाः सम्यग्विविधैः प्रतिलेखनैः।
क्रियाचारित्रबोधाय परीक्षन्ते परस्परम् ॥ ४२२ ॥
आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे।
सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥ ४१२ ॥ (भग. आ.)

अर्थात्—उस संघ में निवास करने वाले व आगन्तुक मुनि परस्पर आचरण में आने वाली क्रिया व चारित्र का पालन कैसा है इसकी परीक्षा करते हैं। एवं आवास, स्थान, प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, विहार और भिक्षा ग्रहण की भी जांच करती है।

अवश्य कर्त्तव्य को आवश्यक कहते हैं। अर्थात् संवर और निर्जरा के अभिलाषी साधु सामायिक प्रतिक्रमणादि क्रियाओं का अवश्य आचरण करते हैं। अतः उनको आवश्यक कहते है। उसका पालन समय पर और विधिपूर्वक करते हैं या नहीं करते ? इसका परस्पर परीक्षण करते हैं। मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक दो नमस्कार बारह आवर्त्त तथा प्रत्येक दिशा की ओर एक एक नमस्कार करने से ४ नमस्कार करना इत्यादि क्रियाओ का पालन ठीक २ रीति से करते हैं, या नहीं ? इसका सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं। नेत्रों से उपकरणों का शोधन कर पिच्छी से मार्जन करना; देख शोध कर व पिच्छिका से मार्जन कर उपकरणादि को उठाना व रखना, हितमित प्रिय वचन बोलना, नेत्रो से चार हाथ भूमि देखकर गमन करना, निर्दोष भिक्षा का ग्रहण करना इत्यादि क्रियाओं में संघ में रहने वाले मुनि और आगन्तुक मुनि परस्पर परीक्षा करते हैं। योग्य काल में और विधि पूर्वक सामायिकादि कर्त्तव्यों का पालन करते हैं या नहीं ? केवल द्रव्य सामायिक में ही प्रवृत्ति करते हैं या भाव सामायिकादि मे भी प्रवृत्त होते हैं ? मुख से केवल सामायिकादि आवश्यक का पाठ (उच्चारण) करना तथा काय द्वारा सामायिकादि क्रिया करना, यह द्रव्य सामायिकादि कहे जाते हैं ? अशुभ मन वचन काय-योग का त्याग करना, तीर्थंकरों के गुणो तथा आचार्य उपाध्यायादि पूज्य पुरुषो के गुणो का स्मरण चिन्तन करना, अपने व्रत मे लगे हुए दोषों की गर्हा व निन्दा करना, त्याग करने योग्य पदार्थों का त्याग करना, शरीर से ममत्व का त्याग करना इत्यादि आवश्यकों के पालन मे जो तल्लीनता दिखाई देती है उसे आवश्यक परिणति कहते हैं। इस आवश्यक परिणति की जांच परस्पर वास्तव्य और आगन्तुक साधु ध्यान पूर्वक करते है।

प्रतिलेखन परीक्षा

यह साधु, प्रतिलेखन क्रिया करने के पूर्व "यह प्रतिलेखन (पिच्छिका) योग्य है या नहीं ?" इस प्रकार देख भाल करता है या नहीं ? गुरु, लघु और सुकुमार प्रतिलेखन (पिच्छिका) से यत्नपूर्वक प्रमार्जन करता है या नहीं ? शीघ्र २ मार्जन करता हुआ दूर के जीवों को नीचे तो नहीं गिरा देता, उनको पीड़ा तो नहीं पहुँचाता या परस्पर विरोधी जीवों का सम्मिश्रण तो नहीं (सम्बन्ध) करता ? आहार करते हुए, आहार करने में प्रवृत्ति करते हुए, अंडो को लेकर निकलते हुए, अपने निवास स्थान में बैठे हुए या मूर्छा को प्राप्त हुए जीवों का तो प्रमार्जन नहीं करता है ? अर्थात् पिच्छिका से उन्हें तितर वितर करके पीडा तो नहीं देता है ? इसकी जाच करते हैं।

वचन परीक्षा

यह साधु कठोर वचन, परनिन्दा और आत्म प्रशंसा कारक वचन, आरम्भ व परिग्रह में प्रवृत्ति कराने वाले वचन, मिथ्यात्व के पोषक वचन, मिथ्याज्ञान के उत्पादक वचन, असत्य वचन या गृहस्थों के उच्चारण करने योग्य वचन तो नहीं बोलता है ? जिसको उठाना या रखना हो उस वस्तु का तथा उनके आधार भूत स्थान का (दोनों का) प्रमार्जन करके उठाता या रखता है ? या बिना प्रमार्जन किये ही उठाता धरता है ? इन बातों का परीक्षण करते हैं।

स्वाध्याय परीक्षा

यह कालादि की अशुद्धि का परिहार करके स्वाध्याय काल मे ही सूत्र ग्रन्थों का स्वाध्याय करता है या अस्वाध्याय कालादि में भी सूत्र ग्रन्थो का स्वाध्याय करता है ? अथवा ग्रन्थ का उच्चारण व अर्थ का व्याख्यान किस प्रकार करता है ? इत्यादि स्वाध्याय की जांच करते हैं।

मलमूत्र क्षपण परीक्षा

मल मूत्रादि के त्याग करने की जांच इस प्रकार करते हैं कि मुनि अपने निवास स्थान से दूर प्रदेश में एक हाथ या इससे अधिक परिमाण युक्त जीव जन्तु रहित, जीवो के बिलादि से वर्जित, समतल स्थंडिल भूमि (जिसमें किसी का निषेध नहीं हो तथा जो मार्ग में चलते हुए मनुष्यों की दृष्टि के अगोचर हो ऐसे) पर मलमूत्र का त्याग करता है या इसके विपरीत स्थान में करता है ? इस प्रकार संघ के मुनि आगन्तुक साधु की व आगन्तुक मुनि संघ के साधुओं की परस्पर परीक्षा करते हैं–जांच करते हैं।

भिक्षा परीक्षा

भिक्षा की परीक्षा इस प्रकार करते हैं-भ्रामरी करते समय अर्थात् गोचरी में निकला हुआ यह मुनि बिना परीक्षा किये शुद्ध अशुद्ध सब का ग्रहण करता है या नवकोटि से शुद्ध आगमोक्त भिक्षा करता है ?

प्रश्न—समाधिमरण की साधना के लिए आये हुए अतिथि मुनि को संघ के आचार्य अपने संघ में शामिल करते हैं या नहीं ?

उत्तर—आगन्तुक मुनि विनय पूर्वक संघ के आचार्य की वन्दना करके अपने उद्देश्य को प्रकट कर उनसे संघ में सम्मिलित करने की प्रार्थना करता है। तब आचार्य योग्य आचरण वाले उस साधु को तीन दिन तक ठहरने को स्थान देते हैं तथा चटाई आदि देकर सहायता करते हैं। किन्तु उसके साथ सभोग (साधु योग्य आचरण) का सम्बन्ध नहीं रखते हैं। तीन दिन पर्यन्त उसकी पूर्व कथित रीति से परीक्षा करने के लिए योग्य मुनियो को नियत करते हैं। वे मुनि आगत साधु की तीन दिन में आचरणादि की जांच करके आचार्य महाराज से निवेदन करते है। उनका वचन सुनकर यदि मुनि आश्रय देने योग्य नहीं होता है तो उसको संघाटक दान (संघ में सम्मिलित) नहीं करते हैं और वसतिका (ठहरने के लिए स्थान) और चटाई आदि की सहायता भी नहीं करते हैं।

आचारहीन साधु को आश्रय देने में हानि

प्रश्न—अयुक्त आचरणवाले आगत साधु को आश्रय देने में क्या हानि होती है ?

उत्तर—जो मुनि उद्गम, उत्पादना एवं एषणा के दोषों को नहीं बचाता है, तथा अपने लगे हुए दोषों की आलोचना नहीं करता है ऐसे मुनि के साथ जो आचार्य रहता है अथवा अन्य मुनियों को उसके साथ रहने की आज्ञा व अनुमति प्रदान करता है, वह भी आगत मुनि के समान दोषी माना जाता है। अतः उस अयुक्त आचरण वाले आगन्तुक को संघ में स्थानादि नहीं देकर संघ से सर्वथा पृथक् कर देना ही उचित है। क्योंकि उसके संसर्ग से संघ के मुनियो में भी आचार हीनता अथवा आचार में शिथिलता आने की सम्भावना रहती है।

प्रश्न—योग्य आचार का पालक आगत साधु आचार्य की बिना परीक्षा किये ही संघ में सम्मिलित होता है कि वह भी आचार्य की परीक्षा करता है। यदि परीक्षा किये बिना ही सङ्घ मे मिल जाता है तो उसके उत्तम कार्य (समाधिमरण) मे विघ्न उपस्थित होने की भी पूर्ण सम्भावना बनी रहती है। यदि आचार्य की परीक्षा करके सङ्घ में सम्मिलित होता है तो उसे निर्यापकाचार्य के किन २ गुणों की परीक्षा करनी चाहिए, जिससे उसको इष्ट कार्य मे सफलता मिले।

स. प्र.

उत्तर—समाधिमरण को निर्विघ्न सम्पन्न करने के इच्छुक आगन्तुक मुनि को आचार्य के गुणों की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए जिसमे निम्नोक्त आठ गुण विद्यमान हो वह निर्यापकाचार्य समाधिमरण कार्य का भले प्रकार सम्पादन करने में शक्तिमान् हो सकता है। इन गुणों का वर्णन आचार्य के गुणों का वर्णन करते समय द्वितीय किरण मे कर आये हैं फिर भी प्रसङ्गवश यहां भी थोडा सा वर्णन किया जाता है।

निर्यापकाचार्य के गुण

१. आचारवान, २. आधारवान्, ३. व्यवहारवान्, ४. प्रकारक, ५. आयापायदर्शनोद्यत, ६. उत्पीड़क, ७. अपरिस्रावी, ८ निर्वापक (सुखकारी) इन आठों गुणो से युक्त प्रसिद्ध कीर्ति आचार्य आगत अतिथि के मनोरथ को पूर्ण कर सकता है।

भगवती आराधना मे वही कहा है :—

आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय ।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव ॥ ४१७ ॥
अप्परिस्साई णिव्वावओ णिज्जावओ पहिदकित्ती ।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥ ४१८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जो महात्मा आचारवान, आधारवान् , व्यवहारवान, प्रकर्त्ता, आयापायदर्शनोद्यत, उत्पीड़क, अपरिस्रावी, निर्वापक इन आठ गुणो से भूपित होता है वह प्रख्यातकीर्त्ति आचार्य निर्यापक होता है। अर्थात आचार्य के यह प्रधान आठ गुण हैं। वे जिसमें पूर्ण रूप से पाये जाते हैं, वह निर्यापकाचार्य आगन्तुक मुनि के समाधिमरण का निर्वाह करने मे समर्थ होता है।

आचारवान आचार्य का स्वरूप

प्रश्न—१ आचारवान् किसे कहते हैं ? उसका विशद विवेचन करके स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर—आचार्य का प्रथम गुण आचारवान् है, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार इन पांच प्रकार के आचार का जो स्वय पालन करते हैं तथा अन्य शिष्यों को पालन करवाते हैं, उन्हें आचारवान् कहते हैं।

इसका आशय यह है कि जो आचारांग ग्रन्थ के तथा उसके रहस्य के वेत्ता हैं और पांच प्रकार के आचार के पालन में स्वयं

प्रवृत्ति करते हैं और दूसरे मुनियों को भी प्रवृत्ति कराते हैं, उन्हें आचारवान कहते हैं।

जीव अजीवादि तत्त्वों का निर्मल श्रद्धान रूप जो परिणाम है, उसे दर्शनाचार कहते हैं। पांच प्रकार के स्वाध्याय में दोष वर्जित प्रवृत्ति करने को ज्ञानाचार कहते हैं। हिंसादि से निवृत्ति रूप आत्म-परिणाम को चारित्राचार कहते हैं। चार प्रकार के आहार का त्याग करना, भूख से कम भोजन करना, दाता, गृह, आहार, वर्त्तन आदि की अटपटी प्रतिज्ञा लेना, रसों का त्याग करना, कायको कष्ट देना, एकान्त स्थान में निवास करना इत्यादि तपस्या करने को तपआचार कहते हैं। तपश्चरण करने मे आत्मा की शक्ति को न छिपाना वीर्याचार कहलाता है। ये पांच प्रकार के आचार हैं।

शङ्का—विनय और आचार में क्या भेद है ? क्योंकि सम्यग्दर्शनादि को निर्मल करना विनय है और उसी को आचार नाम से आपने कह दिया है।

समाधान—सम्यग्दर्शन ज्ञानादि को निर्मल करने के लिए जो यत्न किया जाता है वह तो विनय है और निर्मल किये गये सम्यग्दर्शनादि में यथाशक्ति प्रवृत्ति करना आचार है। इस प्रकार विनय और आचार में भेद है। शास्त्र में कहा है :—

"सद्दृग्धीवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ।
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु॥"

इसका तात्पर्य ऊपर आ गया है।

आचारवान् का अन्य प्रकार से विवेचन

दूसरी तरह भी आचारवत्व गुण का विवेचन निम्नोक्त प्रकार है—

दसविह ठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुदिट्ठो सयायरिओ।
आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥ ४२० ॥ (भग. आ.)

अर्थ—अचेलकतादि दश प्रकार का स्थिति कल्प है, उसमे जो उत्तमता से स्थिर है। तथा पांच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माता का पालक है, वह आचार्य आचारवान् गुण युक्त होता है।

स्थिति कल्प के दस भेद

प्रश्न—इस प्रकार के स्थिति कल्प में स्थिर रहने वाले आचार्य को आचारवान् कहा है। वह स्थिति कल्प कौन सा है ?

उत्तर—१. वस्त्रादि परिग्रह का त्याग करना अर्थात् नग्नपना धारण करना, २. उद्दिष्ट भोजनादि का त्याग, ३. शय्याधर के पिण्ड का त्याग, ४. राजपिंड त्याग, ५. कृतिकर्म, ६. मूलोत्तर गुण परिपालन, ७. ज्येष्ठत्व ८. प्रतिक्रमण, ९. एक निवास और १०. पद्म पर्या अर्थात् वर्षा काल मे चातुर्मासिक निवास। इस प्रकार स्थिति कल्प के दश भेद आगम मे कहे गये है। इनका वर्णन निम्न प्रकार जानना चाहिए।

नग्नत्व स्थिति कल्प

(१) सम्पूर्ण वस्त्रादि परिग्रह के त्याग करने को अथवा नग्नतामात्र को प्रथम स्थिति कल्प कहा है। इसके बिना मुनिपना सम्पन्न नहीं होता है। समस्त वस्त्रादि का परिहार करने स या नग्नता धारण करने से सयम मे विशुद्धता आती है। कारण कि वस्त्रादि धारण करने से उनको धोने से जलादि के जीवों का घात होता है। इससे संयम का विनाश अवश्यंभावी है। नग्नता धारण करने से इन्द्रियों पर विजय होता है। वस्त्रादि का परित्याग करने से लोभादि कषाय का अभाव सिद्ध होता है तथा ध्यान और स्वाध्याय की निर्विघ्न सिद्धि होती है। परिग्रह का अभाव होने से निर्ग्रन्थता और वीतरागता का पोषण होता है। शरीर मे अनादर भाव (अप्रीति) तथा स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है। चित्त मे विशुद्धि विशेष उत्पन्न होती है तथा मनोमालिन्य का अभाव तथा अन्तःकरण की निर्विकारता प्रकट होती है। सदा निर्भीकता रहती है। परिग्रह का त्याग करने से सब जीवों को विश्वास उत्पन्न होता है। प्रक्षालनादि आरम्भ जन्य पाप से निवृत्ति उत्पन्न होती है। शरीर की विभूषा और मूर्छा का अभाव होता है। परिग्रह रूप भार के उतर जाने से आत्मा में लघुता (हल्कापन) आती है। तीर्थंकर भगवान् के समान आचरण का सद्भाव सिद्ध होता है। शारीरिक शक्ति और आत्मीय पराक्रम का प्रकाश होता है। ऐसे ही और भी अपरिमित गुणों की उपलब्धि होती है। इसलिए इसे स्थिति कल्प रूप से भगवान् ने निरूपण किया है।

भगवती आराधना की संस्कृत टीकानुसार इसका वर्णन यह है—वस्त्र पहनने या ओढने से पसीने से जीवों की उत्पत्ति होती है और उनको धोने से उन जीवों की हिंसा होती है; अतः वस्त्र का त्याग करने पर उक्त दोष का अभाव होने से संयम में विशुद्धि उत्पन्न होती है। लज्जाजनक शरीर के विकार को रोकने से इन्द्रिय विजय सिद्ध होता है। चौरादि पर क्रोधादि उत्पन्न करने का कारण वस्त्रादि परिग्रह है। उसका सर्वथा अभाव होने से कषाय का अभाव सम्पन्न होता है। वस्त्र फटजाने पर उसको सीने के लिए सूई धागा कपड़ा आदि प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, उससे ध्यान और स्वाध्याय मे विघ्न बाधा उपस्थित होती है। वस्त्र के त्यागी के ध्यान व स्वाध्याय की निर्विघ्न

सिद्धि होती है। वस्त्रादि में ममत्व होने पर ही मनुष्य उसे पहनता व ओढता है। वायु के कारण शरीर से वस्त्र हट जाने पर पुनः उसे हाथ मे संभाल कर यथास्थान पर करते हैं। इन बातों से वस्त्र धारक के मूर्छा भाव सिद्ध होता है। दिगम्बर (नग्न) मुनि इस महा दूषण से सदा मुक्त रहते हैं। मनोज्ञ व अमनोज्ञ सब प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग करने से रागद्वेष का अभाव (वीतराग भाव) सिद्ध होता है। नग्न मुनि शीत,वात और आतापादि की बाधाओं का सहन करते हैं,अतःउनके शरीर से निस्पृहता सिद्ध होती है। निर्ग्रन्थों को देशान्तर में गमन करते समय दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं होती है; इसलिए उनके स्वतन्त्रपना सिद्ध होता है। विकार भाव को छिपाने के लिए लंगोटी आदि पहनी जाती है। जिसने लंगोटी आदि का परित्याग कर दिया है, उसके चित्त की निर्विकारता प्रकट होती है। वस्त्रादि परिग्रह रखने वालों को चौरादि से मारण ताड़नादि सम्बन्धी भय लगा रहता है। दिगम्बर (नग्न) मुनि इस भय से सदा विमुक्त रहते हैं। वे सर्वदा निर्भय होकर विचरते हैं। नग्न मुनि को किसी द्रव्य से प्रयोजन नहीं होता है। जब कि वे शरीर पर लेशमात्र वस्त्र भी नहीं रखते हैं तब वे अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे करेंगे, ऐसा समझ कर संसार के सब प्राणी उन पर विश्वास करते हैं। चौदह प्रकार के करण रूप परिग्रह के धारक श्वेताम्बर साधुओं के समान दिगम्बर मुनियों को बहुत प्रति लेखन नहीं करना पड़ता है तथा वस्त्रों का प्रक्षालन और बहुत भार का वहन आदि नहीं करना पड़ता है। वही कहा है—

"म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारंभतः संयमः।
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ॥ १ ॥
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते।
तन्नित्यं शुचि रागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥ २ ॥
विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्त्तने।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥
नैष्किञ्चन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत्।
ये संगाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥"

भावार्थ—शरीर के स्वेद से तथा धूलि आदि के संयोग से वस्त्र मैला हो जाता है। यदि उसे न धोया जावे तो उसमें सम्मूर्छन जीवों की उत्पत्ति होती है। और जल से धोने पर जलादि के जीवो की हिंसा अवश्यंभावी होने से संयम की रक्षा कैसे हो सकती है? तथा

वस्त्र के खोजाने या नष्ट हो जाने पर चित्त में व्याकुलता उत्पन्न होती है। महान् पुरुषों को भी अन्य से वस्त्र की याचना करनी पड़ती है। यदि चोर लुटेरे डाकू एक कौपीन (लंगोटी) को चुरालें या छीनने लगें तो उन पर जल्दी से क्रोध उत्पन्न होता है। वस्त्र के निमित्त से अनेक दोष पैदा होते हैं; इसलिए परम शान्त रागद्वेष के विजेता मुनीश्वरों ने दिग्मण्डल को ही स्थायी और पवित्र वस्त्र माना है।

विद्वानों ने इन्द्रिय विकार का सद्भाव होने पर ही नग्नता धारण करना निन्दनीय माना है। किन्तु जिनकी बालक के समान स्वाभाविक निर्विकार वृत्ति है, उनकी नग्नता आदरणीय होती है। विवेकी मनुष्य निर्विकार नग्न स्वभाव पर रोष नहीं करते हैं।

जो मनुष्य वृक्षों की छाल तथा चर्मादि के वस्त्र की इच्छा रखते हैं। अर्थात् किसी प्रकार के वस्त्र से शरीर ढकते हैं; उन संयमियों के आकिंचन्य और अहिंसा का सद्भाव कैसे हो सकता है? क्योकि वस्त्र के कारण हिंसा और परिग्रह (मूर्छा) उत्पन्न होती है।

उद्दिष्ट भोजनादि त्याग कल्प

(२) उद्दिष्ट भोजनादि का त्याग—आधा कर्म तथा उद्दिष्ट भोजन वसतिका और उपकरण का त्याग करने पर उद्दिष्ट त्याग नामक द्वितीय स्थिति कल्प होता है। भिक्षादि में आधा कर्म महान् दोष है। इसका स्वरूप पिंड शुद्धि अधिकार मे कह आये हैं। साधुओं को उद्देश्य करके बनाया गया आहार, जल तथा वसतिका और कमण्डलु आदि उपकरण मुनियों के लिए अग्राह्य माने गये हैं। इसलिए मुनि उद्दिष्ट भोजन उपकरणादि का त्याग करते हैं और अनुद्दिष्ट निर्दोष आहार, जल, वसतिका और उपकरणो का ग्रहण करते हैं।

शय्याधर के पिंड का त्याग

(३) शय्याधर गृह-पिंड त्याग—वसतिका का बनवाने वाला, तथा उसका संस्कार (लिपाने पोताने तथा मरम्मत) करवाने वाला और 'आप यहां ठहरिये' इस प्रकार वसतिका में ठहरने की आज्ञा देने वाला ये तीनों शय्याधर माने गये हैं। साधु इनके घर का आहार ग्रहण नहीं करते हैं। यदि मुनि इनका आहार ग्रहण करने लगें तो लोक में निन्दा होने की संभावना रहती है। लोग कहने लगते हैं कि मुनि इनकी वसतिका में रहते हैं, इसलिए ये धर्म के लाभ से चुपचाप गुप्त रूप से उनके लिए आहार की योजना कर देते हैं। तथा दूसरा दोष यह उत्पन्न होता है कि यदि मुनि शय्याधर का आहार लेने लगें तो जो आहार देने में असमर्थ हैं, दारिद्रय से पीडित हैं—वह लोकापवाद के भय से मुनियों को निवास करने के लिए वसतिका नहीं देंगे। कारण कि लोग कहने लगते हैं देखो मुनि इनकी वसतिका में रहते हैं और ये भाग्यहीन उनको आहार नहीं देते हैं। इत्यादि लोक निन्दा का भय उन्हें वसतिका प्रदान करने से वंचित रखेगा।

शय्याधर का भोजन पान ग्रहण करने से तीसरा दोष यह उत्पन्न होता है कि वसतिका और आहार देने वाले, बहुत उपकार के कर्त्ता दाता के लिए मुनि के चित्त में स्नेह का आविर्भाव होने लगेगा। ये तीन दोष शय्याधर का आहार ग्रहण करने से उत्पन्न होते हैं; इसलिए वीतरागी साधु उक्त दोषों से मुक्त रहने के लिए शय्याधर के घर का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

अन्य कोई आचार्य शय्याधर पिंडत्याग के स्थान में शय्या-गृह-पिंडत्याग ऐसा पाठ मान कर उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि मार्ग में गमन करते हुए मुनि रात्रि के समय जिस घर में शयन करते हैं, उसी घर में दूसरे दिन आहार का परिहार करते हैं। उस घर का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

कोई आचार्य इसका 'वसतिका सम्बन्धी द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुए भोजन का त्याग' ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् वसतिका से सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य के निमित्त से जो आहार बना हो उसका ग्रहण मुनि नहीं करते हैं। इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

राज पिंड त्याग

(४) राजपिंड त्याग—इक्ष्वाकु आदि राजवंश में उत्पन्न हुए राजा महाराजा के घर का तथा राजा लोगों के समान महर्द्धिक आमात्यादि के घर का आहार मुनि लोगों के लिए वर्जित माना है। इसका कारण निम्नोक्त प्रकार है। राजा महाराजाओं के या उनके समान महान् वैभव सम्पन्न आमात्यादि के घर में आहार के निमित्त मुनि जावें तो वहां पर स्वच्छंद विचरने वाले कुत्ते आदि दुष्ट जीवों के द्वारा तथा मुनि के रूप को देखकर बन्धन तुड़ाकर इधर उधर भागते हुए घोड़े आदि के द्वारा मुनि पर उपद्रव होने की संभावना रहती है। तथा राज भवन में निवास करने वाले गर्विष्ट दास दासी आदि मुनि का परिहास करने लगते है। और रोक रखी हुई मैथुन संज्ञा से पीडित भोग पत्नियां (पासवान) तथा पुत्र की कामना रखने वाली वहां की स्त्रियां बलात्कार मुनि को उपभोग की कामना से घर में प्रवेश करवा लेती हैं। इसमें मुनि के अनिष्ट की संभावना बनी रहती है। राज भवन में रत्न सुवर्णादि द्रव्य इधर उधर बिखरे पड़े रहते हैं, उनको दूसरा कोई चुरा ले तो भी संयमी पर लाञ्छन आता है। लोग कहने लगते हैं कि यहां अमुक मुनि के सिवा अन्य कोई नहीं आया है, वे ही चुरा ले गये होंगे। इस प्रकार चोरी का अपवाद होता है। राजा इस मुनि का विश्वास करके राज्य का विध्वंस कर देगा, इस प्रकार क्रुद्ध हुए आमात्यादि मुनि का वध या बंधन करने में उद्यत होते देखे गये हैं। राजादि के घर में चोर आदि की विकृति का सेवन होता है। तथा दरिद्र कुलोत्पन्न साधु के मन में राज भवन के बहु मूल्य रत्नादि को देख कर लोभ कषाय का उदय होने पर उनका अपहरण करने की इच्छा का प्रादुर्भाव हो सकता है। सुन्दर देवांगना समान उत्तम स्त्रियों का अवलोकन होने से मुनि के चित्त में राग का उद्रेक हो सकता है। इन्द्र तुल्य राज भवन की विभूति को देखकर मोह के वशीभूत हुआ मुनि 'भविष्य में मुझे ऐसी विभूति मिले' ऐसा निदान करने में प्रवृत्त हो जाता है। इन दोषों की

संभावना जहां बनी रहती है, उनके घर का आहार मुनि के लिए निषिद्ध माना गया है। और जहां उक्त दोषों में से किसी दोष की संभावना न हो और अन्य स्थान मे आहार की योग्यता न मिले तो स्वाध्यायादि के विच्छेद का निवारण करने के लिए अर्थात् स्वाध्याय व ध्यान सम्पादन करने के लिए राजा के महलों का भोजन भी निषिद्ध नहीं माना गया है।

कृति कर्म

(५) कृतिकर्म—पांच नमस्कार, छह आवश्यक, आसिका और निषेधिका इन तेरह प्रकार के कर्त्तव्य कर्म का परिपालन करना कृतिकर्म कहलाता है।

अथवा गुरु का विनय करना तथा महान् पूज्य पुरुषों की शुश्रुषा करना कृतिकर्म है।

मूलोत्तर गुण परिपालन

(६) मूलगुणों और उत्तरगुणों का सुचारु रूप से पालन करना छठा स्थिति कल्प है। इसी को व्रतारोपणयोग्यता नाम का छठा स्थिति कल्प माना है।

जिस सयमी को जीवों का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होगया हो उसीको नियम से मुनियो के व्रत देना, यह व्रतारोपण योग्यता नामक स्थिति कल्प है।

जिसने पूर्ण निर्ग्रन्थावस्था धारण की है, तथा उद्दिष्ट आहारादि का तथा राजपिंडग्रहण करने का त्याग किया है और जो गुरु-भक्त एव विनय शील है, उसको मुनि–व्रत के योग्य माना है।

व्रत प्रदान करने का क्रम निम्न प्रकार है—जिस समय गुरु आसन पर विराजमान हों उस समय आर्यिकाएं सम्मुख बैठी हों उनको तथा श्रावक और श्राविकाओ को व्रत दिये जाते हैं। आसन पर बैठे हुए गुरु के वाम भाग मे बैठे हुए मुनि को व्रत देते हैं। अर्थात् दीक्षा ग्रहण करते समय साधु को आचार्य के बांये हाथ की ओर बैठना चाहिए।

अहिंसादि का स्वरूप समझ कर हिंसादि पापो से विरक्त होने को व्रत कहते हैं।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरदेव ने रात्रि भोजन त्याग और पच महाव्रतों का उपदेश दिया है। प्रमत्त योग से अर्थात कषाय

युक्त परिणाम से प्राणियों के प्राणों को पीडा पहुँचाने को हिंसा कहते हैं। इसके त्याग करने को प्रथम अहिंसा महाव्रत कहा है। असत्य भाषण से प्राणियो को दुःख होता है तथा अपनी आत्मा के सत्य परिणाम का घात होता है, ऐसा समझकर स्व पर की दया करने वाले दयालु मुनि असत्य भाषण का त्याग करते हैं। यह उनका द्वितीय सत्य महाव्रत है। यह मेरी है, ऐसा सङ्कल्प जिस वस्तु पर जिसने कर रखा है, उस वस्तु के स्वामी की बिना आज्ञा ग्रहण करने से उसे क्लेश होता है; उसके वियोग से वह दारुण दुःख का अनुभव करता है। तथा ग्रहण करने वाले के परिणामों में मालिन्य उत्पन्न होता है, इसलिए स्वपर के कल्याण की कामना करने वाले मुनि चोरी का परित्याग करते हैं। यह उनके तृतीय अचौर्य महाव्रत होता है। जैसे सरसो से भरी हुई नाली में अग्नि से तपी हुई लोहे की शलाका (सलाई) डालने से सम्पूर्ण सरसो झुलस जाती हैं, इसी प्रकार योनि मे पुरुषेन्द्रिय का प्रवेश होने पर उसमें के सब सम्मूर्च्छन सूक्ष्म जीव नष्ट हो जाते हैं। इस मैथुन से तीव्रराग उत्पन्न होता है। जो कर्म बन्धन का प्रबल कारण है। ऐसा विचार कर दयालु मुनि उसका पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। यह उनका चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है। परिग्रह के निमित्त से षट्काय के जीवों की विराधना होती है। तथा यह ममत्व भाव उत्पन्न करने में मुख्य कारण है; इसलिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना परिग्रह त्याग नाम का पांचवां महाव्रत होता है।

इन महाव्रतो की पालना करने के लिए रात्रि भोजन का त्याग करना छठा व्रत है।

अहिंसा महाव्रत सब जीव मात्र को विषय करता है। अर्थात् सम्पूर्ण जीवों की हिंसा का त्याग करने अथवा उनकी रक्षा करने से अहिंसा महाव्रत सम्पन्न होता है। अचौर्य महाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत सम्पूर्ण पदार्थों से सम्बन्ध रखता है। अर्थात वस्तु के स्वामी की आज्ञा बिना किसी भी पर पदार्थ का ग्रहण न करने से अचौर्य महाव्रत तथा सम्पूर्ण भूमि महल मकान धन धान्य वस्त्रादि का त्याग करने से परिग्रह त्याग महाव्रत सिद्ध होता है। तथा शेष सत्य महाव्रत और ब्रह्मचर्य महाव्रत द्रव्यो के एक देश को विषय करते हैं। कारण कि सत्य महाव्रत मे सत्य वचन का उच्चारण और असत्य वचन का त्याग किया जाता है और ब्रह्मचर्य व्रत मे समस्त स्त्री वर्ग सम्बन्धी विषय सेवन का त्याग मन वचन काय से किया जाता है। अतः ये दोनो समस्त जगत् के पदार्थों के एक भाग से सम्बन्ध रखते है।

ज्येष्ठत्व

(७) ज्येष्ठत्व—संयमी मुनि, माता-पिता, गृहस्थ उपाध्याय तथा आर्यिकाओं से महान् होता है। यद्यपि गृहस्थ अवस्था में माता पिता और गृहस्थ-गुरु पूज्य होते है; तथापि संयम धारण करने के पश्चात् पुत्र भी माता पिता तथा गृहस्थ-गुरु के पूजनीय हो जाता है। क्योकि चारित्र मे पूज्यता मानी गई है।

सं. प.

एक दिन का दीक्षित मुनि चिरकाल की दीक्षित आर्यिका से महान् होता है, पूज्य स्तुत्य और वन्दनीय होता है। इस प्रकार मुनि की श्रेष्ठता द्योतन करने वाला यह सातवा स्थिति कल्प है।

अर्थात् स्त्रियां पुरुषों से लघु मानी गई हैं। इसका हेतु यह है कि वे परमुखापेक्षी होतीं हैं। वे अपना रक्षण आप नहीं कर सकतीं। आत्म-रक्षा मे पुरुष का साहाय्य चाहती हैं। पुरुष द्वारा कामना किये जाने पर वे उसका प्रतीकार करने मे असमर्थ होती हैं। वे स्वभाव से भीरु होती हैं। उनका हृदय कमजोर होता है। पुरुष में ये बातें प्रायः नहीं होती हैं। इसलिए पुरुष महिलाओ से श्रेष्ठ माना गया है।

प्रतिक्रमण

(८) प्रतिक्रमण—नग्नत्व आदि कल्प में स्थित मुनि के व्रतो में जो अतिचार लगते हैं, उन दोषों का निवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमण करते हैं। यह आठवां स्थिति कल्प है।

अर्थात् धारण किये गये व्रतादि में अज्ञान प्रमादादि से जन्य अपराध का निराकरण करने के लिए साधु ऐर्यापथिक, रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ ये सात प्रकार के प्रतिक्रमण करते हैं। इनका सम्यक् प्रकार आचरण करने को प्रतिक्रमण नामक आठवां स्थिति कल्प माना गया है।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभ देव भगवान् और अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने अपराध हो या न हों मुनियों को प्रतिदिन यथासमय प्रक्रिमण करने का आदेश दिया है। और मध्य के वाईस तीर्थंकरों ने अपराध होने पर ही मुनियो को प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ के मुनि भोले और महावीर स्वामी के तीर्थ के मुनि वक्र होते हैं। इसलिए इन दोनो तीर्थंकरो ने अपने तीर्थ के मुनियो को ईर्यापथिक रात्रिक दैवसिकादि प्रतिक्रमण अपराध होने पर या न होने पर यथासमय अवश्य करने का विधान किया है। और अजितनाथ आदि मध्यवर्त्ती वाईस तीर्थंकरों ने अपने तीर्थ के मुनियो को अपराध लगने पर प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। कारण कि उनके तीथ वर्त्ती मुनि विचक्षण और स्मरण शील होते हैं। वे अपराध को स्मरण रखकर किसी समय अपने अपराध का शोधन कर लेते हैं; इसलिए उन्हें ईर्यापथ से गमन करते हुए अपराध लगने पर उसका निवारण करने के लिए ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण ही कर लेने का आदेश दिया है। रात्रि मे अतिचार लगने पर रात्रिक प्रतिक्रमण और दिन मे दोष लगने पर दैवसिक प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। उनको सब प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं वतलाया है।

एक मास निवास

(६) एक मास निवास—वसन्तादि छहद ऋतुओं मे एक एक ऋतु में मुनि एक स्थान पर एक मास तक रह सकते हैं, इससे अधिक एक स्थान में निवास करना वर्जित है। क्योंकि एक ही स्थान पर चिरकाल पर्यन्त निवास करने से भोजनादि में उद्गमादि दोषों का परिहार करना अवश्य हो जाता है। वस्तिका से मोह हो जाता है। सुखिया स्वभाव हो जाता है। कष्ट सहिष्णुता दूर हो जाती है। आलस्य घर कर लेता है। सुकुमारता की भावना उत्पन्न होती है। बहुत दिन एक जगह रहने से जिन श्रावकों के घर पहले आहार कर चुके हैं, फिर भी उन्हीं के घर आहार लेना पड़ता है। इत्यादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए मुनीश्वर चिरकाल पर्यन्त एक ही स्थान पर नहीं ठहरते हैं।

पज्ञ

(१०) पज्ञ—वर्षाकाल मे भ्रमण का त्याग कर चार मास पर्यन्त एक ही स्थान में निवास करने को पर्या नामक दशवां स्थिति कल्प कहा है। वर्षाकाल मे चार मास तक मुनि विहार का त्याग करते हैं। तथा एक मील या दो मील आदि क्षेत्र का परिमाण कर उस क्षेत्र के भीतर गोचरी आदि आवश्यक कार्य के लिए गमनागमन करते हैं।

वर्षाकाल में भूमि त्रस और स्थावर जीवों से आकुल (व्याप्त) हो जाती है। उस समय यदि एक स्थान न ठहर कर विहार करे तो छह काय के जीवों की विराधना होने से महान् असंयम होता है। जल की वृष्टि तथा शीत वायु के चलने से शरीर को अत्यन्त बाधा पहुचती है। निमोनिया आदि अनेक रोगों की उत्पत्ति होना सम्भव है। मार्ग जलमग्न रहने से मार्ग स्थित कुए बावड़ी में गिर जाने की सम्भावना रहती है। जल या कीचड में छिपे हुए कांटे पत्थर स्थाणु आदि की बाधा होती है। इसलिए मुनीश्वर एक सौ बीस दिन तक एक स्थान में ही निवास करते हैं। यह उत्सर्ग (सामान्य) नियम है। कारण वश इसे हीन या अधिक काल भी माना गया है। आषाढ़ शुक्ला दशमी से लेकर कार्तिक की पूर्णिमा के आगे तीस दिन तक और मुनि एक स्थान पर ठहर सकते हैं। अध्ययन करने के लिए, वृष्टि की बहुलता से, विहार करने की शक्ति के न होने से, किसी साधु की वैयावृत्त्य करने के निमित्त इत्यादि प्रयोजन वश मुनि अधिक समय अर्थात् कार्तिक की पूर्णिमा के बाद तीस दिन अधिक ठहर सकते है। उक्त कारणो के बिना अधिक दिन निवास करना आगम विरुद्ध है।

प्लेग हैजा आदि सक्रामक रोगो का प्रकोप होने पर, दुर्भिक्ष हो जाने पर, देश या गांव पर महान् सङ्कट आजाने पर, सङ्घ पर विपत्ति की संभावना होने पर, मुनि वर्षाकाल मे भी अन्यत्र जा सकते हैं। यदि उक्त परिस्थिति में भी मुनि वहां से विहार न करे तो रत्नत्रय की विराधना हो सकती है; अतः आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के व्यतीत होने पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा आदि तिथि में मुनि अन्य स्थान से चले

जाते हैं। इसलिए एक सौ बीस दिनों में बीस दिन कम किये गये हैं। यह वर्षाकाल में निवास करने का हीन काल है। इस सबको दशवां [illegible] कहते हैं।

जो आचार्य इन उपर्युक्त दश प्रकार के आचरणों में सदा तत्पर रहते हैं, जो सदा पाप कृत्यों से भयभीत रहते हैं, वे आचार्य आगमोक्त आचरण का साधुओं से पालन करवाते हैं—साधुओं के आचरण में दोष दिखा कर उनको शुद्धाचरणी बनाते हैं।

आचारवान् आचार्य से क्षपक को लाभ

प्रश्न—आपने आचार्य का आचारवत्व गुण वर्णन किया है। आचार्य के आचारवान् होने से क्षपक साधु को क्या लाभ होता है?

उत्तर—जो आचार्य दर्शनाचारादि पंचाचार में स्वय तत्पर रहते हैं समस्त गमनादि क्रियाओं में सम्यक् प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक को भी पंचाचार में सम्यक् प्रवृत्ति करवाते हैं।

प्रश्न— यदि आचार्य स्वय आचारवान् न हो तो उससे क्या हानि होती है?

उत्तर—जो आचार्य दर्शनादि पंचाचार के पालन करने में शिथिल होता है, जिसका आचरण भ्रष्ट होता है वह आचार्य क्षपक को उद्गमादि दोष युक्त आहार वसतिका और पिच्छिका पुस्तकादि उपकरण की योजना करेगा। अथवा क्षपक की परिचर्या में वैराग्य रहित मुनियों को नियुक्त करेगा। जो स्वयं सदोष होता है वह साधुओं के दोषों को दूर करने में सफल मनोरथ नहीं होता है। समाधिमरण के कार्य में उद्यमशील मुनि का हित ससार से भयभीत और वैराग्य भाव से भरे हुए साधुओं के संसर्ग से ही होता है। इसका खयाल आचार हीन आचार्य को नहीं होता है। इसका परिणाम यह होता है कि क्षपक की शुश्रूषा करने की योग्य व्यवस्था न कर सकने के कारण क्षपक का समाधिमरण बिगड़ जाता है। उसका यह महान् अनिष्ट आचार हीन आचार्य द्वारा होता है। वह आचार्य क्षपक की संन्यास विधि को लोक में प्रकट कर देगा, संयम विरोधी गन्ध पुष्प मालादि क्षपक के लिए लाने के लिए साधुओं को अनुमति प्रदान करेगा, क्षपक के परिणामों में विकार उत्पन्न करने वाली कथा करेगा, क्षपक के हिताहित का विचार न कर मन चाहे जैसा बकने लगेगा। पतित आचरण वाला आचार्य रत्नत्रय में प्रवृत्ति कराने वाला उपदेश नहीं देगा, रत्नत्रय से गिरते हुए मुनि को न रोकेगा, जिन क्रियाओं में महान् आरम्भ होता है, ऐसी पूजा रथयात्रादि करवाने की लोगों को प्रेरणा करेगा। तात्पर्य यह है कि शिथिलाचारी आचार्य के सहवास से क्षपक का अनिष्ट होता है। वह अपने उद्देश्य से गिर जाता है। इसलिए आचारहीन आचार्य के सहवास का आत्म–हित के इच्छुक क्षपक को त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

आचार गुण से भूपित आचार्य का आश्रय करने वाला क्षपक अपने समाधिमरण रूप उत्तम कार्य को भले प्रकार साधन कर सद्गति का पात्र बनता है; अतः आचार्य के आचारवत्व गुण का वर्णन किया गया है। अब आचार्य के दूसरे आधारवत्व गुण का विवेचन करते हैं।

आचार्य का आधारवत्वगुण

चोद्दस-दस-णव-पुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो ।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥ ४२८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जो चौदहपूर्व या दशपूर्व अथवा नवपूर्व का वेत्ता होता है, जो दूरदर्शी–समुद्र के समान गम्भीर हृदयवाला है, प्रायश्चित शास्त्रों का सम्यक् प्रकार ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुकूल प्रयोगों का अनुसरण करता है वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और तप की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और रक्षा का आश्रय होता है। वह आधारवत्व गुण युक्त आचार्य नित्य प्रति साधुवर्ग को आगम का उपदेश देकर पापास्रव के कारण अशुभ परिणामों से हटाकर पुण्यास्रव के कारण शुभोपयोग में तथा संवर निर्जरा के कारण शुद्धोपयोग में प्रवृत्त करता है। अतः आचार्य को आगम का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

प्रश्न—चारित्र का आराधन आत्म–कल्याण का साधन माना गया है। वह जिसमे पाया जावे वह आचार्य संघ के साधुओं का, आर्यिकाओं का व उनके सम्पर्क में रहने वाले श्रावक श्राविकाओं का उद्धार करने मे समर्थ हो सकता है? अर्थात् आगम का ज्ञान न होने से भी आचार्य स्व पर का हित करने में कुशल हो सकता है। अतः आधारवत्व गुण चारित्र से सम्बन्ध रखता है, न कि ज्ञान से। आपने आगम का ज्ञान होने पर ही आधारवत्व गुण का होना बताया है–इसका क्या कारण है?

उत्तर – जिसको आगम का ज्ञान नहीं है, वह आचार्य मोक्ष मार्ग के अङ्गभूत दर्शन ज्ञान चारित्र और तप के स्वरूप को तथा उनके भेद प्रभेदों को और उनमें उत्पन्न होने वाले दोषों को कैसे जान सकेगा? संघ में स्थित मुनीश्वरों को उक्त दर्शनादि के स्वरूप को समझा कर उनमे लगने वाले अतीचारों से कैसे निवृत्त कर सकेगा? व्रतादि मे लगे हुए अतिचारों की निवृत्ति (शुद्धि) के लिए प्रायश्चित का विधान कैसे करेगा? समाधिमरण के लिए उद्यत हुए क्षपक को समय समय पर जीवादि तत्त्वों का यथार्थ उपदेश देकर आत्मा मे वैराग्य भाव किस प्रकार उत्पन्न कर सकेगा? संसार में भ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व असंयम दुर्ध्यानादि का स्वरूप दिखा कर सम्यक्त्व, संयम व धर्म्यध्यान शुक्लध्यान की महत्ता समझाकर उनका पालन करवाने में कैसे सफल होगा?

सं. प्र.

संयम की सफलता

अनन्त दुःख रूप जल से परिपूर्ण इस ससार सागर मे चक्कर लगाते हुए इस जीव ने अनन्त काल विताया है। भयानक शारीरिक मानसिक क्लेशों को भोगते हुए इस जीव ने बड़ी कठिनाई से मनुष्य जन्म को प्राप्त किया है। जैसे साधु पुरुष के मुख से कठोर वचन के समान, सूर्य मण्डल मे अन्धकार के समान, अत्यन्त क्रोधी मनुष्य के मन मे दया भाव के समान, अति लोभी मनुष्य के मुख मे सत्य वचन के समान, महाभिमानी के मुख से परगुण की प्रशसा के समान, स्त्री वर्ग में सरल चित्तता के समान, दुष्ट मनुष्य मे कृतज्ञता के समान, आप्ताभास द्वारा निरूपित मत मे तत्त्वज्ञान के समान इस पचपरावर्त्तन रूप संसार मे मनुष्य जन्म की प्राप्ति अति दुर्लभ है। आगम में अति दुर्लभता के विपय में उक्त दश दृष्टान्त मिलते हैं। उनसे भी मनुष्य जन्म पाना अति दुर्लभ है। महान् पुण्य के उदय से किसी तरह मनुष्य जन्म पा लिया तो तपस्या के योग्य उत्तम धर्म-प्रधान देश का मिलना अति दुर्लभ है। उत्तम देश का योग होने पर उत्तम कुल व उत्तम जाति का मिलना अति दुष्प्राप्य है। माता के वंश को जाति और पिता के वश को कुल कहते हैं। उसके पश्चात् उत्तम शरीर की आकृति (इन्द्रियों की परिपूर्णता) व शरीर मे उत्तम संहनन का प्राप्त होना अति दुलभ है। शरीर की नीरोगता, दीर्घायु, उत्तम बुद्धि, हितोपदेश का श्रवण, सद्गुरु कथित तत्त्व का ज्ञान तथा उसमे श्रद्धा की उत्पत्ति उत्तरोत्तर अति दुलभ हैं। उन सबमे दुर्लभ सयम का प्राप्त करना है। समस्त दुर्लभ पदार्थों से दुर्लभतम सयम है, उसकी सफलता समाधिमरण के आराधन से होती है।

क्षपक को सिद्धान्त के वेत्ता आचार्य की आवश्यकता

उस अत्यन्त दुर्लभ समाधिमरण के साधन के लिए क्षपक ने रागद्वेप को जीतने की यद्यपि प्रतिज्ञा की है, तथापि शरीर की सल्लेखना करने वाले उस क्षपक के क्षुधादि परीषह के प्राप्त होने पर अल्प पराक्रम के कारण रागद्वेप की उत्पत्ति व क्रोधादि कषाय का प्रादुर्भाव हो सकता है, उसकी निवृत्ति अर्थात् कपाय का उपशम, रागद्वेप की अनुत्पत्ति, चारित्र की सम्यक् आराधना अल्पज्ञ-सिद्धान्त के अज्ञाता-आचार्य के संसर्ग से नहीं हो सकती है। क्योंकि कर्म-परवश हुआ यह प्राणी अन्न के आश्रय से अपना जीवन यापन कर रहा है। उस अन्न का त्याग करने से यह अन्नाश्रित जीव तिलमिला जाता है। उसकी आखों के सामने अंधेरा छा जाता है। सिर चक्कर खाने लगता है। तात्पर्य यह है कि अन्न बिना यह प्राणी आर्त्त रौद्रध्यान से आकुलित हो जाता है। उस समय उसके दर्शन, ज्ञान चारित्र व तप की आराधना कैसे हो सकती है, यदि उसमे स्थिर करने के लिए सिद्धान्त वेत्ता आचार्य न हो? यही कहा है :—

"अयमन्नमयोजीवस्त्याज्यमानोऽधसा कदा
अतिरौद्राकुली भूतश्चतुरंगे प्रवर्त्तते ॥"

अर्थात्—यह जीव अन्नमय है। भोजन के आधार इसकी सब शारीरिक मानसिक प्रवृत्ति होती है। अन्न के अभाव में आर्त्त व रौद्रध्यान से आकुलित हुए इस जीव का दर्शन ज्ञान चारित्र व तप रूप चतुरंग में प्रवृत्ति करना अति कठिन हो जाता है।

ऐसे अवसर में बहु श्रुत पारगामी आचार्य अनेक आगम निरूपित उपदेश को सुनाकर मृदु मनोहर व अनेक शिक्षा पूर्ण वचनों का उच्चारण कर, संसार के भयानक स्वरूप का वर्णन कर तथा शरीर की अनित्यता को समझाकर क्षपक के संवेग और वैराग्य की वृद्धि करता है और क्षुधा तृषा से उत्पन्न हुई भोजन पान की कामना को शान्तकर आत्मध्यान में व धर्म्यध्यान में तत्पर करता है।

आगम ज्ञान से शून्य आचार्य क्षुधा तृषादि की पीड़ा से व्याकुल–चित्त क्षपक को आत्म–अनात्म का, जड़–चेतन का भेद विज्ञान करवाकर आगम के अनुकूल हित शिक्षा नहीं दे सकता है, ससार से भय और शरीर से विरक्तता उत्पन्न नहीं कर सकता है। अतःक्षुधा और तृषा की पीड़ा से क्षपक की भोजन पान की अभिलाषा बढ़कर आर्त्त व रौद्रध्यान की वृद्धि करती है। उससे क्षपक का समाधिमरण बिगड़ जाता है। क्षुधा और पिपासा से पीड़ित मनुष्य के हृदय से विवेक बुद्धि निकल जाती है।

जिस क्षपक ने अपने शरीर को अत्यन्त कृश कर दिया है, शक्ति हीन कर दिया है उसको जिस समय क्षुधादि की बाधा सताती है,और वह बाधा इतनी बढ़ जाती है कि वह असह्य हो जाती है;उस समय विवेकहीन हुआ जीव करुणाजनक आक्रन्दन करने लगता है। भोजन की याचना करता है और दीनता प्रदर्शित करता है। तथा बैठकर अयोग्य काल मे अपने हाथों से भोजन पान करने लगता है। अर्थात् क्षुधा तृषा से पीड़ित होकर आगम विरुद्ध आहार पान ग्रहण करता है।

क्षुधादि के कष्ट को सहने न करके वह क्षपक धर्म से विमुख होता है। मिथ्यात्व भाव को प्राप्त होकर असमाधि युक्त मरण को प्राप्त होता है।

क्षुधादि से पीड़ित साधु के रोदन को सुनकर यदि आगमहीन आचार्य उसकी निन्दा करने लगेगा तो वह सङ्घ का परित्याग कर भाग जावेगा। इससे धर्म का अपवाद होगा। अथवा उसको योग्य उपदेश न मिलने पर उसका आर्त्तनाद बढ़कर जन साधारण के चित्त मे करुणा और क्षोभ उत्पन्न कर देगा। समाधिमरण के स्वरूप को न समझने वाले मनुष्य साधुओं को करुणा हीन व आत्मघाती कहने लगेंगे। यह सब दोष ज्ञान हीन आचार्य के योग से होते हैं।

क्षपक को परीषहों की बाधा से कैसे दूर किया जाय ?

प्रश्न—भूख व प्यास से पीड़ित क्षपक की बाधा को आगम के ज्ञाता आचार्य किस प्रकार दूर करते हैं ?

गं. प्र.

उत्तर—आगम के ज्ञाता आचार्य क्षपक को समाधिमरण के समय के अनुकूल आगमोक्त क्रियाओं का आचरण करवाते हैं। यथावसर उसे हितकर प्रिय मधुर वचनो से शिक्षा देकर उसके परिणामों को उज्ज्वल करते रहते हैं। धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान मे लगाये रखने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। शुभ व शुद्ध ध्यान रूपी अग्नि को सदुपदेश रूपी आहूतियों द्वारा निरन्तर वृद्धिगत करते रहते हैं। जिस समय क्षपक को क्षुधादि पीड़ा असह्य होने लगती है तब गीतार्थ आचार्य उसकी इच्छा के अनुकूल ऐसे मंजुल और विश्राम जनक वचनों का उच्चारण करते हैं, जिनको सुनकर उसको भोजन व पान करने से जैसी तृप्ति होती है, वैसी तृप्ति व सन्तोष उत्पन्न हो जाता है। प्राचीन मुनीश्वरों के उपसर्ग परीषह विजय की कथाओं को सुनाकर उसके अन्तकरण मे धैर्य व साहस को उत्पन्न करते हैं। तिर्यंच गति व नरक गति में इस जीव ने कैसी २ क्षुधा और तृषा की पीडा का सहन किया है। इस समय की पीडा तो उसके सामने कुछ भी नहीं है। वह वाधा तुमको परवश होकर सहन करनी पडी थी और यह तुम अपने आत्म हित के लिए सहन कर रहे हो। यदि तुम अपने चित्त मे संक्लेश भाव उत्पन्न करोगे तो तुम्हें पुनः पुनः वे तिर्यंच व नरक गति के घार दु.ख सहन करने पडेंगे। फिर ऐसा क्लेश निवारण करने का, सदा के लिए उन दारुण दुःखो से पीछा छुडाने का अवसर न मिलेगा। इसलिए हे सद्बुद्धे क्षपक ! तुमको इस पीडा से दुःखित न होना चाहिए। इत्यादि उपदेश द्वारा गीतार्थ आचार्य क्षपक के धर्म भावना द्वारा धर्मध्यान में लवलीन करते हैं।

क्षपक की क्रोधमय प्रकृति से ऊब कर परिचारक मुनि क्षपक को छोडकर अलग हो जाते हैं। वे क्षपक के निकट जाना भी पसन्द नहीं करते हैं। उस समय आचार्य अपने बुद्धि कौशल से क्षपक की कोपमय प्रकृति को शिक्षा पूर्ण वाक्यों द्वारा शान्त करते हैं। उसको सब प्रकार का आश्वासन देते हैं। उसके साहस हीन व अधीर स्वभाव को दूर कर उसकी आत्मा मे अपूर्व साहस और धैर्य का संचार करते हैं। वैयावृत्य करने से विमुख हुए परिचारक साधुओ को वैयावृत्य के स्वरूप और महत्त्व को समझाकर उनको पुनः वैयावृत्य के कार्य मे सलग्न करते हैं।

हे मुनियो ! यह क्षपक महापुरुष है। क्षुधादि की पीड़ा से व्याकुल होकर यदि इसने तुमको कदाचित् अयुक्त वचन कह दिये हों तो तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम इसे मृदु वचनो से शान्त करो। वैयावृत्य (सेवा धर्म) का यथोचित पालन करने वाले के तीर्थंकर प्रकृति का बध होता है। सच्ची वैयावृत्य करने वाले को कटु वचन अमृतमय, और शस्त्रप्रहार पुष्पमाला समान भासते हैं। वैयावृत्य करने का सौभाग्य महापुण्यवान् को ही मिलता है। क्योंकि वैयावृत्य करने वाला अपने और जिसकी वैयावृत्य करता है उसके रत्नत्रय की रक्षा और वृद्धि करता है। इसलिए हे साधुओ ! तुम्हें इस उत्तम कर्त्तव्य से विमुख न होकर तन और मन से इस सुकृत्य मे तत्पर रहना चाहिए। देखो, शरीर और आहार ये दो पदार्थ ससार मे दुस्त्याज्य हैं। इनका त्याग साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। इसका इसने त्याग किया है। इसलिए यह महात्मा सेवा करने योग्य है। ऐसा कहकर साधुओं को क्षपक की सेवा करने में प्रोत्साहित करते हैं।

हे क्षपक ! तुम विचार तो करो। तुमने किस महान् सुकृत्य का प्रारंभ किया है। तुमने कषाय और काय को कृश करने की दृढ़ प्रतिज्ञा ली है। और उसका पालन करने के लिए तुमने आगे कदम बढ़ाया है। क्या इस समय तुमको कषाय करना उचित है। क्या तुम्हें इस कार्य मे सहायता देने वाले महात्माओं को कटु कठोर वचन उच्चारण करना चाहिए। तुमको तो उनका कृतज्ञ होना चाहिए। क्योंकि वे तुम्हारे निज धन रत्नत्रय की रक्षा करने का उद्योग कर रहे हैं। तुमको किसी प्रकार की चिन्ता न कर शान्ति धारण करना उचित है। हम तुम्हारी सेवा में सदा तत्पर हैं। तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ रहो और तुम्हारा वैयावृत्त्य करने वाले साधुओं का उपकार मानकर उनका विनय करो। इस प्रकार शिक्षा-वचनों द्वारा क्षपक को कर्त्तव्य मार्ग पर दृढ करते हैं।

आगम वेत्ता आचार्य साधु के लिए उपादेय प्रासुक वस्तु कौनसी है ? इसका ध्यान रखते हैं।

क्षुधादि की दारुण वेदना से व्यथित मुनि को आगम का उपदेश रूप पेय पदार्थ और शिक्षा वचन रूपी आहार देकर उसकी बुभुक्षा और पिपासा को शान्त करते हैं। इस उपदेश और शिक्षा रूपी भोज्य और पान का आस्वादन कर क्षपक संतुष्ट हुआ आत्मध्यान में दत्तचित्त हो जाता है।

गीतार्थ आचार्य अवसर पाकर क्षपक को संसार अर्थात् पंच परावर्त्तन का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं। द्रव्यपरिवर्त्तन, क्षेत्र-परिवर्त्तन, कालपरिवर्त्तन, भवपरिवर्त्तन और भावपरिवर्त्तन का विशद विवेचन कर उसको संसार से भयभीत करते हैं। इसका विशद विवेचन पहले किया जा चुका है।

हे क्षपक ! यह शरीर आत्मा का बन्दीगृह है। आयुकर्म या कार्माण कर्म ने इस आत्मा को शरीर में कैद कर रखा है। आत्मा का असली निवास स्थान मोक्ष है। उससे वंचित रखने वाला यह शरीर रूपी कारागृह है। यह शरीर अपवित्र अशुचि पदार्थों का निधान है। इसके मुख नासिका आदि अवयव अशुचि दुर्गन्धमय पदार्थों से ही निर्मित हैं। इसमे एक भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है। यह अनेक क्लेश और आपत्तियों का निवास स्थान है। यह रोगरूपी धान्य की उत्पति का क्षेत्र (खेत) है। अथवा रोग रूपी शत्रुओं का निवास स्थान है। वृद्धावस्था रूपी पिशाचिनी का यह श्मशान गृह है। जगद्वन्द्य कुल मे उत्पन्न हुआ धवल व विशाल कीर्त्तिवाला, अनेक महनीय गुणों से भूषित मनुष्य भी दारिद्रय से पीड़ित होकर इस शरीर का पोषण करने के लिए अत्यन्त नीचकर्म का आचरण करता है। धनवानों की अपमान दृष्टि सहा करता है। अपने मान-अपमान को भूलकर नहीं करने योग्य कृत्यों को करता है। इस शरीर की रक्षा के लिए उच्छिष्ट भोजन को खाकर अपने धर्म कर्म से विमुख होता है। आचार्यों ने कहा है—

ग ग

"नान्तर्गतोऽथनवहिर्न च तस्य मध्ये, सारोस्ति येन मनसा परिगृह्यमानः।
तस्मिन्नसारजनकांक्षित-कामसारैः कोऽन्यः करिष्यति मनः प्रतिबद्धसारः ॥"

अर्थ—इस नश्वर शरीर के भीतर बाहर और मध्य मे ऐसा कोई सारभूत पदार्थ नहीं है, जिसे अन्तरात्मा स्वीकार करसके। इसलिए सार तत्त्व के ज्ञाता विवेकी जन तुच्छ अविवेकी जनों के द्वारा कामपूर्ति के निमित्त अङ्गीकार किये गये इस तुच्छ शरीर पर प्रेम नहीं करते हैं।

"वायु प्रकोप जनितैः कफपित्तजैश्च, रोगैः सदा दुरितजैः प्रविभज्यमानः।
देहोऽयमेवमतिदुःखनिमित्तभूतो नाशं प्रयाति बहुधेति कुरुष्व धर्मम् ॥"

अर्थ—असाता वेदनीय कर्म का उदय होने पर किसी समय वायु के प्रकोप से कोई वातजन्य रोग उत्पन्न होता है तो कभी कफ की वृद्धि से और कभी पित्त के प्रकोप से किसी रोग का आविर्भाव होता है। उनसे यह शरीर पीड़ित होता रहता है। यह शरीर दुःखों का कारण है। इसलिए हे क्षपक! तू इस नश्वर और दुःख जनक शरीर से धर्म का आचरण कर।

"संघातजं प्रशिथिलास्थितरुप्रगाढं स्नायुप्रबद्धमशुभं प्रगतं शिराभिः।
लिप्तं च मांसरुधिरोदककर्दमेन रोगाहितं स्पृशति देहविशीर्णगेहम् ॥"

अर्थ—हे क्षपक! जिस घर मे निवास कर रहा है, वह शरीर-गृह रज व वीर्य के संयोग से बना है। हड्डी रूपी खंभों से इसकी रचना हुई है। चारों तरफ से छोटी और बड़ी नसों से जकड़ा हुआ है। मांस और रुधिर के कीचड़ से लीपा पोता गया है। और इसको रोगों ने अपना आश्रय बना रखा है। ऐसे अशुभ, अपवित्र व दुःखद शरीर को अज्ञानी मोही आत्मा के सिवा अन्य कौन स्पर्श करना चाहेगा? हे क्षपक! तुमसे विवेकी पुरुषों को इस शरीर पर क्या अनुराग करना उचित है? इत्यादि अनेक वैराग्य जनक उपदेश द्वारा गीतार्थ आचार्य क्षपक को शरीर से विरक्ति उत्पन्न कर क्षुधादि वेदना जन्य कष्ट का निवारण करते हैं और आत्म-भावना मे प्रवृत्त करते हैं।

आगम के ज्ञाता आचार्य के पाद मूल मे निवास करने वाले क्षपक के चित्त मे उक्त उपदेश द्वारा संक्लेश परिणामों की निवृत्ति होती है और रत्नत्रय के आराधन मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती है। इसलिए उक्त आधार गुण विशिष्ट अर्थात् आगमज्ञ आचार्य का शरण प्राप्त करना ही क्षपक के लिए कल्याणकारी है।

आचार्य का व्यवहारज्ञत्व गुण

प्रश्न—व्यवहारज्ञता नामक आचार्य के तीसरे गुण का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जो पांच प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित) का स्वरूप विस्तार पूर्वक भले प्रकार जानते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित देते हुए आचार्यों को देखा है और स्वयं अन्य साधुओं को प्रायश्चित दिया है, ऐसे प्रायश्चित शास्त्र के वेत्ता अनुभवी आचार्य को व्यवहारवत्त्व गुण वाला कहते हैं।

व्यवहार के भेद

प्रश्न—पांच प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित) कौन से हैं ?

उत्तर—व्यवहार (प्रायश्चित) के आगम, श्रुत, आज्ञा, जीद और धारणा ये पांच भेद हैं। यथा :—

व्यवहारास्ते मतो जीदश्रुताज्ञागम धारणा।
एतेषां सूत्रनिर्दिष्टा ज्ञेया विस्तारवर्णना ॥ ४६१ ॥

अर्थ—१ आगम, २ श्रुत, ३ आज्ञा, ४ जीद और ५ धारणा ये पांच प्रकार का व्यवहार (प्रायश्चित) माना गया है। इसका विस्तार सहित वर्णन सूत्रों में किया गया है। इसलिए वहां से जान लेना चाहिए।

भावार्थ—ग्यारह अंगों में प्रतिपादन किये गये प्रायश्चित को आगम व्यवहार कहते हैं। चौदह पूर्व ग्रन्थों में कथित प्रायश्चित को श्रुत व्यवहार कहते हैं। अन्यत्र विचरने वाले आचार्य द्वारा अपने महान् दोष की आलोचना करके अपने ज्येष्ठ शिष्य के हाथ अन्य आचार्य के पास भेजे हुए प्रायश्चित को आज्ञा प्रायश्चित कहते हैं। एकाकी (एकल विहारी) साधु चलकर आचार्य के निकट जाने की शक्ति न होने से वहां ही अपने स्थान पर रहता हुआ पूर्व धारणा के अनुसार अपने दोषों का प्रायश्चित लेता है उसे धारणा व्यवहार कहते हैं। बहत्तर प्रकार के पुरुषो के स्वरूप को जानकर उनकी अपेक्षा से आधुनिक आचार्यों ने जो शास्त्रों मे प्रायश्चित का वर्णन किया है, उसे जीद व्यवहार कहते हैं। इनका विशेष विवेचन शास्त्रान्तर मे किया है। उस विवेचन करने व सुनने का अधिकार सर्व साधारण को नहीं बताया है। इसलिए यहां उनका विशेष वर्णन नहीं किया जाता है।

प्रश्न—प्रायश्चित का विवेचन सर्व साधारण के सम्मुख नहीं करना चाहिए। इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—अनुभवी आगम वेत्ता आचार्य द्रव्य क्षेत्र प्रकृति और दोष के स्वरूप को तथा अन्य सब परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर आलोचक प्रायश्चित दिया करते हैं। यदि वह प्रायश्चित सब साधारण को प्रकट कर दिया जावे तो संयमी दोषों का आचरण करने से भयभीत न होंगे। अमुक प्रायश्चित लेकर दोष से निवृत्त होजावेंगे, ऐसा विचार करके वे उच्छृंखल होकर दोषों का आचरण करलेंगे। इसलिए प्रायश्चित विधान का श्रवण करना सर्व साधारण के लिए निषिद्ध है। यथा :—

"सव्वेण वि जिणवयणं सोदव्वं सद्धिदेण पुरिसेण।
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण सो दव्वो ॥ १ ॥"

अर्थ—सब श्रद्धालु पुरुष जिनेन्द्र वचन का श्रवण कर सकते हैं, किन्तु प्रायश्चित शास्त्र का अर्थ सब लोगों को सुनने का अधिकार नहीं है।

प्रश्न—व्यवहारवान् (प्रायश्चित शास्त्र वेत्ता) आचार्य पर प्रकाशित दोषों का प्रायश्चित किन २ बातो पर लक्ष्य रखकर देते हैं अर्थात् समान अपराध होने पर सबको एकसा प्रायश्चित देते हैं, अथवा उसमें कुछ अन्तर भी रहता है?

उत्तर—द्रव्य क्षेत्र काल भाव तथा संयमी के उत्साह शारीरिक शक्ति, दीक्षा काल, आगमज्ञान वैराग्यादि का विचार करके प्रायश्चित देते हैं। यथा :—

दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं।
संघदणं परियायआगमपुरिसं च विण्णाय ॥ ४५० ॥
मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स।
ववहारकरण कुसलो जिणवयणविसारदो धीरा ॥ ४५१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जिनागम मे निपुण प्रायश्चित देने में कुशल धैर्यवान् आचार्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव, प्रायश्चित आचरण करने का परिणाम (नतीजा) प्रायश्चित लेने वाले का उत्साह उसका शरीर बल, दीक्षा की अवधि, आगम का परिज्ञान इतनी बातों को लक्ष्य में रखकर रागद्वेष का परित्याग कर प्रायश्चित देता है।

भावार्थ—आचार्य प्रथम संयमी के द्वारा किये गये अपराध के निदान (कारण) का अन्वेषण करते हैं। यह अपराध यदि

द्रव्य की प्रतिसेवना से उत्पन्न हुआ है, तो वह पृथिवीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, अनन्तकाय तथा त्रसकाय रूप सचित्त द्रव्य की प्रतिसेवना से हुआ है, अथवा तृण फलक (काठ के पट्टे) चटाई आदि उचित द्रव्य की प्रतिसेवना से हुआ है, या जीव युक्त काष्ठ फलक तृणादि की प्रतिसेवना से उत्पन्न हुआ है; उसका विचार करते हैं।

यदि क्षेत्र के निमित्त से यह अपराध हुआ हो तो उसपर निम्न प्रकार विचार करते हैं। मुनि वर्षाकाल में आधाकोश, कोश या दो कोश पर्यन्त गमन कर सकते हैं। यदि वे उससे अधिक क्षेत्र मे गमन करें तो क्षेत्र प्रतिसेवना होती है। उक्त प्रतिसेवना करने वाला प्रायश्चित के योग्य होता है। जहां पर गमन करना निषिद्ध है, ऐसे क्षेत्र में गमन करने से, राज्यविरुद्ध क्षेत्र (स्थान) मे गमन करने से, उन्मार्ग द्वारा गमन करने से, जहा पर मार्ग टूट गया है उस स्थान मे गमन करने मे, अन्तःपुर मे प्रवेश करने से, जहां जाने की अनुमति नहीं है या मनाई है वहा जाने से क्षेत्रप्रतिसेवना होती है।

आवश्यकों का जो काल नियत है. उसका उल्लंघन करके सामायिक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक का आचरण करने से, वर्षायोग काल का उल्लंघन करने से तथा इसी प्रकार उचित काल मे की जाने वाली क्रियाओं का कालातिक्रम करने से काल प्रतिसेवना होती है।

दर्प, प्रमाद (असावधानता), उन्माद, सहसा भय इत्यादि परिणामों से प्रवृत्ति करने से भाव प्रतिसेवना होती है अर्थात् भाव के निमित्त से अपराध उत्पन्न होता है।

इस प्रकार द्रव्य क्षेत्रादि के द्वारा जन्य अपराध को भली भांति जानकर प्रायश्चित के रहस्य के ज्ञाता आचार्य प्रायश्चित दिया करते हैं।

प्रायश्चित देने वाले आचार्य को आहार द्रव्य का ज्ञान होना आवश्यक है। कोई आहार द्रव्य रस प्रचुर होता है, कोई धान्य प्रचुर या शाक बहुल होता है। तथा किसी मे लपसी तथा शाक की मुख्यता होती है। कोई पदार्थ पेय (पीने योग्य पतला) होता है। इत्यादि आहार के पदार्थों के स्वरूप और प्रकृति का ज्ञान प्रायश्चित दाता को होना आवश्यक है।

प्रायश्चित लेने वाले और देने वाले को क्षेत्र (देश) का भी ज्ञान रखना चाहिए। यह देश अनूप (जल बहुल प्रदेश) है, या जांगल (अल्प जलवाला) है अथवा साधारण है।

प्रायश्चित देते समय आचार्य को वर्षाकाल, ग्रीष्मकाल और शीतकाल का ध्यान रखकर प्रायश्चित देना चाहिए। तथा प्रायश्चित ग्रहण करने वाले के क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोषादि भावों का तथा प्रायश्चित देने के परिणाम का भी विचार कर लेना चाहिए।

प्रायश्चित आचार करने में तत्पर हुआ यह साधु क्या सङ्घ मे सद्भाव करने के उद्देश से अथवा यश के लोभ से अथवा कर्मों की निर्जरा करने के लिए प्रवृत्ति करता है, इसका ध्यान भी आचार्य को रखना आवश्यक है।

आचार्य को प्रायश्चित का निर्णय करते समय प्रायश्चित लेने वाले के उत्साह और शारीरिक बल की और भी दृष्टि रखना परमावश्यक है। जिस प्रायश्चित मे अपराध शुद्धि के साथ उत्साह की वृद्धि होती रहे तथा उसका शरीर उस प्रायश्चित का सहन करले वैसा ही योग्य प्रायश्चित विद्वान आचार्य दिया करते हैं।

जो चिरकाल का दीक्षित है तथा जो नवीन दीक्षित है, उनके समान अपराध होने पर भी प्रायश्चित मे अन्तर होता है। चिरकाल के दीक्षित की सहिष्णुता और नवीन दीक्षित की सहनशीलता एकसी नहीं होती है, अतः आचार्य उनके प्रायश्चित मे भी अन्तर रखते हैं।

आगम के ज्ञाता व आगमज्ञान हीन के प्रायश्चित मे भी विशेषता होती है। कोई भय से प्रायश्चित का ग्रहण करता है और कोई आदर बुद्धि से अपना कर्त्तव्य समझकर प्रायश्चित का ग्रहण करता है। इत्यादि सब बातों को लक्ष्य मे रखकर गम्भीरता व दूरदर्शिता से विचार कर आचार्य प्रायश्चित देते हैं और मुनिवर्ग को शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—प्रायश्चित शास्त्रों के ज्ञान से शून्य जो आचार्य अपने सङ्घ स्थित साधुवर्ग को तथा श्रावक आर्यिका आदि को शुद्ध करने के हेतु प्रायश्चित देते हैं, उससे क्या हानि होती है?

उत्तर—जिसको प्रायश्चित शास्त्रो का ज्ञान नहीं है, तथा जिसने आचार्यों के प्रायश्चित देने के क्रम को नहीं जाना है, वह आचार्य पद के योग्य नहीं है। क्योंकि आचार्य के गुणों मे व्यवहारवत्व नाम का तीसरा गुण माना गया है। वह गुण उसमे अवश्य होना चाहिए, उसके बिना कोई आचार्य नहीं बन सकता है। जो साधु आचार्य योग्य गुण के न होने पर भी आचार्य बन बैठता है, वह अनन्त ससार का भोगी होता है, यथा :—

ववहारमयाणंतो ववहरणिज्जं च ववहरंतो खु।
उस्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदि यदि ॥ ४५२ ॥ (भग. आ.)
व्यवहारापरिच्छेदी व्यवहारं ददाति यः।
अवाप्यैपोऽयशो घोरं संसारमवगाहते ॥ ४६४ ॥ (सं. भग. आ.)

अर्थ—जिसको प्रायश्चित का निरूपण करने वाले ग्रन्थों का, उनके अर्थ का तथा प्रायश्चित कर्म का ज्ञान नहीं है और जो आलोचनादि नव प्रकार के प्रायश्चित का आचरण अपनी मनःकल्पना से करवाता है, वह तुण्डाचार्य (मनःकल्पित मुख से प्रायश्चित देने वाला) दूसरे को शुद्ध नहीं करता है। स्वय संसार रूपी गहन पंक में फंसता है। संसार से भयभीत यतीश्वरों को व्यथ क्लेश देता है। कारण कि किस अपराध का कौनसा प्रायश्चित होता है, ऐसा ज्ञान उसको नहीं होता है और साधु वर्ग को अनुचित दण्ड देकर वृथा सताता है। आगमविपरीत उन्मार्ग का उपदेश व सन्मार्ग का विनाश करने के कारण वह आचार्य दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध करके अनन्त संसार की वृद्धि करता है। उसका लोक मे घोर अयश होता है। इसलिए ससार से डरने वाले को प्रायश्चित शास्त्रों का ज्ञान न होने पर अपने को झूठे आचार्य पद से कलंकित न करना चाहिए। 'हम आचार्य हैं हमने जिस प्रायश्चित का आचरण करने का आदेश दिया है, उसे तुमको पालन करना होगा' ऐसा स्वेच्छा से कभी न बोलना चाहिए।

हे क्षपक! जो मूर्ख व नवीन शिष्य मण्डली को बनाकर अज्ञ मनुष्यों से आदर पाकर अहंकार को प्राप्त होगया है। उसके निकट आत्म शुद्धि की आशा से मत जाओ। उसका वाक् जाल व ऊपर के दिखावे में आकर अपनी आत्मा का विनाश न करो। जो वैद्य रोग का स्वरूप नहीं समझता है, वह अज्ञ वैद्य रोग की चिकित्सा करने मे समर्थ नहीं हो सकता है। वैसे ही जो आचार्य प्रायश्चित शास्त्रों के ज्ञान से शून्य है, वह रत्नत्रय को निर्मल करने की अभिलाषा रखते हुए भी उसको निर्मल करने में कृतकार्य नहीं होता है। इसलिए हे क्षपक! तुम्हें प्रायश्चित शास्त्रों के रहस्य के ज्ञाता आचार्य के पादमूल में ही निवास करना उचित है। उनके सम्पर्क में रहने से ही तुम्हारे दर्शन की विशुद्धि, ज्ञान की प्राप्ति व वृद्धि और चारित्र की उन्नति हो सकती है। धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान की सिद्धि और आत्मा की विशुद्धि भी उनकी शरण लेने से ही हो सकती है।

आचार्य का प्रकारत्व गुण

जब क्षपक साधु बसतिका में प्रवेश करता है, उस समय आचार्य उसे उचित स्थान देता है। जब बाहर जाना चाहता है, तब उसके अनुकूल परिस्थिति की योजना करता है। शय्या संस्तर और उपकरण की आवश्यकता की पूर्ति करता है, तथा वसतिका शय्या उपकरणादि के शोधन करने मे तथा रुग्णावस्था मे अथवा उठने बैठने की सामर्थ्य न रहने पर साधु को हस्तावलंबन देकर या अन्य साधुओं को वैयावृत्त्य के लिए नियत करके अशक्त साधु को उठाने, बैठाने, शय्या पर सुलाने, पाद चम्पन, शरीर के मलमूत्रादि की शुद्धि करने में अनुग्रह करता है। तथा आहार पानादि की अनुकूलता सम्पादन करके समस्त सङ्घ का उपकार करता है। ऐसे उचित और आवश्यक साधनों द्वारा क्षपक का उपकार करने वाले आचार्य को प्रकारक (प्रकुर्वी) कहते हैं।

सं. प्र.

प्रकारत्व गुण के धारक आचार्य अवसर आने पर छोटे से छोटे और बड़े से बड़े विद्वान् या अल्पज्ञ समस्त साधुओं की सब प्रकार की सेवा करने में स्वयं तत्पर रहते हैं, सेवा शुश्रूषा करने मे अत्यधिक परिश्रम होने पर खिन्न चित नहीं होते है, सदा प्रसन्नचित होकर सेवा में मग्न रहते हैं। वह आचार्य उक्त गुण से अलंकृत होते हैं। इसलिए क्षपक को प्रकारक गुरु की छत्रछाया मे ही निवास करना चाहिए।

आचार्य का आयोपायदर्शित्व गुण

जो क्षपक (समाधिमरण का इच्छुक साधु) आत्म-विशुद्धि करने मे प्रयत्नशील हो रहा है, आहार का त्याग करके काय को कृश कर रहा है, सद्भावना और सुध्यान का आश्रय लेकर कषाय को भी मन्द करने मे तत्पर है, जो मोक्ष प्राप्ति के निकट पहुंच रहा है, अथवा मनुष्य पर्याय के अन्त के सन्निकट प्राप्त हो गया है उस क्षपक के भी क्षुधादि की असह्य वेदना के उपस्थित होने पर रागद्वेष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। क्योकि जब वह क्षुधा तृषा की दारुण वेदना से पीड़ित हो जाता है उस समय मोहनीय कर्म के उदय से उसकी परिणति मलीन हो जाती है। तथा समाधिमरण का कार्य प्रारम्भ करते समय उसने प्रतिज्ञा की थी कि मुनि दीक्षा ग्रहण करने के काल से लेकर अब तक रत्नत्रय मे जो अतिचार उत्पन्न हुए हैं, उन सबको गुरु महाराज के निकट प्रकट करूंगा। किन्तु पश्चात् उसके लज्जा तथा मान का उदय होने पर वह दोषों की स्पष्ट आलोचना करने मे हिचकिचाने लगता है। वह अभिमान वश सोचता है कि यदि मेरे अपराध आचार्य को विदित हो जावेंगे तो वे मेरी अवहेलना करेंगे। या अन्य मुनि जो मेरी वन्दना करते हैं; आदर सत्कार करते हैं; मेरे दोष प्रकट हो जाने पर ये मेरी वन्दना व आदर सत्कार न करेंगे। मुझे घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे इत्यादि कल्पना करके अपने को निर्दोष और उच्च सिद्ध करने के अभिप्राय स गुरुदेव के समीप अपने दोषो की आलोचना करने के लिए पीछे हटता है। उसे यह भय लगा रहता है कि यदि मैं अपने सब अपराध कह दूंगा तो कदाचित् आचार्य मुझे सङ्घ से बहिष्कृत कर देंगे। इत्यादि अनेक आशकाएं उस क्षपक के अन्तः करण मे घर बनाये रहती हैं। इसलिए वह उन्नत विचार वाला पवित्रात्मा शरीर का उत्सर्ग करने के लिए उद्यत हुआ भी क्षपक अपने दोष गुरु से निवेदन नहीं करता है। उसको आयोपायदर्शन गुण के धारक आचार्य दोषो की आलोचना करने से होने वाले लाभ को और आलोचना न करने से उत्पन्न होने वाली हानि को भलीभांति दिखाते हैं। क्षपक को मधुर और हितकर शब्दों मे समझाते हैं।

हे महात्मन्! यदि तुम अपने अपराधों को प्रकाशित न करोगे तो तुम्हारा यह दुर्लभ रत्नत्रय नष्ट हो जायगा। जैसे किसी के गुह्य अङ्ग मे विपाक्त (जहरीला) फोड़ा हो जावे और वह चिकित्सक से लज्जादि के वश न कहे तो वह विनाश का कारण होता है। उसी प्रकार जो क्षपक अपने रत्नत्रय को मलीन करने वाले अतिचारों (अपराधो) को रत्नत्रय के विशोधक आचार्य के समीप नहीं कहता है तो वह रत्नत्रय रूप अपने दुर्लभ जीवन की हत्या करता है। और जो निष्कपट भाव से अपने दोषों का ज्यो का त्यो वर्णन कर देता है, वह

रत्नत्रय जीवन को विशुद्ध और अमर बनाता है। इसलिए हे पवित्र-हृदय महापुरुष! तुमको अपने कल्याण के निमित्त, रत्नत्रय रूप चिन्तामणि रत्न को उज्ज्वल बनाने के लिए लज्जा, मान व भय का परित्याग कर दीक्षा काल से लेकर आज तक के सब अपराधों का यथार्थ प्रकाशन करो।

हे साधो! तुमने अपार और अनन्त संसार का उच्छेद करने के लिए संयम का आराधन किया है। अनन्त काल से यह जीव चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण कर रहा है। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों में विरले ही भाग्यशाली जीव हैं, जिनको यह दुर्लभ संयमरत्न मिलता है। दैवयोग से तुमको यह संयमरत्न प्राप्त होगया है। कौन ऐसा मूर्ख मनुष्य होगा जो शल्य सहित मरण कर इसे प्राप्त हुए संयमरत्न का नष्ट करेगा। क्योंकि जिस आत्मा मे शल्य का निवास होता है, उसमें रत्नत्रय नहीं रहता है। जैसे जहां अन्धकार का साम्राज्य है वहां प्रकाश नहीं रहता है। वैसे ही जिसकी आत्मा मे शल्य रहता है उसमें रत्नत्रय नहीं रहता है। इसलिए रत्नत्रय के शत्रु मायाशल्य का सर्वथा परित्याग कर देना ही तुम्हारे लिए हितावह है।

हे क्षपक! कांटा बाण आदि द्रव्य शल्य जैसे शरीर के पांव आदि में प्रवेश करके प्रथम छिद्र करता है, मांस और नाड़ी में घुस कर पीड़ा देता है, पश्चात् शरीर के अवयव को सडा कर उस निकम्मा बना देता है। उसी प्रकार मायादि भावशल्य भी आत्मा को दुःखित करता है। तथा व्रत शीलादि गुणों का विनाश करता है। लज्जा, भय और अभिमान उत्पन्न होने पर माया शल्य उत्पन्न होता है। और मायाशल्य के उत्पन्न होने पर साधु अपराध छिपाने का प्रयत्न करता है।

हे महात्मन्! यदि तुमने मायाशल्य धारण कर दुर्लभ बोधि रत्न को गुमा दिया तो याद रखो जन्ममरण रूपी भंवर से अति गम्भीर महा भयानक, चौरासी लाख योनि से आकुल, इस अनन्त संसार में भ्रमण करते हुए कुयोनियों में पचते हुए तुमको अनगिनत काल तक हृदय विदारक दुःख व संताप भोगने पड़ेंगे।

इस प्रकार आचार्य क्षपक को अपराध प्रकट करने से उत्पन्न होने वाले गुण को और छिपाने से अनन्त संसार (अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक) भ्रमण रूप महान् दुःख को अनेक युक्तियों से समझाते हैं; जिससे क्षपक मायाशल्य का त्याग कर अपने दोषों की आलोचना द्वारा रत्नत्रय की विशुद्धि करता हुआ भव भ्रमण के दुःख से मुक्त होता है। इसलिए जिसमे आयोपायदर्शकता नामक गुण पाया जावे, उस आचार्य के पादमूल का आश्रय लेकर रत्नत्रय की आराधना को परिपूर्ण करना चाहिए।

मं. प्र.

आचार्य में अवपीडकत्व गुण

प्रश्न—यदि कोई क्षपक आलोचना के गुण व दोष का भली भांति निरूपण करने एवं अनेक शिक्षा देने पर भी आचार्य के समीप मान लज्जा भय तथा क्लेश सहन करने की सामर्थ्य का अभाव इत्यादि कारणों से अपने दोषों को व्यक्त करने मे प्रवृत्त न हो तो निर्यापक आचार्य क्या करें ?

उत्तर—आचार्य में अवपीड़कत्व नाम का गुण होता है। उसके बल से आचार्य साधु के हृदय में छिपे हुए गुप्त अपराधों को प्रकट करवा लेते हैं। जैसे सिंह के सामने शृगाल (सियार) उदरस्थित मांस को वमन कर देता है, उसी प्रकार आचार्य की तेजस्विता और प्रभाव से प्रभावित हुआ साधु अपने सब अपराधों को व्यक्त कर देता है।

प्रश्न—आचार्य क्षपक के अपराध व्यक्त करवाने के लिए प्रथम ही इस प्रभाव जनक अवपीड़कत्व गुण का उपयोग क्यो नहीं करते ?

उत्तर—राजा की नीति के समान आचार्य की नीति होती है। राजा अपनी प्रजा के सुख व शान्ति के लिए जैसे अनेक प्रकार की नीति का अवलंबन करता है; वैसे ही सङ्घ के कल्याण के लिए आचार्य को भी विविध सांधनो का प्रयोग करना पड़ता है। आवश्यकता अनुसार ही उनके अवपीडकत्व गुण का प्रयोग होता है।

प्रश्न—आचार्य प्रथमतः क्षपक को अपराध प्रकट करने के लिए किस प्रकार सान्त्वना देकर उत्साहित करते हैं ?

उत्तर—जब आचार्य क्षपक को अपराध के अभिव्यक्त करने से लाभ और अभिव्यक्त न करने से हानि दिखाकर अपने को सफल मनोरथ नहीं पाते हैं अर्थात् हानि लाभ दिखाने पर भी क्षपक जब लज्जा भय मानादि को छोड़ कर अपने अपराधों की आलोचना नहीं करता है, तब निर्यापक आचार्य क्षपक के प्रति स्नेहपूर्ण आत्मीयता प्रकट करने वाले कर्ण मधुर हृदयस्पर्शी मनोज्ञ भाषण करते हैं।

क्षपक के अन्तःकरण को सुखी बनाने वाला उपदेश आचार्य जिस प्रकार देते हैं, उसका दिग्दर्शन निम्न प्रकार किया जाता है।

हे आयुष्मन् ! तुमने सन्मार्ग को अङ्गीकार किया है। और तुम अन्तःकरण से रत्नत्रय को निर्मल करने के लिए सदा दत्तचित्त रहतो हो। इसलिए हे महात्मन ! तुम लज्जा, भय और गौरव को तिलाजलि देकर अपने दोपों का ज्यों का त्यो प्रकाशन करो। गुरुजन तो माता पिता के तुल्य होते हैं। उनके सामने अपराध प्रकट करने मे लज्जा कौनसी ? गुरुजन सदा शिष्य की उन्नति और गौरव की कामना करते हैं। वे शिष्य के अपराध को अपना समझते हैं। वे किस तरह तुम्हारे दोपों को दूसरो पर प्रकट कर सकते हैं। जैसे पुत्र अपने

भयङ्कर अपराध को माता पिता के समक्ष करने मे नहीं हिचकता, वह समझता है कि माता पिता मेरे हितचिन्तक हैं तथा मेरे कल्याण करने मे प्रयत्नशील रहते हैं। इसलिए वह लज्जा को ताक मे रखकर गुप्त अपराध निवेदन कर देता है। वैसे ही उत्तम शिष्य अपने गुरु को संसार में सबसे अधिक हितकर्ता समझता है। क्योंकि वे सर्वदा अपने आत्म कल्याण के कार्य की उपेक्षा कर शिष्यों के कल्याण की साधना में अहर्निश लगे रहते हैं। माता पिता तो स्वार्थवश पुत्र के रक्षण शिक्षणादि कार्य में प्रवृति करते हैं। किन्तु गुरुदेव शिष्य के परलोक सम्बन्धी सुख की प्राप्ति के लिए निस्वार्थ हितचिन्तन में उद्यत रहते हैं। उनके समक्ष लज्जा करना उचित नहीं है।

लज्जा भी सब जगह श्लाघनीय नहीं मानी गई है यथा :—

"धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्ज सुखी भवेत्॥"

अर्थ—धन और धान्य का उचित प्रयोग करने मे, विद्या का ग्रहण (अध्ययन) करने मे तथा आहार और व्यवहार में जो लज्जा नहीं करता है वह सुखी होता है।

हे क्षपक। तुम्हें कदाचित् यह भय हो कि मेरे द्वारा आलोचना किया गया दोष ये (आचार्य) प्रकाशित कर देंगे तो ऐसा भय मुझमे तुम्हें न करना चाहिए। क्योंकि धर्माचार्य संसार मे धर्म के प्रवर्त्तक होते हैं। वे सदा मुनियों की और मुनि धर्म की निन्दा व अपमान को दूर करने मे कटिबद्ध रहते हैं। वे समाधि की सिद्धि के लिए उपस्थित हुए आप सरीखे महात्माओ द्वारा निवेदन किये गये दोषों को किस प्रकार प्रकट करेंगे? सहधर्मी बन्धु का दोष प्रकाशित करना-सम्यग्दर्शन का दूषण माना गया है और परनिन्दा करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है। तथा परनिन्दा करने वाला जगत्-मे निन्दनीय होता है और वह दूसरे के चित मे असह्य संताप उत्पन्न करने के कारण दारुणदुःख का जनक असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है। संघ के साधु तथा अन्य साधु जन ऐसे आचार्य की अवहेलना करते हैं। क्या मैं अपने धर्म रूपी उज्ज्वलरत्न को इस प्रकार पापपङ्क से मलीन करूंगा? क्या पूर्णिमा के चन्द्र के समान धवलयश पर अपयश रूपी कज्जल की कालिमा पोतूंगा? कौन सुबुद्धि इस महान् अनर्थ के मूल परदोष प्रकाशन को करके अपने उन्नत मस्तक पर कालिमा का टीका लगावेगा। इसलिए हे मुमुक्षु! दैवयोग से अथवा प्रमाद या अज्ञान से जो सम्यक्त्वादि मे अतिचार हो गये हो वे छिपाने योग्य नहीं है। निर्मल हुआ रत्नत्रय महा महिमा को प्राप्त होता है। और वह शाश्वत लोकोत्तर (मोक्ष) पद देता है। इसलिए अपने सब दोषो को निर्भय होकर मुझपर प्रकट करो। पूर्ण विश्वास रखो, वे दोष किसी के सामने कभी प्रकट न किये जावेंगे।

स. प्र.

इस प्रकार आचार्य के विश्वसनीय सुमधुर भाषण की भी अवहेलना करके जब क्षपक अपने कृत अपराधों को सम्यक् प्रकार प्रगट नहीं करता है तब आचार्य क्षपक की कल्याण कामना से प्रेरित हुए अवपीड़क गुण द्वारा उसके अन्तःस्थल में छिपे हुए दोषों को अपनी योग्यता के बल से बाहर निकाल लेते हैं। जैसे सिंह शृगाल के उदरस्थित मांस को बाहर वमन करवा लेता है। वे क्षपक को इस प्रकार कहते हैं।

हे साधो! अपराध शरीर के मल के समान या सड़े हुए फोड़े के समान हैं। उनको बाहर निकाल फैंकने से ही हित साधन होता है। भीतर छिपा रखने से दुर्गन्धि फैलती है और उससे अनेक हानियां होती हैं। तुम उनको छिपा रहे हो; इसलिए हमारे यहां से हट जाओ। क्योंकि वैद्य के निकट वही रोगी जाता है, जिसे अपनी व्याधि मिटाने की इच्छा होती है। तथा निर्मल जलाशय के समीप वही गमन करता है जिसको जल की आवश्यकता होती। ऐसे ही रत्नत्रय में लगे हुए दोषों का निराकरण करने के लिए गुरुओं का आश्रय लिया जाता है। और तुम रत्नत्रय की विशुद्धि करने में लापरवाह हो तो फिर तुमने इस समाधिमरण का आडम्बर क्यों रचा है? सल्लेखना (समाधिमरण) की सिद्धि चतुर्विध आहार का त्याग करने मात्र से नहीं होती है। किन्तु उसकी सिद्धि के लिए कषायों का त्याग करना भी परमावश्यक है। कषाय का त्याग करने वाले के संवर और निर्जरा होती है। कषायों से नवीन कर्मों का रसबंध और स्थिति बन्ध होता है। अतः मुमुक्षु उनका निग्रह करते हैं। क्रोधादि कषायों में माया कषाय अति निन्दनीय है। क्योंकि माया से तिर्यंच योनि का बन्ध होता है। उस माया को छोड़ने में तुम असमर्थ हो। तुमने तो तिर्यंच योनि में प्रवेश करने का साधन जुटा रखा है। संसार से निवृत्त होने का तुम्हारा उद्योग कैसे सार्थक होगा? संसार रूप महापङ्क से उद्धार होना अति दुष्कर है। वस्त्र फैंक देने मात्र से निर्ग्रन्थपने का अभिमान करना न्याय सगत नहीं है। यदि नग्न होने से ही निर्ग्रन्थता प्राप्त हो जाती है, ऐसा मान लिया जावे तो तिर्यंच भी निर्ग्रन्थ माने जावेंगे। परम भट्टारक तीर्थंकर देवने दश प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह की गांठ को उतार फैंकने पर मुनिपना बताया है। और वही मोक्ष का अमोघ उपाय है। यद्यपि क्षेत्र वस्तु आदि दश प्रकार परिग्रह का त्याग किये बिना भाव मुनि पना नहीं होता है; तथापि भाव मुनित्व की सिद्धि के लिए बाह्य परिग्रह के त्याग के साथ २ कषायादि का भी त्याग करना आवश्यक है।

हे मुमुक्षो! जो कर्मों का बन्ध होता है, वह जीव और पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध मात्र से नहीं होता है; किन्तु जीव के कषायादि परिणाम से होता है। वह कषाय भाव (माया कषाय) तुम्हारी आत्मा में जाज्वल्यमान हो रहा है, अतः कर्म बन्ध से निवृत्त होने का तुम्हारा प्रयास विडम्बना मात्र है।

हे रत्नत्रय के पालक! अतिचार से दूषित सम्यक्त्वादि मुक्ति के कारण नहीं हो सकते हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह आगम वचन तुम्हारे कर्णगोचर नहीं हुआ है? उसमें निरतिचार दर्शनादि को ही मुक्ति का मार्ग (उपाय) बताया है।

अतिचार सहित दर्शनादि को सम्यग्दर्शनादि नहीं बताया है। और वह सम्यग्दर्शनादि की निरतिचारता गुरु द्वारा बताये गये प्रायश्चित का आचरण करने से ही प्राप्त होती है। गुरु उसी को प्रायश्चित देते हैं जो उनके समक्ष अपने अपराधों की आलोचना करता है। तुमतो अपराधों की आलोचना नहीं कर रहे हो इसलिए तुम दूरभव्य या अभव्य प्रतीत होते हो। अन्यथा ऐसी महान् मायाशल्य को हृदय में स्थान कैसे देते और मुनियों के वन्दना के पात्र भी कैसे होते ? अर्थात् मायाचार से दूषित होने के कारण मुनि द्वारा अवंदनीय होकर भी तुमने मुनियों से वन्दना करवाई है; अतः तुम दूरभव्य या अभव्य ज्ञात होते हो।

'समणं वंदिज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं ।'

अर्थात्—विचारवान् साधु को उचित है कि वह उसी साधु की वन्दना करे जो समचित्तता का धारक हो।

जो साधु जीवन और मरण में, प्रशंसा और निन्दा में, लाभ और अलाभ में समान बुद्धि रखता है, उसे समचित कहते हैं। मैं अतिचार की आलोचना करूंगा तो मेरी सब मुनि निन्दा करेंगे, प्रशंसा न करेंगे-ऐसा तुम मन में विचार कर रहे हो, तुम सम-बुद्धि नहीं हो; अतः वंदना योग्य कैसे हो सकते हो ? तुम शायद यह समझकर आलोचना नहीं कर रहे हो कि मेरे दोषों को संसार में कोई नहीं जानता है। यह तुम्हारी भूल है। तुम्हारे अपराधों को मैं जानता हूँ और अन्य मुनीश्वर भी जानते हैं। इस प्रकार युक्ति सङ्गत ओजस्वी भाषण द्वारा उसके अन्तःकरण में अपना वर्चस्व स्थापित करके उसके अन्तःकरण के प्रच्छन्न अपराधों को प्रकाशित करवा लेते हैं, जैसे सिंह के समक्ष शृगाल अपने उदरस्थित मांसादि को बाहर निकाल देता है। ऐसे गुण के धारक आचार्य को अवपीड़क गुण विशिष्ट कहते हैं।

अवपीड़क आचार्य का लक्षण

उज्जस्सी तेजस्सी वचस्सी पहिदकित्तियायरिओ।
सीहाणुओ य भणियो जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥ ४८७ ॥
कंठीरव इवौर्जस्वी तेजस्वी भानुमानिव।
चक्रवर्त्तीव वचस्वी सूरिरुत्पीड़कोऽकथि ॥ ४६२ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—अवपीड़क गुण के धारक आचार्य सिंह के समान ओजस्वी (प्रभावशाली बलवान्) होते हैं। सूर्य के समान तेजस्वी (प्रतापी) होते हैं। जिनके आगे सब कांपते हैं और जो किसी के प्रभाव (रोब) में नहीं आते हैं उन्हें तेजस्वी कहते हैं। अर्थात् सब यतीश्वरों

म. प्र.

पर उनका प्रभाव होता है [illegible] चक्रवर्ती के समान अप्रतिहत शासन होते हैं, स्वकीय सङ्घ के और अन्य सङ्घ के मुनि जिनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं उन्हें वर्चस्वी कहते हैं। वे प्रश्न का उत्तर देने मे निपुण होते हैं। उनका धवल यश संसार मे विस्तृत होता है। और वे सिंह के समान अक्षुब्ध (क्षोभरहित) होते हैं।

अवपीडक गुण के आधार आचार्य हितचाहने वाली उस माता के समान होते हैं जो रोते हुए बालक के मुह को बलात्कार से खोलकर उसे दूध पिलाती है। आचार्य भी माया शल्य सहित अपने दोषो की आलोचना न करने वाले साधु को बलात्कार से दोषो की आलोचना करने के लिए बाध्य करते हैं। यद्यपि कडुवी औषधि रोगी को बुरी लगती है, तथापि परिणाम मे सुखप्रद होती है। वैसे ही दोषो का प्रकाशन क्षपक को बुरा लगता है, किन्तु भविष्य मे कल्याण का कर्त्ता होता है। अर्थात् दोषो की आलोचना करने पर गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित का आचरण कर क्षपक भविष्य मे संसार परिभ्रमण के दुःख से मुक्त होता है।

जो गुरु शिष्यों के प्रति मृदु भाषणादि सद्व्यवहार तो रखते हैं, लेकिन उनके दोषों का निरावरण नहीं करते हैं, उनकी अपेक्षा वे गुरु दुर्लभ हैं, जो शिष्यों की हितकामना से पादप्रहार करके भी उनके दोषो का निवारण करते हैं। कारण कि इस लोक मे अपने हितकर कार्य मे तत्पर रहने वाले तथा परहित कार्य मे उपेक्षा करने वाले ही मनुष्य बहुत पाये जाते हैं। अपने हित के समान परहित का चिन्तन करने वाले बहुत कम दिखाई देते हैं। अर्थात जो आत्महित करते हुए परहित मे निरत रहते हैं, वे ही नरपुंगव कटुकठोर अप्रियवचन बोलकर भी शिष्य का कल्याण करते हैं। ऐसे जगद्गुरु इस लोक मे अतिशय दुर्लभ हैं।

शङ्का—यदि कोई शिष्य अपने पूर्व दोषो की आलोचना न करे तो वह भविष्य में निर्दोष सयम का पालन करने में कटिबद्ध रह सकता है या नहीं ?

समाधान—जो साधु अपने दोषो से निवृत्त नहीं होता है, वह भविष्य में निर्दोष आचरण करने में समर्थ नहीं हो सकता है। जैसे किसी मनुष्य के व्रण (घाव) सड गया है, उस सड़े भाग का आपरेशन या इंजेक्शन आदि के प्रयोग से जब तक शोधन नहीं किया जाता है, तब तक उसकी प्रवृत्ति (चेष्टा) सुखमय नहीं होती है। उसी प्रकार जब तक पूर्व अपराधों (दोषो) का शोधन नहीं किया जाता है, तब तक उसके अन्तःकरण मे दोषो की वासना बनी रहने के कारण गुणो मे अप्रतिहत प्रवृत्ति नहीं होती है।

जब तक आत्मा मे दोषो का सद्भाव रहता है तब तक रत्नत्रय की शुद्धि नहीं होती है और रत्नत्रय की शुद्धि के बिना संसार-चक्र से निकलकर मोक्ष के निकट पहुंचना असभव है, इसलिए अवपीड़क गुण के धारक आचार्य जैसे बने वैसे क्षपक (संमाधि के आराधक) के हृदय से दोषो का वमन करवाकर उसका कल्याण करते हैं।

आचार्य की विशिष्टता

प्रश्न—साधु को अपने दोष गुरु महाराज के निकट मायारहित होकर स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है। तथा उसके निवेदनन करने पर आचार्य प्रथम मधुर स्नेह युक्त वचन से और पश्चात् कटु कठोर प्रभावशाली वचन से क्षपक को अपने दोष प्रकट करने के लिए बाध्य करते हैं। लेकिन आचार्य साधु के गुप्त दोषों को यदि प्रकरण पाकर या द्वेषवश मुनि समाज में प्रकट करदें तो क्षपक की महती हानि होने की संभावना रहती है। अतएव आचार्य का उस समय क्या कर्त्तव्य-धर्म होना चाहिए ?

उत्तर—आचार्य वही हो सकता है, जिसका हृदय गंभीर होता है। जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला पानी का शोषण करता है; शोषण किया हुआ पानी उससे कभी बाहर नहीं निकलता है, वैसे ही आचार्य के अन्तःकरण में रखा हुआ साधु का दोष जीवन पर्यन्त कभी बाहर प्रकट नहीं होता है। उसकी हवा भी किसी निकटवर्ती मुनि को नहीं मिलती है। आचार्य के मुख से तो क्या उनके इंगिताकार से (चेष्टा से) भी कोई इंगितज्ञ पता नहीं चला सकता है। ऐसे गंभीर हृदय वाले आचार्य को अपरिस्रावी गुण का धारक कहा है। जिसमें यह गुण नहीं है, वह आचार्य पद के योग्य नहीं होता है। आचार्य पर विश्वास करके साधु अपने भयानक दोषों को भी स्पष्ट प्रकट कर देता है। यदि वह साधु के दोषो को प्रकट करदे तो उसे आगम मे धर्म से पतित माना है वही कहा है।

आयरियाणं वीसत्थदाय भिक्खू कहेदि सगदोसे।
कोई पुण खिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥ ४८८ ॥

अर्थ—साधु आचार्य पर विश्वास कर अपने दोषों का प्रकाशन करते हैं और यदि वह आचार्य उन दोषों को अन्य साधुओं पर प्रकट करदे तो वह आचार्य जिनोक्त धर्म से बहिर्मुख हुआ समझा जाता है। अर्थात् जिनागम में आचार्य के लिए साधु के आलोचना किये गये दोषों को किसी भी प्रकार से प्रकट नहीं करने की आज्ञा है। यदि वह इसके विपरीत आचरण करता है तो वह जिनाज्ञा का उल्लंघन करनेवाला धर्म-भ्रष्ट माना गया है, तथा विश्वासघात के महापाप से दूषित कहा गया है।

प्रश्न—कोई आचार्य यदि साधु का अपराध अन्य के समक्ष व्यक्त करदे तो उससे साधु की क्या हानि होती है ?

उत्तर—जिस साधु के दोष आचार्य ने अन्य साधु आदि पर प्रकट किये हैं वह लज्जा या मान के वश क्रुद्ध होकर आचार्य का ही नहीं, कभी २ रत्नत्रय का भी त्याग कर देता है। और यदि वह साधु यशस्वी और जगन्मान्य हो तो कभी २ आत्महत्या तक कर बैठता है वह कलंकित जीवन से मृत्यु को श्रेष्ठ समझकर क्रोध से अन्धा हुआ महापाप जनक आत्मघात करने में भी प्रवृत्त हो जाता है।
सं. प्र.

साधु के आलोचित दोष प्रकट करने वाले आचार्य का वह साधु तथा अन्य सङ्घ के साधु परित्याग कर उसके शासन की उपेक्षा करने लगते हैं। सङ्घ में खलबली मच जाती है। जिस साधु का आलोचित दोष आचार्य ने प्रकट किया है, वह मुनि सब साधुओं को 'आज इसने मेरे दोष सबके सम्मुख प्रकट किये हैं, कल तुम्हारे भी करेगा' ऐसा कहकर आचार्य के प्रति विरुद्ध और श्रद्धाहीन कर देता है। आचार्य के प्रति विपरीत हुए साधु उस आचार्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं।

इतना ही नहीं मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका यह चतुर्विध सङ्घ भी उस आचार्य का परित्याग करता है।

परदोष का प्रकाशक आचार्य अपना और साधुओं का तथा सङ्घ का ही अनिष्ट नहीं करता, बल्कि पवित्र जैन धर्म का और साधु धर्म का अपवाद करने वाला होता है। लोग कहने लगते हैं कि—

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडम्बनाम् ।
धिक् धिक् निर्धर्मा साधूनिति वक्ति जनोखिलः ॥ ५०९ ॥
विश्वासघातका एव दुष्टाः सन्ति दिगम्बराः ।
ईदृशीं कुर्वते निन्दां मिथ्यात्वाकुलिता जना ॥ ५१० ॥ (सं. भग. आ.)

अर्थात—जिस सम्प्रदाय में आचार्य शिष्य की विडम्बना करते हैं, शिष्य का दूषण प्रकट करते हैं, उस सम्प्रदाय के साधुओं को सम्पूर्ण जनता धिक्कार देती है। दिगम्बर साधु विश्वास घातक और दुष्ट होते हैं, ऐसी निन्दा मिथ्यात्व दूषित मनुष्य करने लगते हैं।

अपरिस्रावी गुण के धारक आचार्य दोष प्रकट करने से उत्पन्न होने वाले इस प्रकार के सब दूषणों को भली भांति जानते हैं। बिना पूछे वे दोष का प्रकाशन कैसे कर सकते हैं! किसी के पूछने पर भी अपने मुख से कभी दोष प्रकाशित नहीं करते हैं। इसलिए हे क्षपक साधुओ! दोष का निगूहन करने वाले रहस्य का भेदन न करने वाले आचार्य का आश्रय करो।

आचार्य का सुखकारी गुण

प्रश्न—आचार्य में एक सुखकारी गुण माना गया है, उसका स्वरूप क्या है। क्षपक के लिए आचार्य किस प्रकार के सुखों का साधन करते हैं?

उत्तर—क्षपक के योग्य भोजन पान की योग्यता को मिलाकर आचार्य उसे शान्ति पहुँचाते हैं। उचित परिचारकों को वैयावृत्य में नियुक्त करके तृण के संस्तर आसनादि की अनुकूल व्यवस्था करके उसे आराम देते हैं। क्षपक के चित्त में क्षुधादि के कारण क्षोभ उत्पन्न होने पर या परिचारकों के प्रमाद से अथवा शीतादि की परीषह से या रोग की तीव्र वेदना से अति संक्लेश उत्पन्न होजाने पर उसके चित्त में मर्यादा भङ्ग करने की परिणति होने लगती है। ऐसे समय शान्तचित्त क्षमाशील धैर्य धारण कर निर्यापकाचार्य क्षोभ रहित होकर स्नेह युक्त मधुर चित्त प्रसन्न करने वाली कर्ण-प्रिय कथाओं को कहकर क्षपक के चित्त में शान्ति और सुख का सञ्चार करते हैं। और उसको संयम मे दृढ़ करते हैं। यथा :—

सुखकारी, दधात्येनं मज्जन्तं दुस्तरे भवे।
पूतरत्नभृतं पोतं कर्णधार इवार्णवे ॥ ५१६ ॥
शीलसंयमरत्नाढयं यतिनावं भवार्णवे।
निम्मज्जन्तीं महाप्राज्ञो विभर्ति सूरिनाविकः ॥ ५२० ॥ (सं. भग. आ.)

अर्थ—जैसे समुद्र की गहराई उतराई का ज्ञाता कुशल कर्णधार रत्नों से भरे हुए जहाज को समुद्र के भीतर भँवर चट्टान आदि से बचाकर सांयात्रिकों (जहाजी व्यापारियों) को मधुर और प्रिय वाक्यों से धैर्य बंधाता हुआ अभीष्ट स्थान पर सुख से ले जाता है, वैसे ही संघ का नायक आचार्य संसार समुद्र मे डूबती हुई शील संयमादि गुण रत्नों से परिपूर्ण यति नौका को अपनी बुद्धि की पटुता से मोक्ष नगर के निकट पहुँचाता है।

भावार्थ—रत्नादि बहु मूल्य से भरे हुए जहाज का खेवटिया वही हो सकता है, जिसने अथाह समुद्र में ऊँची उछलती हुई तरंगों मे जहाज को निरन्तराय पार करने का पूर्ण अभ्यास किया हो तथा जिसको प्राप्त होने वाली विघ्न बाधाओं का तथा उनके निवारण करने के उपायों का पूर्ण अनुभव ज्ञान प्राप्त हो। उसी प्रकार निर्यापकाचार्य भी वे ही हो सकते हैं जिन्होंने जिनागम के रहस्य का पूर्ण अनुभव किया है। संयम से परिपूर्ण यति पोत (मुनि रूप जहाज) क्षुधा पिपासादि तरङ्गों के आघात से जब उछलने लगता है, संसार समुद्र में डूबने के उन्मुख हो जाता है ऐसे समय मे वह आचार्य बुद्धि कौशल से हृदयग्राही मधुर वचन से उसको बचाकर लक्ष्य स्थान पर ले जाते हैं। उनकी वाणी में ओज होता है। धैर्य और साहस उसमें उत्पन्न करने की शक्ति होती है। दुःखित हृदय मे आनन्द का स्रोत बहाती है। नीरस जीवन मे सरसता उत्पन्न करती है। उसकी मधुरता कर्ण और अन्तःकरण मे मधुरिमा की वृष्टि कर देती है। शरीर से परम वैराग्य उत्पन्न कर मुक्ति अङ्गना के अनुपम और अविनश्वर सहजानन्द की झलक का अनुभव कराती है। ऐसी वाणी के धारक, आत्मानुभव रस के

आस्वादन करने वाले, ज्ञानामृत के अवगाहक, चारित्र नन्दनवन मे रमण करने वाले महात्मा ही आचार्य पद को सुशोभित कर शरणागत शिष्य जनो को उक्त गुणो का अपने आचरण और मधुर भाषण से आस्वादन कराकर उन्हें दुःखी से सुखी बनाते हैं।

उक्त आचारवान् से लेकर सुखकारी पर्यन्त आठ गुणों का सद्भाव जिसमें पाया जाता है, उस आचार्य का अन्वेषण कर शरण लेने से ही साधक के उद्देश्य की पूर्ति होगी और वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

सगुण आचार्य की प्राप्ति कैसे हो

प्रश्न—मुमुक्षु साधु को उक्त गुण रत्नो से अलकृत आचार्य की शरण प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए।

उत्तर—परहित-निरत, आगमामृत भोजी, चारित्र पीयूष पान से संतृप्त आचार्य की प्राप्ति गुरुकुल (मुनि सघ) को आत्म-समर्पण करने से अर्थात् आचार्य के शासन को शिरोधार्य कर उनके पाद मूल मे निवास करने से होती है।

गुरुकुल (मुनि सघ) को आत्म-समपण करने का समाचार-क्रम निम्न प्रकार है—

क्षपक गुरुकुल को आत्म समर्पण कैसे करे ?

जब साधु आचार्य के चरणों की शरण में जावे तब प्रथमतः मन वचन और काय से सामायिकादि छह आवश्यक को पूर्ण करके दोनो हाथ जोड़ कर मस्तक नवाकर वन्दना करे।

सामायिक, प्रतिक्रमण, चतुर्विंशति सस्तव, वन्दना, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग-इन छह आवश्यक क्रियाओ को मन वचन और काय से करना चाहिए। अर्थात प्रत्येक आवश्यक मनोयोग, वचनयोग और काययोग के भेद से तीन तीन प्रकार का हो जाता है। मन द्वारा सर्व सावद्य योगों का त्याग करना मनोयोग सामायिक, 'मैं सम्पूर्ण सावद्य योगों का त्याग करता हूँ' ऐसा वचन उच्चारण करना वचन योग सामायिक काय से सर्व सावद्य योग क्रिया का त्याग करना काय योग सामायिक, इस प्रकार सामायिक के तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार प्रतिक्रमणादि के भी तीन २ भेद होते हैं। पूर्वकृत अतिचारो का मन से त्याग करना, हाय हाय मैंने अमुक २ पाप कार्य किया है, ऐसा चिन्तन कर मनमे पश्चाताप करना मनः प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के सूत्रो का उच्चारण करना वचन प्रतिक्रमण और काय द्वारा उन अतिचारो का आचरण न करना काय प्रतिक्रमण है।

मनसे चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का स्मरण करना, वचन से 'लोगस्सोजोयगरे' इत्यादि पाठ पढ़कर तीर्थंकरों की स्तुति करना, मस्तक पर हाथ जोड कर जिनेन्द्र देव को नमस्कार करना ये चतुर्विंशति संस्तव के तीन भेद हैं।

वंदना करने योग्य गुरुओं के गुणों का स्मरण करना मनो वन्दना, वचन द्वारा उनके गुणों की महिमा वर्णन करना वचन वन्दना और प्रदक्षिणा देना, मस्तक झुका कर नमस्कार करना यह काय वन्दना है।

भविष्य में 'मैं मनसे अतिचार न करूंगा' ऐसा चिन्तन करना यह मनःप्रत्याख्यान है, वचन से 'मैं भविष्य में अतिचार न करूंगा' यह वचन प्रत्याख्यान और काय से भविष्य काल मे अतिचार का आचरण करना काय प्रत्याख्यान है।

'यह शरीर मेरा नहीं है' ऐसा मन मे विचार कर मन से शरीर प्रेम को दूर करना मनःकायोत्सर्ग, 'मैं शरीर से प्रेम का त्याग करता हूँ' ऐसा वचनोच्चारण करना वचन कायोत्सग तथा हाथों को नीचे लटकाकर दोनों पैरो में चार अंगुल का अन्तर रखकर नासाग्रदृष्टि किये हुए शरीर सम्बन्धी अनेक उपसर्गादि द्वारा विघ्न वाधा उपस्थित होने पर भी निश्चल खड़े रहना काय द्वारा कायोत्सर्ग है।

प्रसन्न चित्त गुरु जब एकान्त में विराजमान हों उस समय शनैः शनैः (विनय पूर्वक) आकर शरीर और भूमि का प्रतिलेखन कर (पिच्छी द्वारा प्रमार्जन कर) आचार्य के न तो अधिक निकट और न बहुत दूर बैठकर हाथ जोड कर 'हे भगवन् मैं कृतिकर्म वन्दना करना चाहता हूँ' ऐसी आलोचना करे। गुरु महाराज से अनुज्ञा प्राप्त होने पर धीरे से उठकर मस्तक पर हाथ जोड़ कर न तो अधिक शीघ्र और न बहुत धीरे मध्यम वृत्ति से सामायिक पाठ का उच्चारण करे।

सूत्र के अनुसार निश्चल विकार रहित खड़ा हो कायोत्सर्ग करे। पश्चात् चतुर्विंशति स्तव (चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति) पढ़कर आचार्य पर अनुराग धारण करता हुआ गुरु की स्तुति पढ़े। इसे कृतिकर्म वन्दना कहते हैं। वन्दना करने के बाद आचार्यवर्य से हाथ जोड़ कर निवेदन करे।

तुज्झेत्थ वारसंगसदपारया सवणसंघणिज्जवया।
तुज्झं खु पादमूले सामण्णं उज्जवेज्जामि ॥ ५१० ॥
पव्वज्जादी सव्वं कादूणालोयणं सुपरिसद्धं।
दंसणणाणचरित्ते णिसल्लो विहरिदुं इच्छे ॥ ५११ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे गुरुदेव ! आप द्वादशाग श्रुतज्ञानरूपी सागर के पारगामी हैं। तपस्वी मुनिश्वरों को सुख पूर्वक समाधिमरण कराने में कुशल हैं। मैं आपके पादपद्म का शरण प्राप्त कर अपने मुनि धर्म-को उज्ज्वल करना चाहता हूं। दीक्षा धारण करने से लेकर आज तक जो अपराध हुए हैं, उनकी आकम्पित अनुमानितादि दश दोष रहित आलोचना करके दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे निःशल्य प्रवृत्ति करना चाहता हूँ।

इस प्रकार क्षपक जब अपना अभिप्राय आचार्य के निकट प्रकट करता है, तब आचार्य कहते हैं—हे मुमुक्षो ! तुमने वाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग किया है, अतएव अब तुम निर्विघ्न उत्तम प्रयोजन रत्नत्रय को सिद्ध करो।

हे महाभाग ! तुम जगत् मे धन्य हो, जो नारकादि चतुर्गति मे भ्रमण कराने वाले दुष्कर्मों का तथा ससार में उत्पन्न होने वाले जन्म जरा मरण आधि व्याधि जन्य असह्य दुःखो का सहार करने वाली रत्नत्रय की साधना रूप समाधिमरण–आराधना के ग्रहण करने का निश्चय किया है। इससे कर्मों का क्षय होता है। और कर्मों के क्षय होने पर उससे उत्पन्न होने वाले दुःखों का निवारण होता है।

हे महात्मन् ! तुम निशङ्क होकर हमारे सघ मे निवास करो। अपने मन से सम्पूर्ण व्याकुलता को दूर करो। हम तुम्हारे प्रयोजन के विषय मे परिचारकों के साथ विमर्श करके निश्चय करेंगे।

इस प्रकार आचार्य आगन्तुक समाधिमरण के अभिलाषी मुनि को कहकर उसे गुरुकुल मे निवास करने की अनुमति देते हैं। तत्पश्चात् आचार्य क्षपक के समाधिमरण की निर्विघ्न साधना के लिए राज्य, क्षेत्र, देश, गाव, नगर, तथा उसके अधिपति सघ और स्वयं अपनी योग्यता की परीक्षा (जाच) करते हैं। क्योंकि इनके अनुकूल होने पर सम्यक्त्वादि की वृद्धि होती है। और प्रतिकूल होने पर प्रयोजन की सिद्धि नही होती है। तथा कभी २ विपरीत परिणाम भी हो जाता है।

सबसे प्रथम आचार्य आगन्तुक क्षपक की परीक्षा करते हैं–उसकी आहार मे लम्पटता है या नहीं ? इसकी जाच करते हैं। यदि क्षपक आहार का लम्पटी हुआ तो वह अहर्निश आहार का चिन्तन करता रहेगा वह आराधना को सफल कैसे बना सकेगा ? उसकी क्षुधा तृषादि के सहन करने की सामर्थ्य की भी परीक्षा करते हैं। यदि उसमे सहन शक्ति न हुई तो क्षुधादि से पीडित होकर चिल्लाने लगेगा और धम को दूषित करेगा ? क्षपक की आराधना मे विघ्न उपस्थित होगा, या न नहीं होगा ? आचार्य इसका विचार किये बिना यदि क्षपक को ग्रहण कर लेगा तो विघ्न उपस्थित होने पर बीच मे ही उसे त्याग करना पड़ेगा, इससे क्षपक का भी प्रयोजन सिद्ध न होगा और आचार्य की भी लोक में निन्दा होगी।

इसका विचार करने के अनन्तर आचार्य राज्य क्षेत्र देश नगर गांव आदि की परीक्षा करके निर्णय करते हैं कि यह राज्यादि

इस क्षपक के कार्य के साधक नहीं हैं तो अन्यत्र राज्य क्षेत्र देशादि का आश्रय लेते हैं। वहां पर क्षपक की कार्यसिद्धि,गण (संघ) की शान्ति (उपद्रवादि का अभाव) तथा स्वयं अपने सब कार्यों में सुलभता पाते हैं तब क्षपक के समाधिमरण कार्य का प्रारम्भ करते हैं। जो आचार्य इन सब साधन सामग्री का परीक्षण न करके कार्य प्रारम्भ करते हैं, वह क्षपक का उपकार करने में तथा अपने हित साधन में विफल होकर क्लेश के भाजन होते हैं।

क्षपक के लिए संघस्थ परिचारक साधुओं की सम्मति

प्रश्न—राज्य देश नगरादि के शुभ अशुभ की परीक्षा करलेने के बाद आचार्य क्या करते हैं ?

उत्तर—आचार्य क्षपक की प्रकृति तथा क्षपक के उत्तम प्रयोजन के अनुकूल देशादि की परीक्षा (जांच) करलेने के अनन्तर परिचारक साधुओं से पूछताछ करते हैं। उनकी इस कार्य में क्या सम्मति है ? और वे इसमें उत्साह पूर्वक सहयोग दे सकेंगे या नहीं ? यह सब जानने के लिए उनसे पूछते हैं—

हे वैयावृत्त्य परायण महात्माओ ! यह आगन्तुक साधु समाधिमरण का आराधन करने के लिए हमारी सहायता चाहता है। 'साधु समाधि और वैयावृत्त्य करना' तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है, इसका आपको भली भांति निश्चय है। इसलिए आप सोच विचार कर उत्तर दें ? क्या इस साधु पर अनुग्रह किया जाय या नहीं ? लोक व्यवहारी मनुष्य भी प्रायः परहित साधन में कटिबद्ध रहते हैं, तो यति महात्माओं के लिए क्या कहना है ? वे तो समस्त निकट भव्य जनों का संसार समुद्र से उद्धार करने मे उद्यत रहते हैं। 'आदहिदंकादव्वं जइसक्कइ परहिदं च कादव्वं' ऐसा आचार्यों का वचन है। इसलिए हमको इस शरणागत साधु पर अवश्य अनुग्रह करना चाहिए। इस प्रकार परिचारक साधुओं को पूछने पर उनकी स्वीकारता मिलने पर आचार्य आगन्तुक साधु को अङ्गीकार करते हैं। परिचारकों से पूछे बिना यदि आचार्य आगन्तुक साधु का कार्य प्रारम्भ करदें तो आचार्य, क्षपक तथा समस्त संघ को संक्लेश उत्पन्न होने की संभावना रहती है। 'मैंने इस क्षपक का कार्य प्रारम्भ कर दिया है, और ये साधु परिचर्या द्वारा सहायता नहीं करते हैं, इस प्रकार आचार्य को संक्लेश उत्पन्न हो सकता है। 'हम लोगो से आचार्य ने इस कार्य में सम्मति नहीं ली है, ऐसा विचार कर क्षपक की परिचर्या (वैयावृत्त्य) मे तत्परता न रखने के कारण क्षपक के मन में 'मेरी ये साधु उचित परिचर्या व भक्ति नहीं करते हैं' ऐसा संक्लेश भाव उत्पन्न होता है। 'इस कार्य मे बहुत जनों की आवश्यकता होती है, अकेला कोई इसे नहीं कर सकता है' गुरु महाराज ने इसमें हमारी अनुमति नहीं ली, न हमारे बल अबल की परीक्षा की और इस कार्य को प्रारम्भ कर दिया इस प्रकार परिचारकों के अन्तःकरण में संक्लेशभाव उत्पन्न हो सकता है।

इसलिए स्व परहित में निपुण आचार्य क्षपक का कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व परिचारक साधुओं की सम्मति प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात समाधिमरण के कार्य का प्रारम्भ करते हैं।

एक आचार्य के पास कितने क्षपक समाधिकरण करते हैं ?

प्रश्न—एक आचार्य के संरक्षण मे कितने क्षपक समाधिमरण कार्य का प्रारम्भ कर सकते हैं ?

उत्तर—जिनेन्द्र देव के उपदेशानुसार एक निर्यायकाचार्य की शरण में एक क्षपक संस्तर पर आरूढ़ हुआ तपरूपी अग्नि में अपने शरीर का हवन करता है और एक साधु उग्र अनशनादि तप द्वारा अपने शरीर का शोषण करता है।

अर्थात्—संघ की अनुमति मिलने पर भी आचार्य एक साधु को ही समाधिमरण कार्य के लिए दो साधुओं पर अनुग्रह कर सकता है। उनमें से एक तो संस्तर पर आरूढ़ हुआ जिनेन्द्र देव के आदेशानुसार तपश्चरणाग्नि मे अपने शरीर की आहुति देता है और दूसरा उग्र उग्र अनशनादि तपश्चरण का आचरण कर अपने शरीर को कृश करता है। इन दो साधुओं के अतिरिक्त एक आचार्य के रक्षण में तीसरे साधु को समाधिमरण कार्य प्रारम्भ करने की जिन शासन में आज्ञा नहीं है। क्योंकि दो या तीन साधु समाधिमरण के लिए संस्तर पर आरूढ हो जावें तो उनके अन्तःकरण को धर्म मे स्थिर रखने के लिए विनय वैयावृत्त्यादि कार्य यथायोग्य नहीं हो सकने के कारण उनके चित्त मे सक्लेश होना अवश्यंभावी है; इसलिए एक क्षपक संस्तरारूढ हो सकता है और एक उग्र तपस्या कर सकता है।

इस प्रकार आचार्य संघ की सम्मति से उक्त प्रकार क्षपक साधु को स्वीकार कर संघ के मध्य उसको उपदेश देते हैं।

आचार्य का क्षपक के प्रति उपदेश

प्रश्न—क्षपक को एकान्त में उपदेश न देकर आचार्य समस्त संघ के मध्य उपदेश क्यों देते हैं ? इसमें क्या रहस्य है ?

उत्तर—सम्पूर्ण संघ के बीच क्षपक को उपदेश देने का कारण यह है कि संघ को भी समाधि का स्वरूप विदित हो जावे, तथा आगन्तुक क्षपक का भी सबको परिचय हो जावे और इस उत्तम कार्य में सबकी साक्षी भी हो जावे।

प्रश्न—आचार्य क्षपक को क्या उपदेश देते हैं, उसका अभिप्राय प्रकट करने की कृपा करें।

उत्तर—निर्यापकाचार्य समाधिमरण का कार्य प्रारम्भ करने वाले साधु को इस प्रकार शिक्षा देते हैं—हे क्षपक ! तुम सुखिया

स्वभाव का परित्याग कर चारित्र का पालन करो। सुख स्वभाव से चारित्र में शिथिलता आती है। सुखिया प्रकृति का मुनि आहार उपकरण और वसतिका की शुद्धि के विषय में उदासीन रहता है। क्योंकि मनोज्ञ आहार का लम्पटी भिक्षा शुद्धि की ओर ध्यान नहीं देता है। जिह्वा की लोलुपता उसे उद्दिष्टादि दूषित आहार का ग्रहण करने में भी प्रेरित करती है। सुन्दर उपकरण का अभिलाषी उद्गमादि दोषों का निवारण नहीं करता है और कष्टासहिष्णु जिस किसी की सजी सजाई वसति में ठहर जाता है। इसलिए सुखिया स्वभाव का परित्याग करो अर धैर्य व साहस का आश्रय लेकर सम्पूर्ण परीषह सेना पर विजय प्राप्त कर चारित्र का संरक्षण करो।

हे क्षपक! यह अज्ञानी जीव मोह के वश इन्द्रियों के अधीन हुआ स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इन विषयों में प्रेम उत्पन्न करता है। तुमने ज्ञान और वैराग्य प्राप्त किया है; इसलिए ज्ञान और वैराग्य के बल से इन पर विजय प्राप्त करो। तथा क्षमा मार्दव आर्जव और शौच भावना के बल से क्रोध मान माया और लोभ का निग्रह करो।

हे इन्द्रिय विजयी साधो! जो जिसके वश में नहीं होता है, वह उसका विजेता कहलाता है। जैसे जो स्त्री पुरुष के वश में नहीं रहती है, वह पुरुष विजयिनी कही जाती है, ऐसा लोक में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार जो शब्दादि विषयों के तथा क्रोधादि कषायों के अधीन नहीं होता है, वह शब्दादि का तथा कषायों का विजेता कहा जाता है। अतएव हे साधो! तुम इन्द्रियों के तथा कषाय के अधीन न होकर इन्द्रिय विजेता और क्षमादि धर्म के आराधक बनोगे।

प्रश्न—गुरु का उपदेश सुनकर क्षपक प्रश्न करता है, हे भगवन् इन्द्रिय विजय और कषाय निग्रह करने के अनन्तर मेरा क्या कर्त्तव्य है ?

उत्तर—हे क्षपक! इन्द्रिय पर विजय और कषाय का निग्रह करके तुम ऋद्धिगारव, रसगारव, और सातगारव को जीतो। उसके पश्चात् राग द्वेष का मर्दन कर आलोचना शुद्धि करो। राग द्वेष असत्य वचन के जनक हैं, इसलिए उनका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। तथा राग भाव से मनुष्य के दोष दृष्टि गोचर नहीं होते हैं। और द्वेष वश वह सद्गुणों का ग्रहण नहीं करता है। जिसको अपने अपराधों (दोषों) का त्याग और सद्गुणों का ग्रहण करने की अभिलाषा, है जो अपने आत्मा से कषाय मल धोना चाहता है, उसे राग द्वेष को तिलांजलि देकर अपना कार्य साधन करना चाहिए।

प्रश्न—यहां क्षपक गुरु महाराज के प्रति कहता है कि हे गुरुदेव! मेरे व्रतों मे अतिचार उत्पन्न नहीं हुए; अतः मैं अपने अपराधों की आलोचना कैसे करू ?

उत्तर—हे क्षपक! प्रायश्चित शास्त्रों के वेत्ता छत्तीस गुणके धारक आचार्य को भी आत्म शुद्धि के लिए अन्य आचार्यों के निकट

अपराधो की आलोचना करनी पड़ती है। बिना आलोचना के रत्नत्रय में लगे दोप शुद्ध नहीं होते हैं।

प्रश्न—आचार्यों के छत्तीस गुण कौन २ से हैं ?

उत्तर—आचार्य के छत्तीस गुण के विपय मे भगवती आराधना मे संस्कृत विजयोदया टीका आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकार के तप, पांच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार छत्तीस गुण वर्णन करती है। तथा प्राकृत टीका में साधु के अठाईस मूल गुण और आचारवान् आधारवान् आदि आठ गुण इस प्रकार छत्तीस गुण प्रतिपादन किये गये है। दूसरी जगह दश आलोचना गुण, दश प्रायश्चित गुण, दश स्थिति कल्प और छह जीत गुण इस प्रकार छत्तीस गुण बताये हैं।

आचार्य के छत्तीस गुणों का निरूपण करने वाली भगवती आराधना मे एक गाथा दो है वह निम्न प्रकार है—

आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥ ५२६ ॥ भग. आ.

अर्थ—आचारवान् आदि आठ गुण, दश प्रकार का स्थित कल्प, बारह प्रकार का तपश्चरण और छह आवश्यक ये आचार्य के छत्तीस गुण हैं।

इस गाथा को श्री पंडित प्रवर आशाधरजी ने प्रक्षिप्त बताया है।

समस्त तीर्थंकर, अनन्त केवली तथा मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं की आज्ञा भी यही है कि आचार्य के समीप अपने अपराधों का निवेदन कर उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित से शुद्धि होती है। इसलिए छद्मस्थ मुनियो को आचार्य के निकट आलोचना कर प्रायश्चित का आचरण करना उचित है।

प्रायश्चित्तादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरों को क्यों कहे ?

प्रश्न—जो साधु अतिचारों के निवारण का क्रम नहीं जानता है, उसे तो दूसरों को अपने अतिचार निवेदन करना चाहिए, किन्तु जो अपराधों के प्रायश्चित का स्वय ज्ञाता है, वह अपने अपराध दूसरों को क्यो कहे और उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित का आचरण क्यों करे ?

उत्तर—जैसे उत्तम वैद्य या चिकित्सक भी अपने रोग या व्याधि की उत्पत्ति के कारण, चिह्न व चिकित्सा तथा पुनरुत्पत्ति के निरोध करने में प्रवीण होने पर भी उसकी चिकित्सादि दूसरों से ही करवाता है, उसको अपने रोग या व्याधि का हाल कहकर उससे चिकित्सा करने की प्रार्थना करता है, वैसे ही प्रायश्चित के ज्ञाता मुनीश्वर को भी अपनी उत्तम विशुद्धि करने के लिए आत्मसाक्षी और पर-साक्षी से प्रायश्चित लेना चाहिए। इसी को उत्कृष्ट विशुद्धि माना है।

"प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥"

अर्थ—प्रायः शब्द का अर्थ लोक (लोग) है, और उसके मनको चित्त कहा है। लोगों के चित्त को निर्मल करने वाले कर्म को प्रायश्चित कहते हैं। अर्थात् परसाक्षी से अपराध का दण्ड लेने पर लोग समझते हैं कि इसने आत्म-विशुद्धि की है। अर्थात् आचार्यादि विन मुनीश्वरों के द्वारा दिये गये दंड रूप प्रायश्चित से ही आत्म-शुद्धि होती है।

यदि प्रायश्चित शास्त्रों के रहस्य वेत्ता किसी मुनिश्रेष्ठ या आचार्य को अपने आप प्रायश्चित लेते हुए देखेंगे तो दूसरे मुनि भी अपने आप प्रायश्चित लेने लगेंगे क्योंकि प्रायःलोग गतानुगतिक होते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति होजाने पर मार्ग मलीन हो जायगा, आत्म-विशुद्धि का मार्ग लुप्त हो जायगा। इसलिए परसाक्षी से प्रायश्चित करने का आगमानुमोदित (जिनोक्त) मार्ग है। कहा है :—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणाणचरणादिचारो जो।
तं सव्वं आलोचेहिं णिरवसेसं पणिहिदप्पा ॥ ५३० ॥ भग. आ.

अर्थ—हे क्षपक ! आत्म-विशुद्धि परसाक्षी से प्रायश्चित का आचरण करने से ही होती है; इसलिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे दीक्षा काल से लेकर आज तक जो अपराध हुए हों, उन सब दोषों की एकाग्रचित्त होकर गुरु के निकट परिपूर्ण आलोचना करो।

आलोचना का स्वरूप और भेद

प्रश्न—परिपूर्ण आलोचना किसे कहते हैं ?

उत्तर—मन से, वचन से और काय से अमुक देश में, अमुक काल मे, अमुक भाव से जो दोष जिस प्रकार हुए हों, उनका गुरु के

निकट सरल चित्त होकर ज्यों के त्यों निवेदन करने को परिपूर्ण आलोचना कहते हैं।

आलोचना दो प्रकार की होती है। एक सामान्यालोचना और दूसरी विशेषालोचना।

सामान्य आलोचना—जिसको मूल प्रायश्चित आता है। अर्थात् व्रतभंगादि महा अपराध करने पर दीक्षा का छेदन कर जिसको नवीन मुनि दीक्षा दी जाती है, वह मुनि दोषों की सामान्य आलोचना करता है। हे भगवन्! मुझसे अमुक व्रत का भंग या मिथ्यात्व का सेवन हुआ है। इस प्रकार सामान्य रूप से अपराध का निवेदन करता है। यथा :—

ओघेन भाषतेऽनल्पदोषो वा सर्वघातकः।
इतः प्रभृति वांछामि त्वत्तोऽहं संयमं गुरो ॥ ५५४ ॥ (भग. आ. सं.)

अर्थ—हे गुरुदेव! मुनि धर्म का घातक व्रत भग या मिथ्यात्व सेवन रूप महान् अपराध मुझ से होगया है। हे स्वामिन्! मैं आपसे नवीन दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। इसलिए आज से मुझे नव दीक्षित कीजिए।

प्रश्न—विशेष आलोचना किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस काल में जिस देश में जिस परिणाम से जिस प्रकार अपराध हुआ हो, उसका उसी प्रकार निःशल्य रूप से निवेदन करना विशेष आलोचना है।

तात्पर्य यह है कि मन वचन काय से जिस समय जिस जगह, जाने अनजाने, स्ववश या परवश होकर जो अपराध हुआ हो उसको शल्य निकालकर निवेदन करने से ही आलोचना शुद्ध मानी गई है। शल्य रखकर जो आलोचना की जाती है वह आत्म-शुद्धि का कारण नहीं होती है। जैसे जिसके हस्तपाद आदि में कांटा लगा है वह दुःख से पीड़ित रहता है, उसके सम्पूर्ण शरीर में वेदना होती है। वैसे ही जिसके अन्तःकरण मे मायाशल्य है, वह सम्यक्त्वादि मे लगे हुए दोषों का प्रकाशन भली भांति न करने के कारण छिपाये हुए दोष से मलीन चित्त रहता है। वह दोष रूपी दुःख उसकी आत्मा को सदा दुःखी रखता है। जब वह अपने दोष को साफ साफ गुरु के निकट निवेदन कर देता है, उसका चित्त निर्दोष हो जाने से आनन्द का अनुभव करने लगता है।

शल्य के भेद

प्रश्न—शल्य के कितने भेद हैं? इसका भी निरूपण यदि स्पष्टतः कर दिया जावे तो ठीक हो।

उत्तर—शल्य के दो भेद हैं-भावशल्य और द्रव्यशल्य।

प्रश्न—भावशल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—आत्मा को दुःख देने वाले भाव को भावशल्य कहते हैं।

प्रश्न—भावशल्य कितने हैं ?

उत्तर—भावशल्य तीन हैं-१ मायाशल्य, २ मिथ्यात्वशल्य और ३ निदानशल्य। तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र और तप को मलिन करने वाले भावों को भावशल्य कहते हैं।

दर्शनशल्य—शङ्काकांक्षादि सम्यग्दर्शन के दोषों को दर्शन शल्य कहते हैं।

ज्ञानशल्य—अकाल में सूत्रों का अध्ययन व अविनयादि को ज्ञानशल्य कहते हैं।

चारित्रशल्य—समिति और गुप्ति के आचरण में अनादर करने को चारित्रशल्य कहते हैं।

तपःशल्य—अनशनादि तप में अतिचार लगाने को तप शल्य कहते हैं। तप का चारित्र में अन्तर्भाव होता है; इसलिए दर्शन-शल्य, ज्ञानशल्य और चारित्रशल्य इस प्रकार शल्य के तीन भेद ही होते हैं।

प्रश्न—द्रव्यशल्य कितने प्रकार का है ?

उत्तर—द्रव्यशल्य भी तीन प्रकार का है। १ सचित्त द्रव्यशल्य, २ अचित्त द्रव्यशल्य और ३ मिश्र द्रव्यशल्य।

सचित्तद्रव्यशल्य—दासादि सचित्त द्रव्य शल्य हैं।

अचित्तद्रव्यशल्य—सुवर्ण रजतादि पदार्थ अचित्त द्रव्यशल्य हैं।

मिश्रद्रव्यशल्य—ग्रामादि मिश्रद्रव्यशल्य है।

ये सब द्रव्यशल्य चारित्राचार सम्बन्धी भाव शल्य के कारण हैं। क्योंकि इनके निमित्त से चारित्र मे दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न—भावशल्य का उद्धार न करने से अर्थात् भावशल्य का त्याग न करने से क्या हानि होती है?

उत्तर—जैसे कांटा, बाण की नोक आदि द्रव्यशल्य शरीर के भीतर जब तक रहते हैं तब तक सुख की सामग्री के उपस्थित रहते हुए भी प्राणी को सुख नहीं होता है, वैसे ही भय, लज्जा व प्रमाद का जनक भावशल्य (माया मिथ्या निदान) आत्मा से जब तक पृथक् नहीं होता है तब तक उसे मलीन करता रहता है और सम्यग्दर्शनादि की आराधना मे बाधक होता है, द्रव्यशल्य एक जन्म मे ही दुख देता है परन्तु भावशल्य जन्म-जन्मान्तर मे दारुण दुःख का जनक होता है।

इसलिए आचार्यों ने आराधना की सिद्धि के लिए अतिचारो का तत्काल शोधन करने का उपदेश दिया है। आज अपराध उत्पन्न हुआ है, उसका शोधन करने के लिए उसी क्षण गुरु के निकट निवेदन करना चाहिए। कल परसों या परले दिन गुरु के चरणों मे जाकर निवेदन करेंगे, ऐसा विचार करना उचित नहीं है। आयुष्य कितना शेप रहा है, इसका किसको ज्ञान है? न जाने आयु का अन्तिम क्षण अति निकट आ लगा हो और दोषों की आलोचना किये बिना यदि मरण हो गया और दोप सहित अवस्था में आयु का बन्ध हुआ तो मायाशल्य के कारण तिर्यंच आयु का बन्ध होगा। अतः दोष के होते ही उसकी गुरु के निकट आलोचना कर गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो जाना चाहिए। क्योकि रोग शत्रु और दोषो की उपेक्षा करने से वे दृढ़मूल हो जाते हैं। जब उनकी जड जम जाती है तब उनका उच्छेद करना जड़ से उखाड़ फेंकना अति कठिन हो जाता है। अथवा बहुत दिन बीत जाने पर अतिचार का विस्मरण हो जाता है। तथा उसके काल (सध्या रात्रि या दिनादि) का ठीक स्मरण नहीं रहता है। वैसे ही क्षेत्र भाव और अतिचार के कारण का भी यथार्थ ज्ञान नहीं रहता है। अर्थात् बहुत समय बीत जाने पर आचार्य के पूछने पर शिष्य अतिचार का द्रव्य क्षेत्र काल भाव और कारण यथार्थ निवेदन नहीं कर सकते हैं। इसलिए अतिचार के होते ही अवसर पाकर गुरु के निकट दोपों की आलोचना कर लेना चाहिए। काल बीतने पर मायाशल्य अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर आत्मा को उसकी आलोचना से विमुख कर देती है।

प्रश्न—अतिचार का शोधन किये बिना मरजाने से क्या हानि है।

उत्तर—जो क्षपक राग या द्वेप के वश होकर दोषों की आलोचना कियें बिना मरण करते हैं। वे दुःख रूपी शल्यों से परिपूर्ण इस ससार कान्तार (बन) मे परिभ्रमण करते हैं। कहा है :—

रागद्वेषादिभिर्भग्ना ये म्रियन्ते सशल्यकाः ।
दुःखशल्याकुले भीमे भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥ ५६४ ॥ (सं. भग. आ.)

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र सम्बन्धी दोष दुःख के उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए ऋद्धि गौरव, रस गौरव और सात गौरव से रहित होकर सम्यग्दर्शनादि का निरतिचार पालन करना ही दुःखों के विनाश का कारण है।

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ ।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूणं ॥ ५४७ ॥ भग. आ.

अर्थ—जिस प्रकार भय, मान, असत्य और माया रहित हुआ बालक सरल हृदय से अपने पिता के सामने अपने भले बुरे कार्य का स्पष्ट रूप से निवेदन करता है, उसी प्रकार साधु को भी भय—मान—लज्जा और असत्य का परित्याग कर सरल स्वभाव होकर अपने कृत्यों अकृत्यों की स्पष्ट आलोचना गुरु के समीप ज्यों की त्यों करनी चाहिए।

इस प्रकार आलोचना सम्बन्धी उपदेश को सुनकर समाधिमरण का अभिलाषी भिक्षु हर्षातिरेक से रोमांचित हो जाता है।

क्षपक कायोत्सर्ग कैसे करे ?

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते ।
आलोयणपत्तीयं काउस्सग्गं अणाबाधे ॥ ५५० ॥ भग. आ.

अर्थ—क्षपक आलोचना की निर्विघ्न प्राप्ति के लिए पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके अथवा जिन-प्रतिमा के सम्मुख खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है। कायोत्सर्ग में अपने पूर्व उत्पन्न हुए दोषों को याद करता है। यह कायोत्सर्ग बाधारहित एकान्त में तथा मार्ग दोष रहित करता है। क्योंकि जन समूह में तथा अपने आने के मार्ग से कायोत्सर्ग करने से चित्त एकाग्र न होने के कारण दोषों का स्मरण करने में बाधा उपस्थित होती है। प्राकृत टीका में कायोत्सर्ग का 'सामायिक दंडक स्तुति पूर्वक वृहत् सिद्ध भक्ति करके बैठकर सिद्ध-भक्ति करना' ऐसा अर्थ किया है। गुरु आम्नाय भेद से समाचार विधि में कहीं २ भेद हो जाता है।

आलोचना के लिए कालवादि का विधान

प्रश्न—कायोत्सर्ग कर दोषों का स्मरण करने के पश्चात् क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—उक्त प्रकार सरल स्वभाव को प्राप्त हुआ क्षपक तीन बार दोषो का स्मरण कर विशुद्ध लेश्या धारण करता हुआ अतिचारो का उद्धार करने के निमित्त आचार्य महाराज के निकट गमन करता है।

उज्ज्वल परिणाम वाले इस क्षपक की आलोचना प्रतिक्रमणादि क्रियाए दिन में और शुद्ध स्थान मे होती हैं। दिन के पूर्वभाग (प्रथम पहर) मे या अपराह्ण (दिन के तीसरे पहर) मे सौम्य तिथि, सौम्य नक्षत्र और शुभ काल मे होती है। आशय यह है कि आलोचना के लिए परिणामों की शुद्धि के साथ क्षेत्र (स्थान) कालादि की शुद्धि का भी ध्यान रखा जाता है।

प्रश्न—आलोचना के लिए प्रशस्त स्थान होना आवश्यक माना गया है तो कौन स्थान प्रशस्त है और कौन अप्रशस्त है ? उनका विवेचन करना चाहिए। प्रथम अप्रशस्त स्थानो का विवेचन कीजिए ?

उत्तर – जो स्थान पत्रयुक्त वृक्षों से हीन हो, कटकाकीर्ण हो, बिजली गिरने मे जो फट गया हो, जहां सूखे वृक्ष हों, जो कटु रस वाला तथा जला हुआ हो, शून्य घर या रुद्र का मन्दिर हो, जहां ईंटों या पत्थरों के ढेर हो। जिसमें तृण सूखे पत्ते और काठ के पुंज हो, जहां राख पड़ी हो, अपवित्र वस्तुओं से युक्त भूमि तथा श्मशान भूमि हो, जहां पर टूटे फूटे वर्तन तथा गिरे पडे मकान हो, चण्डिका भवानी आदि क्षुद्र देवताओं के स्थान हो वे सब वर्जनीय माने गये हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे ही अन्य अशुभ स्थान आलोचना के अयोग्य अप्रशस्त कहे गये हैं। क्योकि ये स्थान आलोचना करने वाले साधु और सुनने वाले आचार्य के असमाधान के कारण हैं। इन स्थानों में आलोचना करने से क्षपक के कार्य की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए आचार्य ऐसे स्थानों मे क्षपक की आलोचना नहीं सुनते हैं।

प्रश्न—आलोचना के लिए कौन से स्थान प्रशस्त माने गये हैं, जहां पर आचार्य क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

उत्तर—अरहन्त और सिद्ध चैत्यालय, समुद्र तथा तालाब आदि जलाशय के समीपवर्ती स्थान, जहां वट वृक्ष अशोकादि के वृक्ष तथा पुष्पों या फलों से भरे हुए वृक्ष हों ऐसे स्थान, उद्यान व अन्य सुखकर स्थान क्षपक की आलोचना सुनने के योग्य प्रशस्त माने गये हैं।

प्रश्न—आचार्य किस प्रकार बैठकर क्षपक की आलोचना सुनते हैं ?

उत्तर—पूर्व दिशा तथा उत्तर दिशा की ओर मुख करके तथा चैत्य (जिन प्रतिमा) अथवा जिनालय के सम्मुख एकान्त में बैठकर आचार्य एक क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

प्रश्न—अन्धकार को दूर कर जगत् में प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय पूर्व दिशा में होता है, अतः वह दिशा उदय दिशा कही जाती है। कार्य की उन्नति का अभिलाषी मनुष्य पूर्व दिशा की ओर मुख करके कार्य करता है। स्वयंप्रभादि तीर्थंकर विदेह क्षेत्र में विराजमान हैं, ऐसा चित्त में विचार करके उनकी तरफ मुख करने से मेरे कार्य की सिद्धि होगी, इस अभिप्राय से उत्तराभिमुख होकर कार्य प्रारम्भ करता है तथा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके स्थित होने से परिणामों में निर्मलता आती है और वह निर्मलता पुण्य की वृद्धि करके प्रारब्ध कार्य की सिद्धि में कारण होती है। किन्तु आचार्य को कौनसा कार्य सिद्ध करना है जो पूर्व दिशा उत्तर दिशा, या जिन प्रतिमा की तरफ मुख करके बैठते हैं ?

उत्तर—आचार्य क्षपक की आलोचना सुनकर भविष्य में दिये जाने वाले प्रायश्चित रूप कार्य की निर्विघ्न समाप्ति हो, ऐसी क्षपक के लिए शुभ कामना धारण कर उत्तर या पूर्व दिशा के सम्मुख अथवा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके बैठते हैं।

प्रश्न—जब आचार्य आलोचना सुनने के लिए निर्व्याकुल चित हो कर बैठते हैं, उस समय गुरु वा पूज्य पुरुष रहें तो क्या हानि होती है ?

उत्तर—अन्य व्यक्तियों के उस समय वहां उपस्थित रहने से आचार्य का चित्त एकाग्र नहीं रहने से क्षपक के प्रति अनादर भाव प्रकट होता है। दूसरी बात यह है कि अनेक पुरुष सुनने वाले होंगे तो क्षपक के अन्तःकरण में लज्जा उत्पन्न होगी जिससे वह अपने दोषों को स्पष्ट निवेदन करने का इच्छुक होता हुआ भी मन में खेदखिन्न होगा और सब अपराध को स्पष्ट न कह सकेगा। इसलिए आलोचना के समय एकाकी आचार्य ही श्रोता होना चाहिए। आगम में भी यही बताया है कि आलोचना सुनने के लिए आचार्य के सिवा अन्य न रहें। आलोचना को गुप्त रखने की आज्ञा है। यदि अनेक सुनने वाले होंगे तो वह गुप्त नहीं रह सकती। कहा है—

'षट्कर्णोभिद्यते मन्त्रः' छह कानों में गई हुई गुप्त बात अवश्य प्रकट हुए बिना नहीं रहती है। इसलिए आगम में एकाकी आचार्य को एकान्त में एक क्षपक की आलोचना सुनने के लिए कहा है।

प्रश्न—क्षपक जब गुरु के निकट आलोचना करने के लिए उपस्थित हो, उस समय उसको क्या करना चाहिए। वह किस विधि से आलोचना प्रारम्भ करे ? इस विधि पर प्रकाश डालने की कृपा करें ?

मं. प्र.

उत्तर—आलोचना करने वाला क्षपक प्रथम गुरु आचार्य की वन्दना करे। वह वन्दना सिद्ध भक्ति और योग भक्ति पढ़कर करे ऐसा वृद्धाचार्यों का मत है। श्री चन्द्राचार्य तो सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर वन्दना करना कहते हैं। वन्दना कर चुकने के बाद दक्षिण पार्श्व (दाहिनी बगल) मे पिच्छी लेकर भाल प्रदेश में दोनो हाथ जोड़कर मन वचन और काय से शुद्ध हुआ आगमोक्त दोषों से रहित आलोचना करे।

आलोचना के दस दोष

प्रश्न—आलोचना के दश दोष कौन से हैं?

उत्तर—आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च। छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥ ५६२ ॥ [भग. आ.]

१. आकम्पित २. अनुमानित ३. दृष्ट ४. बादर ५. सूक्ष्म ६. छन्न ७. शब्दाकुलित ८. बहुजन ९. अव्यक्त और १०. तत्सेवी ये आलोचना के दश दोष हैं। इनका संक्षिप्त सा वर्णन तो पहले कर आये हैं फिर भी थोड़ा सा खुलासा कर दिया जाता है।

(१) आकम्पित दोष—शिक्षा प्राप्त होने के कारण स्वय प्रवर्त्तक बनकर आचार्य महाराज की उद्गमादि समस्त दोष रहित आहार जल से वैयावृत्त्य करके तथा उनको निर्दोष पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण देकर विशेष विनयादि पूर्वक वन्दनादि कृतिकर्म करके, गुरु के अन्तःकरण में अपने विषय में करुणा उत्पन्न करने के पश्चात अपने दोषों की आलोचना करना यह आकम्पित दोष है।

आलोचक शिष्य का गुरु के चित में अनुकम्पा उत्पन्न करने का अभिप्राय यह है कि गुरु आहारादि द्वारा उचित वैयावृत्त्य से सन्तुष्ट होकर मुझे गुरुतर प्रायश्चित न देंगे, लघु प्रायश्चित देंगे, इसलिए मैं सूक्ष्म और स्थूल सब अपराधो का निवेदन कर सकूंगा। मेरी सम्पूर्ण दोषों की आलोचना भी हो जावेगी और महान प्रायश्चित से बच जाऊँगा। इस प्रकार शिष्य गुरु को आहारादि लोभ का असद्दोपारोपण कर मानसिक अविनय का आचरण करता है। तथा अपने अन्तःकरण में मायाचार की उत्पत्ति करता है। अतः यह सदोष आलोचना मानी गई है।

(२) अनुमानित दोष—शिथिलाचार का पालक सुखिया साधु गुरु से प्रार्थना करता है :—हे भगवन्! धीर पुरुषों से आचरण किये गये सब प्रकार के तप जो मुनि करते हैं वे भाग्यवान हैं धन्य हैं और महात्मा हैं। इस प्रकार अपनी धार्मिकता प्रकट करता हुआ कहता है :—हे दयालो! मुझ में जितना शारीरिक बल है, वह आप से छिपा नहीं है। मेरी जठराग्नि अति दुर्बल है। मैं सदा किसी न किसी रोग से ग्रस्त रहता हूँ; इसलिए मैं उत्कृष्ट तप का आचरण करने में असमर्थ हूँ, यदि आप मुझ पर अनुग्रह कर अल्प प्रायश्चित देंगे तो मैं अपने समस्त

अपराधों को निवेदन करूंगा और आपकी महती कृपा से सब दोषों से रहित होकर शुद्ध हो जाऊंगा।

ऐसा कहकर और गुरु मुझे अल्प प्रायश्चित देंगे ऐसा अनुमान ज्ञान से जानकर पश्चात् जो मुनि अपने अपराधों की आलोचना करता है उसके अनुमानित दोष होता है।

यह आलोचना परिणाम में उस प्रकार दुःख देने वाली है जैसे सुखाभिलाषी दुःख देने वाले अपथ्य आहार का सेवन कर उसे सुख देने वाला समझता है; किन्तु वह परिणाम में दुःख प्रद होता है। अर्थात् उक्त आलोचना से रत्नत्रय की शुद्धि कदापि नहीं होती है। जैसे अपथ्य आहार से सुख की प्राप्ति नहीं होती।

(३) दृष्ट दोष—किसीने देखे हों या न देखे हों, सम्पूर्ण दोषों को निष्कपट भाव से गुरु के समीप निवेदन करना चाहिए। किन्तु ऐसा न कर जो मुनि उन्हीं दोषों को गुरु के निकट प्रकाशित करता है, जिनको दूसरों ने देख लिया है, उसे दृष्ट दोष कहते हैं।

जैसे—बालु रेत के मैदान में किसी मनुष्य ने खड्डा खोदने का प्रयास किया। किन्तु वह खड्डा खोदते खोदते ही बालु रेत से भर गया। खोदने वाले का परिश्रम व्यर्थ हुआ। उसी प्रकार जो पुरुष प्रथम मायाशल्य से रहित होकर आलोचना करने के लिए उद्यत हुआ और पश्चात् माया का आश्रय लेकर अदृष्ट दोषों को छिपा कर केवल दृष्ट दोषों का प्रकाशन करने लगा, उसके अन्तःकरण में मायाशल्य ज्यों का त्यों बना रहने के कारण वह रत्नत्रय की शुद्धि से वंचित रहता है।

(४) बादर दोष—जो साधु स्थूल (बड़े) दोषों का तो गुरु के निकट प्रकाशन करता है और सूक्ष्म दोषों को छिपाता है, वह जिनेन्द्र भगवान् के वचनों की अवहेलना करता है; इसलिए वह दोषी होता है। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश स्थूल और सूक्ष्म दोषों को गुरु के पादपद्म में निवेदन करने का है। उसका पालन न कर केवल बादर दोषों का प्रकाश करने वाला बादर दोष नामक दोष से दूषित माना गया है।

जैसे कांसे का कलश ऊपर से स्वच्छ होने पर भी भीतर से नीला होने से मलीन होता है, वैसे ही इस आलोचना करने वाले के अन्तरङ्ग में माया दोष विद्यमान होने से उसकी आलोचना सदोष होती है।

(५) सूक्ष्म दोष—जो साधु भय गर्व और माया से सूक्ष्म दोषों को छिपा कर स्थूल दोषों का निवेदन करता है, वह आलोचना के सूक्ष्म नामक दोष से दूषित माना गया है।

प्रश्न—सूक्ष्म दोष कौन से हैं ?

उत्तर—उठने बैठने सोने संस्तर बिछाने गमनादि से उत्पन्न हुए दोष सूक्ष्म दोष हैं। इन दोषों को गुरु के निकट प्रकट करते समय शिष्य कहता है। हे भगवन्! जिस भूमि में ओस आदि बहुत थी, उस भूमि पर ईर्या समिति में चित्त सावधान करके न चला सका था। पिच्छिका से भूमि का मार्जन(शोधन) किये बिना बैठ गया था,सोया था,करवट बदली थी,और खड़ा हो गया था। उचित काल मे मैंने सामायिकादि आवश्यक का पालन नहीं किया था। जल से शरीरादि का स्पर्श किया था। मैं सचित्त रज पर बैठा था, खड़ा हुआ था,सो गया था। धूलि से भरे हुए पांवों से जल मे प्रवेश किया था। जल से गीले पावो से मैंने धूलि मे प्रवेश किया था। आठ या नव मास की गर्भवती स्त्री से मैंने आहार लिया था। रोते हुए या स्तन पान करते हुए बालक को छोड़ कर आई हुई स्त्री ने मुझे आहार दिया था। इत्यादि सूक्ष्म दोषो का निवेदन करता है।

इस प्रकार छोटे २ दोषों को प्रकट कर स्थूल (बड़े २) दोषों को छिपाता है। बड़े दोष यदि प्रकट कर दूंगा तो आचार्य मुझे महान् प्रायश्चित देंगे इस भय से अथवा मेरा परित्याग कर बैठेंगे इस भय से स्थूल दोषों को प्रकट नहीं करता है। सूक्ष्म दोषों को प्रकाशित करने और स्थूल दोषों को छिपाने के कारण उसका कपट स्वभाव स्पष्ट होता है। मैं सङ्घ के सब मुनियों से निर्दोष चारित्र का पालन करने वाला हूँ, इस अभिमान से स्थूल दोषों को व्यक्त नहीं करता है, वह सूक्ष्म दोष का भागी माना गया है।

(६) प्रच्छन्न दोष—मुझे अमुक अतिचार या अनाचारजन्य अपराध हुआ है,ऐसा स्पष्ट न कहकर आचार्य से पूछता है। अहो गुरु महाराज! यदि किसी मुनि के अठाईस मूलगुणों में या अनशनादि तप उत्तर गुणों मे एवं अहिंसादि महाव्रत मे अतिचार लग जावे,तो उसको कौनसा प्रायश्चित दिया जाता है? वह किस उपाय से शुद्ध हो सकता है? इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से पूछता है। गुरु महाराज से गुप्त रूप से पूछकर अपनी शुद्धि कर लेना चाहता है। यह प्रच्छन्न नामक आलोचना का छठा दोष है।

शङ्का—अपराध की शुद्धि उचित प्रायश्चित के आचरण से होती है। किसी प्रकार गुरु महाराज से अपने दोष की शुद्धि करने वाले प्रायश्चित को जानकर यदि वह उस प्रायश्चित को ठीक तरह आचरण करता है, तो उसकी शुद्धि कैसे नहीं मानी जा सकती है?

समाधान—दोष की शुद्धि करने के लिए निष्कपट भाव से गुरु महाराज के सामने अपने दोषों की यथार्थ आलोचना करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रच्छन्न रूप से मायाचार द्वारा गुरु महाराज से अपराध का प्रायश्चित पूछकर उसका आचरण किया है। उसके हृदय से माया भाव नहीं निकला है। अतः उसकी शुद्धि होना असंभव है; अतः इसे दोष ही माना गया है।

(७) शब्दाकुल दोष—सम्पूर्ण मुनि मिलकर पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक या वार्षिक दोषों की आलोचना कर रहे हों, उस समय महान् कोलाहल होता है। ऐसे अवसर को पाकर अपनी इच्छानुसार दोषों की आलोचना करना वह शब्दाकुल दोष है।

क्योंकि कोलाहल में जब गुरु उसके अपराध को स्पष्ट नहीं सुन पाते हैं, उस समय अपराध कह सुनाने से गुरु उसको यथार्थ प्रायश्चित देने मे समर्थ नहीं हो सकते हैं; इसलिए यह शब्दाकुल नामक दोष माना गया है।

(८) बहुजन दोष—जिसने प्रत्याख्यान नामक नवमे अङ्ग का अध्ययन किया है, तथा अङ्ग बाह्य में कल्प नामक प्रकरण है उसका और शेष अङ्गों मे तथा प्रकीर्णकों में जहां जहां प्रायश्चित का निरूपण आया है उन सबका मनन किया है, उस आचार्य के द्वारा अर्थात् उपलब्ध सब प्रायश्चित ग्रन्थों के ज्ञाता आचार्य के द्वारा दिये गये प्रायश्चित पर विश्वास न करके यदि कोई मुनि अन्य आचार्यों से उस प्रायश्चित के औचित्य या अनौचित्य के विषय मे पूछे तो वह बहुजन दोष माना गया है।

(९) अव्यक्त दोष—जो मुनि आगमज्ञान से शून्य है, वह आगम बाल है, तथा जो चारित्र से हीन है, वह चारित्र बाल है। उस ज्ञान चारित्र हीन मुनि के सम्मुख अपने अपराधों की आलोचना करने वाले को आलोचना का अव्यक्त नामक दोष होता है। यद्यपि आलोचक ने मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना जन्य सब अपराधों की आलोचना की है तथापि उसकी आलोचना निष्फल है क्योंकि आगम बाल या चारित्र बाल आचार्य से उचित प्रायश्चित द्वारा अपराधों की शुद्धि नहीं हो सकती है। अतःइसे अव्यक्त दोष कहा है।

(१०) तत्सेवी दोष—यह पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) मेरे सुखिया स्वभाव को तथा मेरे सब दोषों को जानता है। यह भी मेरे समान दोषी है; इसलिए मुझे यह महान् प्रायश्चित न देगा ऐसा विचार कर जो पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) के निकट जाकर अपने सब अपराधों की आलोचना करता है, उसको तत्सेवी नाम का दोष होता है।

जैसे—रुधिर से भींगा वस्त्र रुधिर में धोने पर शुद्ध नहीं होता है, वैसे ही दोष सहित पतित मुनि के पास आलोचना करके कोई मुनि अपने अपराध से मुक्त नहीं होता है। क्योंकि रुधिर वस्त्र स्वच्छ जल से धोने पर ही शुद्ध होता है। वैसे ही दोषों का निवारण निर्मल चारित्र के धारक आचार्य के पाद मूल में आलोचना करके उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित का आचरण करने से ही हो सकता है। अन्यथा नहीं होता। इसलिए हे क्षपक ! जो मुनि जिनप्रणीत आगम के वचनों का लोप करते हैं और दुष्कर पाप का आचरण करते हैं, उनका मोक्ष अनन्त काल मे भी जैसे नहीं होता है, वैसे ही जो मुनि अन्तःकरण मे मायाशल्य रखकर अपने दोषों की आलोचना करते हैं, उनको भी मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दूर है।

अतएव मुनियों का कर्तव्य है कि भय, माया, मृषा, मान और लज्जा का परित्याग करे-उक्त दश दोषों से रहित आलोचना करे। क्योंकि दूषित आलोचना आत्मा को निर्दोष बनाने मे समर्थ नहीं होती है।

साधु किन २ दोषों की कैसे आलोचना करें ?

प्रश्न—साधु किन २ दोषों की किस प्रकार आलोचना करे ?

उत्तर—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन जीवों में से जिसकी विराधना हुई हो, उनकी आलोचना करे।

पृथिवी काय जीव अनेक प्रकार के हैं—जैसे मिट्टी, पाषाण, शर्करा (कंकर) बालुरेत, नमक, अभ्रक आदि अनेक भेद हैं। उनको खोदने, हलादि से विदारण करने, जलाने फोड़ने मोड़ने पटकने फेंकने आदि में से मैंने अमुक पाप किया है।

जल कायिक जीवो के भी पानी बर्फ ओस ओले आदि अनेक भेद हैं। उनका पान करने, उसमें स्नान करने, कूदने, तैरने, हाथ पैरों से या शरीर से मर्दन करने वगैरह मे मैंने उनका अमुक प्रकार से घात किया है।

अग्निकायिक जीवों के ज्वाला दीपक जलती हुई लकडी आदि कई भेद हैं। उनके ऊपर मैंने पत्थर मिट्टी जल डालकर इनका विनाश किया है। अथवा पाषाण या लकड़ी आदि से पीटा है, मर्दन किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक तरह के आरम्भ मे से मैंने अमुक प्रकार से अग्नि कायिक जीवो को बाधा पहुंचाई है।

वायु कायिक जीवों के झंझावात मंडलिक आंधी आदि भेद हैं। जल वृष्टि सहित जो वायु बहती है, उसे झंझावात कहते हैं। जो वायु गोलाकार भ्रमण करती हुई बहती है,उसे मंडलिक वायु कहते हैं। तेज वायु को आंधी कहते हैं। इत्यादि प्रकार से बहने वाली वायु को मैंने पंखे से, वस्त्र से सूप से प्रतिघात किया है, वायु को किवाड़ छत्रादि से रोका है। पंखे आदि से उसे सताया है, बाधा पहुंचाई है। वायु के सम्मुख गमन किया है। इत्यादि प्रकारों में से जिस प्रकार से वायुकाय के जीवों को बाधा पहुंचाई हो, उसका निवेदन करे।

वनस्पति कायिक जीव—साधारण (अनन्त कायिक नीलन फूलन काय आदि वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति वृक्षादि बीज, वल्ली लता छोटे पौधे के समूह, पुष्प फुल तृणादि वनस्पति कायिक जीवों के अनेक भेद हैं। उनमें से अमुक को मैंने जलाया है, या तोड़ा है। या उनका छेदन भेदन किया है ? अथवा मर्दन मोटन (मरोड़ना) बंधन, रौंदन आदि अनेक क्रियाओं में से अमुक द्वारा उनका घात किया

है। उनको बाधा पहुंचाई है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रि और पंचेन्द्रिय जीवों में से अमुक का अज्ञान व प्रमाद से जाने या बिना जाने विघात किया है। या उनका छेदन भेदन ताड़न बन्धन किया है। उनकी गति का निरोध कर सताया है। या गमनागमन करके उन्हें पीड़ा या बाधा पहुंचाई है।

आहार, उपकरण, वसतिका का अङ्गीकार करते समय मुझ से उद्गम उत्पादन एषणा आदि अमुक २ दोष हुए हैं।

गृहस्थियों के कुंभ कलश सकोरा आदि भाजनों में से किसी भाजन में कोई वस्तु रखी या उन भाजनों में से किसी से कोई वस्तु ग्रहण की हो तो ये सब चारित्रातिचार हैं। क्योंकि इन पात्रों का भीतर से प्रतिलेखन (मार्जन) करना अत्यन्त कठिन है।

छोटी चौकी वेत्रासन खाट पलग इन पर बैठने से अपराध हुआ हो। क्योंकि इनमें अनेक छिद्र होते हैं। उनमें जो प्राणी निवास करते हैं, वे नेत्रो से दिखाई नहीं देते। यदि वे दिखाई दें तो उन्हें निकालना अशक्य होता है। इसलिए ऐसे छोटे चौकी वगैरह आसनों पर बैठने से अहिंसा व्रत में अतिचार उत्पन्न होता है। अथवा आहार के लिए श्रावक के घर जाकर वहां पर बैठना भी निषिद्ध है। क्योंकि श्रावक के घर बैठने से ब्रह्मचर्य व्रत का विनाश हो सकता है। भोजनार्थी मनुष्यों के भोजन में विघ्न उपस्थित होता है। वे लोग मुनियों के समक्ष भोजन करने मे सङ्कोच करते हैं। क्षुधादि से पीड़ित होने के कारण उनके मनमें संक्लेश उत्पन्न होता है। लोग कहने लगते हैं कि ये मुनि महिलाओं के बीच किस लिए बैठे हैं ? आहार सम्पन्न हो जाने के अनन्तर यहां बैठे रहने की क्या आवश्यकता है ? इनको यहां से अब तो चला जाना चाहिए ? इत्यादि उनके अन्तःकरण मे कोपावेश से दुर्विचार उत्पन्न होने लगते हैं।

स्नान करना, उबटन लगाना, मस्तकादि शरीर के अवयवों का प्रक्षालन करना इन क्रियाओं को 'वाकुस' कहते हैं। ठंडे जल से या गर्म जल से स्नान करने पर आंखों में अंजन शरीर पर उबटन करने से शरीर पर स्थित प्राणी नष्ट होते हैं। तथा बिलों में रहने वाले प्राणी और भूमि के छोटे २ छेदों मे निवास करने वाले कीड़े मकोड़े आदि जन्तु मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होते हैं। इसलिए आगम में मुनियों के लिए स्नान का निषेध है। मुनियों को आजीवन यह घोर व्रत पालन करना परमावश्यक होता है। लोध्र आदि सुगंधित पदार्थों का उबटन भी मुनियों के लिए वर्जित है।

बिना दिये हुए पदार्थ का तथा रात्रि भोजन का त्याग मुनियों को रहता ही है। बिना आज्ञा के किसी वस्तु का ग्रहण करना क्या है, मानो उस वस्तु के स्वामी के प्राणों का हरण करना है। क्योकि धन प्राणियों का बाह्य प्राण है। जो दूसरों की वस्तु का हरण करता है, उसको राजा दण्ड देते हैं।

रात्रि भोजन अनेक असंयम का मूल कारण है। रात्रि मे भोजन करने से त्रस और स्थावर जीवों का वध होता है। तथा निरीक्षण किया उगम और अयोग्य वस्तु का भक्षण हो जाता है। रात्रि में दाता की परीक्षा नहीं हो सकती है। अपने हाथ में रखे हुए भोजन को, हाथ से उच्छिष्ट भोजन जिस जगह गिरता है उसे भूमि प्रदेश को तथा दाता के गमनागमन मार्ग को, दाता के खड़े रहने तथा अपने खड़े रहने के प्रदेश को भली भांति देख भाल (यह जीव रहित है या जीव सहित है ऐसी जांच) नहीं कर सकते हैं। ऐसे अनेक दोष रात्रि भोजन करने मे उत्पन्न होते हैं। इसलिए रात्रि मे आहार ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है। मैथुन सेवन, परिग्रह धारण और असत्य भाषण आदि महा पापों के तो मुनि सर्वथा त्यागी होते ही हैं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्याचार में मैंने वचन काय द्वारा कृत कारित अनुमोदना से जो अतिचार उत्पन्न हुए हों, उन्हीं में आलोचना करता हूँ।

शङ्का काङ्क्षा आदि दोष सम्यग्दर्शन के अतीचार हैं। सम्यग्ज्ञान की क्या आवश्यकता है। तपश्चरण और चारित्र ही फल देने वाला है इसलिए उन्हीं का आचरण करना चाहिए। इस प्रकार मन से सम्यग्ज्ञान की अवज्ञा करना अथवा सम्यग्ज्ञान को मिथ्याज्ञान समझना व वचन से प्रकट करना मन से वचन से व काय से सम्यग्ज्ञान मे अरुचि प्रकट करना, मुंह बिगाड़ कर मुंह मोड़ कर अथवा सिर हिला कर यह सम्यग्ज्ञान नहीं है ऐसा प्रकाशित करना। आदि ज्ञान के अतिचार हैं।

तपस्या करते समय असयम मे प्रवृत्ति करना तप का अतिचार है। अपनी शक्ति को छिपाना वीर्याचार का अतिचार हैं। ये सब अतिचार कृत कारित और अनुमोदना के भेद से तीन २ प्रकार के होते हैं। स्वयं करना, स्वयं कराना और करते हुए की स्वयं अनुमोदना करना। दूसरे को प्रेरित करना, प्रेरित कराना और प्रेरित करते हुए की अनुमोदना करना। इस तरह प्रत्येक अतिचार के तीन २ भेद होते हैं।

दूसरे देश के राजा का आक्रमण होने पर जब देश के सम्पूर्ण गमनागमन के मार्ग रुक जाते हैं, उस समय वहां से निकलना कठिन हो जाता है। ऐसे अवसर पर भिक्षा दुर्लभ होने से अन्तःकरण में संक्लेश होता है। कदाचित् उस काल में अयोग्य पदार्थ का सेवन कर लिया हो तो क्षपक को आलोचना करते समय ऐसे सब दोषों का खुलासा करना चाहिए। अमुक अतिचार रात्रि के समय या अमुक अतिचार दिन के समय हुआ है, उन सब का स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है।

जिस समय संघ हैजा प्लेग आदि भयानक रोगों से या अन्य दारुण विपत्तियों से आक्रान्त हो गया हो, उस समय उनका प्रतिकार करने के लिए विद्या मन्त्रादि का उपयोग करना पड़ा हो, उसमें जो अतिचार हुआ हो उसकी भी स्पष्ट आलोचना करनी चाहिए।

सं. प्र.

अति दुर्भिक्ष के समय अवमौदर्य तप में जो दोष लगे हों या अयोग्य पदार्थ का सेवन हुआ हो, अथवा अन्य मुनियों ने अनुचित भिक्षा ग्रहण जिस प्रकार की हो, उन सबका निवेदन करना चाहिए। अभिमान या प्रमाद आदि से जो जो दोष लगे हों उन सबको गुरु के निकट प्रकट कर देना मुनि का कर्तव्य है।

दर्पादि बीस अतिचार

दर्पादि के निमित्त से बीस अतिचार होते हैं। आगम के अनुसार उनका नीचे स्पष्टीकरण करते हैं।

(१) दर्प (गर्व) अनेक प्रकार का है—जैसे क्रीड़ा में स्पर्द्धा करना, व्यायाम करना, छल-कपट करना; रसायन सेवन, हास्य करना, गीतों मे शृंगार के वचन बोलना, उछलना कूदना, ये दर्प के प्रकार हैं।

(२) प्रमाद के पांच भेद हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रियों के विषयों में आसक्त, निद्रा और प्रेम। अथवा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृति, बाह्यशास्त्र, काव्य रचना करना; और समिति में उपयोग न रखना इस प्रकार भी प्रमाद के पांच भेद होते हैं।

छेदन करना भेदन करना, पीसना, टकराना, चुभोना, खोदना, बांधना, फाडना धोना, रङ्गना, लपेटना, गूँथना, भरना, राशि करना (इकट्ठा करना), लेपन करना, फेंकना, चित्र बनाना, इत्यादि काम करने को संक्लिष्ट हस्तकर्म कहते हैं।

ज्योतिःशास्त्र, छन्दःशास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, लौकिकशास्त्र और मन्त्रशास्त्र इत्यादि शास्त्रों को बाह्यशास्त्र कहते हैं।

(३) अनाभोगकृत—उपयोग रखने पर भी जिन अतिचारों का ज्ञान नहीं होता है, उन्हें अथवा चित्त की प्रवृत्ति दूसरी ओर होने पर जो अतिचार होते हैं, अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं।

(४) आपात कृत—नदी का पूर आने पर, अग्नि काण्ड के उपस्थित होने पर भयानक आंधी का तूफान आने पर, वृष्टि के होने पर; शत्रु की सेना से घिर जाने पर तथा ऐसे ही और कारणों के प्राप्त होने पर जो अतिचार, होते हैं, उन्हें आपात अतिचार कहते हैं।

(५) आर्तताकृत—रोग जन्य पीड़ा, शोक जन्य क्लेश, और वेदना व व्यथा से होने वाले अतिचारों को आर्तताकृत अतिचार कहते हैं।

(६) तितिणदाकृत रसों में आसक्ति होने से तथा अधिक बकवाद करने से जो अतिचार होते हैं। उन्हें तित्तिणदाकृत

अतिचार रहते हैं।

(७) शंकित—पिच्छिका आदि उपयोगी द्रव्यों में सचित्त या अचित्त का सन्देह रहते हुए भी उनको मोड़ना, पटकना तोड़ना, फोडना, छीलना एवं आहार उपकरण और वसतिका में 'उद्गमादि दोष हैं या नहीं' ऐसा सन्देह होने पर भी उनका सेवन करना ये शंकित अतिचार हैं।

(८) सहसातिचार—अशुभ मानसिक विचारों में अथवा अशुभ वचनों में बिना विचारे शीघ्र प्रवृत्त होना, उसको सहसा अतिचार कहते हैं।

(९) भयातिचार—एकान्त प्रदेश में वसतिका होने पर इसमें चोर सर्प दुष्ट-हिंसक-पशु, व्याघ्र सिंहादि अन्दर घुस आवेंगे, इस भय से वसतिका के द्वार बन्द करने से होने वाले अतिचार को भयातिचार कहते हैं।

(१०) प्रदोप—तीव्र संज्वलन कषाय के उदय से होने वाले जल के ऊपर की रेखा के समान क्रोधादि चार कषाय के निमित्त से होने वाले अतिचारों को प्रदोष जन्य अतिचार कहते हैं।

(११) मीमांसा—अपने और दूसरे के बल के तरतम भाव की परीक्षा करने से उत्पन्न होने वाले अतिचार को मीमांसा अतिचार कहते हैं।

अथवा सीधे हाथ को मोडना, मुड़े हुए हाथ को सीधा करना, धनुष आदि को चढ़ाना, वजन दार पत्थर को ऊपर उठाना, उसे दूर फेंकना, दौड लगाना, कांटे की बाड आदि को लांघना, पशु सर्पादि को मंत्रों की परीक्षा करने के लिए पकडना, औषधियों के सामर्थ्य की परीक्षा करने के लिए अंजन और चूर्ण का प्रयोग करना, अनेक द्रव्यों को मिलाकर 'त्रस और एकेन्द्रिय प्राणियों की उत्पत्ति होती है या नहीं' उसकी परीक्षा करना, ऐसे कृत्य करने को परीक्षा कहते हैं। इन कामों से व्रतों में दोष उत्पन्न होते हैं।

(१२) अज्ञानातिचार—अज्ञानी मनुष्यों का आचरण देखकर उसमें दोष न समझ कर स्वयं भी वैसा ही आचरण करने अथवा अज्ञानी से प्राप्त हुए उद्गमादि दोष वाले उपकरणादि का सेवन करने से जो अतिचार उत्पन्न होते हैं, उन्हें अज्ञानातिचार कहते हैं।

(१३) स्नेहातिचार—शरीर, उपकरण, वसतिका, कुल, ग्राम, नगर, देश, बन्ध तथा पार्श्वस्थमुनि आदि में ममत्व भाव रखने से जो अतिचार होते हैं, उन्हें स्नेहातिचार कहते हैं। यह मेरा शरीर है, ऐसा ममत्व रखने से यह शीत पवन मेरे शरीर को बाधा देती है, ऐसा विचार कर शरीर को चटाई से ढकता है, अग्नि का सेवन करता है, ग्रीष्मकाल की लू आदि से बचने के लिए वस्त्र ग्रहण करता है, शरीर पर

उबटन लगाता है, उसे स्वच्छ करता है, तैलादि मर्दन करता है, यह सब ठीक नहीं है। इससे अतिचार होते हैं।

मेरा उपकरण विनष्ट हो जायगा, इस भय से पिच्छिका द्वारा प्रमार्जन न करना, तैलादि से कमण्डलु का संस्कार कर स्वच्छ रखना, इसे उपकरणातिचार कहते हैं।

वसतिका के तृणादि का भक्षण करते हुए पशु आदि का निवारण करना, वसतिका का भङ्ग होता हो तो उसका निवारण करना बहुत से यति मेरी वसति में निवास नहीं कर सकेंगे ऐसा कहना, आजाने पर उन पर क्रोध करना, बहुत साधुओं को वसतिका मत दो–ऐसा निषेध करना, अपने कुल के मुनियों की ही सेवा वैयावृत्त्य करना, निमित्त ज्ञानादि का उपदेश देना, ममत्त्व भाव से ग्राम नगर या देश में रहने का निषेध न करना, अपने से सम्बन्ध रखने वाले मुनियों के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होना, पार्श्वस्थादि मुनियों की वन्दना करना, उनको उपकरणादि का प्रदान करना, उनके वचनादि का उल्लंघन करने की सामर्थ्य न रखना, इत्यादि कार्यों से जो अतिचार होते हैं उन सब की आलोचना करना चाहिए।

(१४) गारव अतिचार—ऋद्धि, रस और साता में आसक्ति रखना। ऋद्धि में आसक्ति रखने से परिवार में आदर भाव होता है। प्रिय भाषण करके उपकरण देकर दूसरे की वस्तु अपने अधीन करता है। रस में आसक्ति के कारण प्रिय रस का त्याग नहीं करता है और अप्रिय रस में अनादर भाव होता है। साता गारव से प्रिय मधुर सुहावने भोजन करता है और शरीर को सुख देने वाले शयनासनाआदि में प्रवृति करता है। इससे जो अतिचार होते हैं, उन्हें गारव अतिचार कहते हैं।

(१५) परतन्त्रता जन्य अतिचार—उन्माद से, पित्त के प्रकोप से, भूत पिशाच के शरीर में प्रवेश करने से परतन्त्रता होती है। ज्ञाति के लोगों के परवश होकर इत्र गन्ध पुष्प माला आदि का सेवन करना, रात्रि भोजन करना, छोड़े हुए पदार्थों का सेवन करना, स्त्रियों के या नपुंसकों के साथ बलात्कार से मैथुन सेवन में प्रवृत्ति करना भी परतन्त्रता के कार्य हैं। इनसे जो अतिचार होते हैं वे परतन्त्रता–जन्य अतिचार कहलाते हैं।

(१६) आलस्य–अतिचार—आलस्य के वश वाचना पृच्छनादि स्वाध्याय में प्रवृत्ति न करना, आवश्यक कृत्यों में उत्साह नहीं रखना, इससे जो अतिचार होते हैं, उन्हें आलस्य–जन्य अतिचार कहते हैं।

(१७) उपधि–अतिचार—मायाचार को उपधि कहते हैं। छिपकर अनाचार में प्रवृत्ति करना, दाता के घर का पता चलाकर अन्य मुनियों के पहुँचने के पहले वहां आहार के लिए प्रवेश करना। अथवा किसी कार्य के बहाने से दाता के घर में इस प्रकार प्रवेश करना

जिसे दूसरे न जान सकें। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन करने के पश्चात् 'विरस भोजन किया' ऐसा कहना, रोग ग्रस्त-मुनि की या आचार्य की वैयावृत्य के निमित्त श्रावकों से कुछ चीज माग कर स्वयं उसका सेवन करना आदि से अतिचार लगते हैं ये सब उपधि (माया) जन्य अतिचार कहे जाते हैं।

(१८) स्वप्नातिचार—निद्रा मे सोये हुए के स्वप्न मे अयोग्य पदार्थ का सेवन करने से जो दोष होता है, उसे स्वप्नातिचार कहते हैं।

(१९) पलिकुंचन—द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रय से जो अतिचार होते हैं, उनका अन्यथा वर्णन करने को पलिकुंचन अतिचार कहते हैं। जैसे-सचित्त पदार्थ का सेवन करके अचित्त पदार्थ का सेवन प्रकट करना। स्वकीय आवास के स्थान में जो दोष हुआ हो, उसे मार्ग मे हुआ कहना, दिन मे जो दोष किया है उसे रात्रि मे किया हुआ निवेदन करना, तीव्र क्रोधादि भावों से किये गये अपराध को मन्द क्रोधादि किया गया कहना। ऐसे विपरीत वर्णन करने को पलिकुंचन कहते हैं।

(२०) स्वय शुद्धि—आचार्य के समीप यथार्थ आलोचना करने पर आचार्य के प्रायश्चित देने में पहले ही स्वयं ही यह प्रायश्चित मैंने लिया है, ऐसा कहकर जो स्वय प्रायश्चित लेता है, उसे स्वयं शोधक कहते हैं। मैंने स्वय ऐसी शुद्धि की है ऐसा स्वयं कहना। इस प्रकार दर्प आदि के निमित्त से जो २ अतिचार होते हैं, उनका स्पष्टता पूर्वक निवेदन करना चाहिए। अतिचार के क्रम का उल्लंघन करना कदापि ठीक नहीं है।

आचार्य का कर्तव्य

प्रश्न—जब मुनि आलोचना कर चुके तब आचार्य महाराज को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक द्वारा की गई सम्पूर्ण आलोचना को सुनकर आचार्य क्षपक से तीन बार पूछते हैं कि "हे क्षपक! तुमने क्या २ अपराध किये हैं, वे भली भांति ध्यान में नहीं आये हैं, उन्हें फिर से कहो", क्षपक के वचन से और व्यवहार से जब गुरु देव को उसकी सरलता-निष्कपटता-प्रतीत होती है तब तो वे (आचार्य) क्षपक को प्रायश्चित देते हैं और जब उसके अन्तःकरण में कपट मालूम होता है तब उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। क्योंकि भाव शुद्धि के विना पाप का निवारण नहीं होता है और न रत्नत्रय की शुद्धि होती है।

प्रश्न—निष्कपट आलोचना कौनसी है ? जिसको सुनकर आचार्य प्रायश्चित देते हैं और सकपट आलोचना कौनसी है? आचार्य जिसका प्रायश्चित नहीं देते हैं।

उत्तर—वैद्य रोगी को तीन वार पूछा करते हैं:-तुमने क्या भोजन किया ? क्या आचरण किया, तुम्हारे रोग का क्या हाल है? अब घाव अच्छा हुआ या नहीं-ऐसे तीन वार
शरीर कांटा फांस आदि लग जाने पर भी तुम्हारे कांटा या फांस आदि कहां लगा; कैसे लगा ? पूछते हैं । तीन वार पूछने पर यदि तीनों वार एकसी आलोचना करता है,तब उसकी वह निष्कपट आलोचना मानी जाती है और जो भिन्न
भिन्न प्रकार से आलोचना की गई हो, उसे वक्रा (कपटयुक्त) आलोचना कहते हैं । उस आलोचना में मायाचार रहता है ।

द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रित उत्पन्न हुए दोषों को प्रति सेवना कहते हैं। अर्थात् सेवना के द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के
विकल्प से चार भेद होते हैं। द्रव्य सेवना के तीन भेद हैं-सचित्त द्रव्य सेवना, अचित्त द्रव्य सेवना और मिश्र द्रव्य सेवना । जिस पुद्गल शरीर
में जीव रहता है, उस शरीर को सचित्त द्रव्य कहते हैं। जीव रहित पुद्गल को अचित्त द्रव्य कहते हैं। तथा सचित्त और अचित्त पुद्गल के
समुदाय को मिश्र द्रव्य कहते हैं। जीव से ग्रहण किये हुए पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति को सचित्त कहते हैं। जिस पुद्गल को जीव ने
छोड़ दिया है, उस पुद्गल को अचित्त कहते हैं।

क्षेत्रादि के आश्रित होने वाले स्थूल व सूक्ष्म दोषों का यदि क्षपक ज्यों का त्यों वर्णन नहीं करता है तो प्रायश्चित शास्त्र के ज्ञाता
आचार्य उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। आगम में भी यही कहा है—

पड़िसेवणादि चारे जदि आजपदि जहाकम्मं सव्वे ।
कुव्वंति तहा सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६२१ ॥ (भग, आ,)

अर्थ—जब क्षपक द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रय से उत्पन्न हुए दोषों का प्रतिपादन यथाक्रम से करता है, तब उसको
प्रायश्चित देने मे कुशल आचार्य प्रायश्चित देकर शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—जब मुनिराज निर्दोष आलोचना करते हैं, तब आचार्य का क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—जब आचार्य को निश्चय हो जाता है कि इस क्षपक की आलोचना निर्दोष है, तब प्रायश्चित्त आगम के वेत्ता आचार्य
आगम मे अपराधों की परीक्षा करते हैं। अर्थात् इस प्रायश्चित का विधान करने वाला यह सूत्र है, और इसका यह अर्थ है। इस अपराध का
यह प्रायश्चित बतलाया है, इत्यादि रूप से आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं।

प्रश्न—दोष के अनुरूप प्रायश्चित का विचार करने वाले आचार्य की प्रतिचार सेवन करने के पश्चात् क्षपक के भावों का परि

णमन कैसा है, उस पर भी ध्यान देना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—प्रतिसेवना के आचरण से क्षपक के भावी परिणामों में हानि या वृद्धि कैसी हुई है ? अर्थात् प्रति सेवना (विरुद्धाचरण) करने से जो इसके पाप हुआ है, उसके बाद इस क्षपक के संक्लेश भाव हुए हैं या संवेग भाव उत्पन्न हुए हैं। यदि उसके संक्लेश-परिणाम हुए हैं, तब तो इसका पूर्वोत्पन्न पापकर्म की वृद्धि हुई है और यदि उसके संवेग पूर्ण भाव हुए हैं तब उसके पूर्व दुष्कर्म की हानि हुई है। तथा जो पाप कर्म की हानि या वृद्धि हुई है, वह भी मंद हुई या तीव्र हुई है ? इसका भी आचार्य विचार करते हैं।

जैसे—किसी क्षपक ने पहले असंयम का आचरण किया, पश्चात् उसका अन्तःकरण "हाय, यह मैंने बहुत बुरा किया" इत्यादि पश्चाताप से दग्ध हुआ। और बाद मे संयमाचरण में प्रवृत्त हुआ। इस पश्चाताप पूर्वक संयमाचरण के प्रभाव से नवीन और सचित कर्म का एक देश निजरा अथवा सम्पूर्ण निर्जरा होती है। अर्थात् मध्यम या मंद परिणाम से एक देश निर्जरा होती है और तीव्र परिणाम से सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा होती है।

इन सब बातों का विचार करके प्रायश्चित शास्त्र के ज्ञाता आचार्य, क्षपक के परिणामो को जानकर जितने प्रायश्चित से वह शुद्ध हो सकता है, उसे उतनाही प्रायश्चित देते हैं। जैसे स्वर्णकार अग्नि की शक्ति की न्यूनाधिकता को जान कर उसके अनुसार ही अग्नि को धमता है, वैसे ही प्रायश्चित का जिसे पूर्ण अनुभव है ऐसा आचार्य भी यह अपराध अल्प है यह महान् है, इसके क्रोधादि परिणाम तीव्र थे या मन्द थे-इत्यादि का विचार करके उसके अनुरूप ही प्रायश्चित देते हैं।

प्रश्न—दूसरे के परिणामो का ज्ञान आचार्य कसे करते हैं ?

उत्तर—साधु के साथ रहने से उसके नित्य के कार्यों को देखकर आचार्य उसके परिणामो का पता चला लेते हैं, अथवा आचार्य साधु से पूछ लेते हैं कि जब तुमने प्रतिसेवना की थी, उस समय तुम्हारे परिणाम कैसे थे ? इत्यादि उपायों से साधुके परिणामों का ज्ञान आचार्य करते हैं।

आचार्य आयुर्वेद विशारद वैद्य के समान होते हैं। जैसे विद्वान् वैद्य रोगों का भली भांति परीक्षा कर साध्य,कष्ट—साध्य अथवा असाध्य व्याधि के अनुरूप औषध देकर उनकी चिकित्सा करता है, वैसे ही आचार्य भी अल्प प्रायश्चित मध्यम प्रायश्चित या महान् प्रायश्चित देकर साधु को दोष से मुक्त (विशुद्ध) करने का प्रयत्न करता है।

प्रश्न—आचार्य के आपने पहले आचारत्व आधारवत्वादि गुण बताये हैं,उनके धारण करने वाले आचार्य ही निर्यापक हो सकते

हैं । यदि कालादि दोष से उक्त गुण धारक आचार्य न मिलें तो अन्य मुनि भी क्षपक का समाधि मरण कर सकते हैं ? या नहीं ?

उत्तर—उक्त गुणों का धारक आचार्य अथवा उन गुणों से शोभित उपाध्याय भी न हो तो प्रवर्तक मुनि या स्थविर (वृद्ध) अनुभवी मुनीश्वर अथवा बालाचार्य यत्न पूर्वक व्रतो मे प्रवृत्ति करते हुए क्षपक का समाधिमरण साधन करने के लिए निर्यापकाचार्य हो सकते हैं ।

प्रश्न—प्रवर्त्तक किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो अल्पश्रुत का ज्ञाता होने पर भी संघ की सम्पूर्ण मर्यादा और चारित्र का ज्ञाता होता है, वह प्रवर्त्तक होता है ।

प्रश्न—स्थविर किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो चिरकाल के दीक्षित तथा मुनि-मार्ग के अनुभवी मुनिवर होते हैं वे स्थविर मुनि हैं ।

प्रश्न—आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लेने के पश्चात् और देहत्याग करने का उचित काल प्राप्त नहीं होने के पूर्व क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—जिसने अपने चरित्र को निर्दोष बना लिया है तथा शास्त्रोक्त विधि से गुरु के समीप रहकर अपने चरित्र को उत्तरोत्तर उज्ज्वल किया है वह क्षपक समाधिमरण के लिए धारण किये हुए विशेष चरित्र मे उन्नति करने की कामना करता हुआ वर्षाकाल मे नाना प्रकार के तपश्चरण कर हेमन्त मे संस्तर का आश्रय लेता है । क्योंकि ग्रीष्मादि ऋतु की तरह हेमंत ऋतु में अनशनादि तप करने पर भी शरीर को विशेष कष्ट का अनुभव नहीं होता है ।

प्रश्न—जिसने समाधि के सब साधनों का अभ्यास कर लिया है । अर्थात् अनेक कष्ट-प्रद तप का आचरण कर कष्ट सहन करने का जिसने सामर्थ्य उत्पन्न कर लिया है उसके लिए वसतिका का कुछ नियम है या नहीं ? अर्थात् उसे विघ्न बाधा रहित वसतिका में ही रहना चाहिए या सबाध सविघ्न वसतिका में भी वह रह सकता है ? यदि विशेष नियम है तो उसके लिए कौनसी वसतिका तो अयोग्य मानी गई है और कौनसी योग्य ?

उत्तर—अनेक दुर्धर तपश्चरणों का पालन कर जिसने कष्ट सहिष्णुता प्राप्त करली है, समाधि मरण के लिए संस्तर पर आरूढ़ हुए उस क्षपक के लिए भी निर्विघ्न और निर्बाध वसतिका ही योग्य मानी गई है । क्योकि क्षुधा प्यास आदि के सताने पर यदि शान्ति को देने वाली वसतिका नहीं होगी तो उसके परिणामो मे संक्लेश उत्पन्न हो सकता है ? अतः उसे योग्य वसतिका में ही ठहरना उचित है ।

प्रश्न—उसके लिए अयोग्य वसतिका कौनसी होती है ?

उत्तर—संगीतशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, तेली का घर, कुम्हार का घर, धोबी का घर, वाजे वजाने वालों का घर, डोमका घर, वास के ऊपर चढ़कर खेल करने वालो का घर, रस्सी पर चढ़कर नाच करने वाले का घर इन सबके समीप की वसतिका मुनि के लिए योग्य नहीं होती है। तथा राज मार्ग (सड़क) के समीपवर्त्ती वसतिका भी मुनि के निवास के योग्य नहीं है।

लोहार, सुनार (वढ़ई), चमार, कोली, छींपे, ठठेरे, कलाल, भांड, व वन्दीगण (स्तुतपाठक) सिलावट, तथा करोत से काठ को चीरने वाले जहां रहते हों उस के निकट तथा वाटिका और कूए बावड़ी आदि जलाशय के समीप एव जूआरी व्यभिचारी लोग तथा ऐसे ही अन्य दुष्कर्म करने वाले शराबी धीवर आदि अधम पुरुष जहां रहते हैं ऐसे स्थानो के निकट की वसतिका मे समाधि की इच्छा रखने वाले मुनीश्वरों को कदापि नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि उक्त स्थानों के समीप रहने वाले क्षपक के भावों मे उद्विग्नता तथा शान्ति का भंग होने की पूर्ण संभावना बनी रहती है; इसलिए रत्नत्रय की उज्ज्वलता बढ़ाने वाले क्षपक को उक्त आयोग्य वसतिका मे कदापि नहीं ठहरना चाहिए।

प्रश्न—क्षपक साधु को कहां और किस प्रकार रहना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक मुनि को ऐसे स्थान मे ठहरना चाहिए जहां उसकी पाचो इन्द्रिय शान्त रहें, जहां पर इन्द्रियों के विषयों को उत्तेजित करने वाले साधन न हों, जहां पर मन में उद्वेग और विकार भाव उत्पन्न न हों, ऐसे शान्त वातावरण वाले, ध्यान में एकाग्रता के साधक स्थान मे त्रिगुप्ति के धारक मुनीश्वर रहते हैं।

प्रश्न- जहां पर मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विषयों का प्रचार नहीं है ऐसी प्रत्येक वसतिका मुनि के निवास करने योग्य मानी गई है या नहीं ?

उत्तर—ऐसी वसतिका मुनि के निवास के लिए योग्य मानी है जो उक्त गुणों से युक्त होती हुई उद्गम उत्पादन और एषणा दोषों से रहित है। तथा जिसमें मुनि के उद्देश्य से लीपना पोतना सफेदी करना या अन्य संस्कार क्रिया नहीं की गई है। जिसमे जन्तुओं का निवास नहीं है तथा वाहर से आकर प्राणी वास नहीं करते हैं ऐसी वसतिका में मुनि ठहरा करते हैं।

प्रश्न—क्षपकादि मुनियों को कैसी वसतिका मे प्रवेश करना चाहिए ?

उत्तर—जिस वसतिका में वाल वृद्ध मुनि सुख पूर्वक प्रवेश कर सकते हैं और निकल सकते हैं, जिसका द्वार बन्द होता है,

जिसमें प्रकाश भी विपुल हो ऐसी वसतिका होनी चाहिए। इसमें कम से कम दो शालाएं या कमरे होने चाहिए। उनमें से एक में तो क्षपक के लिये। और दूसरी अन्य मुनि तथा धर्म श्रवणार्थ आए हुए श्रावकों के लिए। यदि तीन कमरे हों तो एक में क्षपक मुनि का संस्तर दूसरे में अन्य मुनियों का वास और तीसरे में धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए आए हुए लोगों का ठहरना होता है।

वसतिका का द्वार यदि बन्द न होता है तो शीतवायु आदि का प्रवेश होने से जिस क्षपक के अस्थि व चर्म मात्र शेष रह गये हैं ऐसे क्षपक को अतिशय क्लेश उत्पन्न होगा। जिसका द्वार बन्द न होता हो अर्थात् खुला ही रहता हो ऐसी वसतिका में क्षपक शरीर के मल का त्याग कैसे कर सकेंगे ? इसलिए वसतिका बन्द होने वाले द्वार की ही होनी चाहिए।

यदि वसतिका में अन्धकार होगा तो वहां पर रहने से जीव जन्तु का अवलोकन न हो सकने के कारण असंयम होगा। जिस वसतिका में अन्दर घुसने या बाहर निकलने में कठिनाई होती हो उसमें सिर मस्तक या घुटने आदि में चोट लगने की सम्भावना रहती है तथा सयम की भी विराधना होती है।

प्रश्न—क्षपक का संस्तर कैसे स्थान में होना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक का संस्तर ऐसे स्थान में होना चाहिए, जहां बालक वृद्ध तथा चार प्रकार का संघ सुगमता से आ जा सके। वसतिका के किवाड़ और दीवाल मजबूत होना चाहिए। उद्यान-गृह, गुफा या शून्य-गृह भी वसतिका के योग्य माने गये हैं। ऐसे निर्बाध स्थान मे क्षपक का संस्तर करना चाहिए। दूसरे ग्राम या नगर के आगत व्यापारियों के ठहरने के लिए जो निवास बनाये गये हों, उनमें भी तथा ऐसे ही अन्य निर्दोष और निर्बाध स्थानों में क्षपक के संस्तर की योजना की जा सकती है।

प्रश्न—जहां उद्यान-गृह, शून्य-गृह, सराय, धर्मशाला, गुहा आदि क्षपक के संस्तर के योग्य स्थान (वसतिका) न मिले, वहां क्या करना चाहिए ?

उत्तर—जहां पर क्षपक के योग्य उक्त प्रकार की वसतिका न मिले, वहां के श्रावकों का कर्त्तव्य होता है, कि वे बांस के बने टट्टी आदि से क्षपक के तथा वैयावृत्त्य करने वाले-साधु आदि के सुखद वास के लिए कुटियां बना दें तथा धर्म-श्रवण के लिए आगत चतुर्विध संघ के बैठने आदि के लिए मंजुल मण्डप की रचना करदे। परन्तु ध्यान रहे, इस कार्य में बहुत अल्प आरम्भ होना चाहिए। कहा भी है—

आगंतुघरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलाहिं कायव्वो।
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥ ६३६ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—आगतुक अतिथियों के लिए बने हुए घर तथा शून्य-घर, उद्यान-गृहादि में क्षपक का संस्तर करना योग्य है। यदि उक्त प्रकार के योग्य स्थान उपलब्ध न हों तो श्रावकों का कर्त्तव्य है कि वे क्षपक के ठहरने के योग्य वास के टट्टे चटाई आदि से क्षपक व अन्य वैयावृत्य करने वाले साधुओं तथा आचार्य के वास के योग्य आवास स्थान करवा दे तथा धर्म श्रवण के लिए आने वाले चतुर्विध संघ के बैठने के लिए सुविधा जनक मंडपादि भी करवाना उचित है।

प्रश्न—उक्त प्रकार की वसतिका में क्षपक का संस्तर कैसा होना चाहिए ?

उत्तर—समाधिमरण करने वाले क्षपक के संस्तर चार प्रकार माने गये हैं। १. पृथ्वी सस्तर, २. शिला रूप संस्तर, ३. काष्ठमय संस्तर, और ४. तृणमय संस्तर। क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के लिए संस्तर का मस्तक पूर्व दिशा या उत्तर दिशा में रखना आवश्यक है। क्योंकि अभ्युदय के कार्यों मे पूर्व दिशा प्रशस्त मानी गई है। तथा स्वयं प्रभादि उत्तर दिशा सम्बन्धी तीर्थंकरो की भक्ति के उद्देश्य से उत्तर दिशा भी शुभ कार्य मे प्रशस्त मानी है। क्षपक के समाधिमरण की साधना रूप कार्य भी अत्यन्त शुभ है; इसलिए उसकी सिद्धि के निमित्त पूर्व दिशा और उत्तर दिशा मे ही संस्तर का मस्तक भाग रखने के लिए आगम मे उपदेश दिया गया है।

(१) पृथ्वी-सस्तर—भूमि रूप संस्तर वही हो सकता है जिस पृथ्वी में निम्नोक्त विशेषताएँ पाई जावें :—

"निर्जंतुका घना गुप्ता समाऽमृद्वि सुनिर्मला।
अनार्द्रा स्वप्रमाणा च सोद्योता संस्तरोधरा ॥ १ ॥"

जिस भूमि मे उद्देही आदि जन्तु न हों, दृढ़ हो, अप्रकट हो, सम हो, मृदु न हो, निर्मल हो, भीगी न हो, क्षपक के शरीर के प्रमाण हो, प्रकाश सहित हो ऐसी भूमि सस्तर के लिए उपयोगी होती है। भूमि मे यदि उद्देही आदि जन्तुओं की उत्पत्ति की योग्यता होगी तो संन्यास के समय उद्देही आदि निकलने लगेंगी तब क्षपक को काटेंगे, इससे उसको असमाधि उत्पन्न होगी, सुख शान्ति का भंग होगा, तथा उन जन्तुओं की विराधना होने से असयम होगा, अतः संस्तर के योग्य भूमि निर्जंतुक होनी चाहिए। जो भूमि घन (दृढ़) न होगी; वह शरीर के भार से दबेगी, तब भूमि के भीतर के जीवो को बाधा होगी। तथा वह ऊँची नीची होजाने के कारण क्षपक के शरीर को कष्ट होगा। इसलिए भूमि घन (दृढ़) होना आवश्यक है। यदि भूमि गुप्त (अप्रकट) न होगी, अर्थात् प्रकट होगी तो मिथ्यादृष्टि मनुष्यों का ससर्ग होता रहने से क्षपक के भावो मे अविशुद्धि की सम्भावना रहेगी; इसलिए क्षपक के संस्तर योग्य भूमि गुप्त (अप्रकट) होनी चाहिए। जो सम नहीं होगी, ऊँची नीची होगी तो क्षपक के शरीर को बाधा पहुँचेगी। मृदु भूमि क्षपक के शरीर हाथ पांव आदि से बाधित होगी।

जो भूमि निर्मल न होगी अर्थात छेद छिद्र और प्राणियों के बिलों सहित होगी तो छिद्रों में प्रविष्ट हुए तथा उनसे निकले हुए जीव जन्तुओं को बाधा पहुचने से प्राणि संयम की विराधना होगी। भूमि यदि जल से भीगी होगी तो जैल काय के जीवों को पीड़ा होगी; इसलिए भूमि सूखी होनी चाहिए। भूमि क्षपक के शरीर के बराबर होनी चाहिए। यदि शरीर प्रमाण से अधिक होगी तो प्रति लेखनादि का व्यासंग अधिक करना पड़ेगा। प्रमाण से न्यून होगी तो शरीर को सुकोड़ना पड़ेगा। प्रकाश रहित या अल्प प्रकाश वाली भूमि में जीव जन्तु दिखाई न देने पर प्राणि सयम की रक्षा कैसे हो सकेगी। इसलिए उक्त गुण वाली भूमि ही क्षपक के संस्तर योग्य होती है।

(२) शिलामय संस्तर—जो पत्थर की शिला, अग्नि से तप कर प्रासुक होगई हो, या टांकी से चारों ओर से उकेरी गई हो अथवा घिसी गई हो वह प्रासुक शिला संस्तर के योग्य होती है। वह शिला टूटी फूटी न होनी चाहिए। निश्चल तथा चारों ओर से पाषाण मत्कुण (खटमल) आदि के सम्पर्क से रहित और समतल एवं प्रकाश युक्त होनी चाहिए।

(३) काष्ठमय संस्तर—जो काष्ठ का फलक (तख्ता) अखंड एक है आदमी के लेटने योग्य चौड़ा तथा हलका है-अर्थात् जिसको उठाने लाने रखने में अधिक परिश्रम न करना पड़े ऐसा है, भूमि पर चारों तरफ से लगा हुआ है, अच्छा चिकना और छेद-दरारों से रहित है, जिस पर शयन करने या बैठने पर चूंचा आदि शब्द नहीं होता है-ऐसा पुरुष प्रमाण निर्जन्तुक स्वच्छ काठ का तख्ता साधु के संस्तर के योग्य माना गया है।

(४) तृण संस्तर—क्षपक के लिए तृण का संस्तर वही प्रशस्त होता है, जो गांठ रहित तृण से बनाया गया हो, अन्तर रहित एक से लम्बे तृणों से जिसकी रचना की गई है। जिन तृणों से संस्तर बनाया जावे वे पोले न हों किन्तु ठोस हों। मृदु स्पर्श सहित तथा निर्जन्तुक हों जिस पर सोने से क्षपक को सुख मिले और शरीर में खुजली आदि का क्लेश न हो। ऐसे तृण का संस्तर क्षपक के लिए योग्य माना गया है।

उक्त चारों प्रकार के संस्तरों में निम्नोक्त गुण अवश्य होने चाहिए।

किसी भी प्रकार का संस्तर हो, वह यथोचित प्रमाण वाला हो। न तो अधिक छोटा हो और न अधिक बड़ा हो। सूर्योदय के समय व सूर्यास्त के समय दोनों वेला में प्रति लेखन से शुद्ध किया जाता हो। अर्थात देख शोध कर जिसका भली भांति प्रमार्जन किया जाता है। शास्त्र कथित विधि से जिसकी रचना की गई हो। ऐसा गुण विशिष्ट संस्तर क्षपक के योग्य होता है।

क्षपक अपना आत्मा निर्यापकाचार्य को सौंप कर-उसकी शरण मानकर-उक्त प्रकार के शास्त्र सम्मत संस्तर पर आरोहण करता है और विधि पूर्वक सल्लेखना का आचरण करना प्रारम्भ करता है।

स. प्र.

सल्लेखना दो प्रकार की होती है। बाह्य सल्लेखना और आभ्यतर सल्लेखना। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना।

बाह्य सल्लेखना अथवा द्रव्य सल्लेखना—आहार का विधि पूवक त्याग करके शरीर कृश करने को बाह्य या द्रव्य सल्लेखना कहते हैं।

आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना—सम्यक्त्व तथा क्षमादि भावना से मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कपायों के कृश करने को आभ्यन्तर या भव सल्लेखना कहते हैं।

इस प्रकार वसतिका और संस्तर का विवेचन पूर्ण हुआ।

वैयावृत्य—कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए ?

जिस समाधि के आराधक क्षपक ने समाधि के साधनो का भली भांति अभ्यास कर लिया है तथा जो आगमोक्त वसतिका में विधि पूर्वक संस्तर प. आरुढ़ होगया है, उसकी समाधि विधि को सफल बनाने के लिए निर्यापकाचार्य अड़तालीस सहायक (वैयावृत्य करने वाले) मुनियों की योजना करते हैं। वे वैयावृत्त्य कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए। उनका स्वरूप दिखाते हैं—

> पियधम्मा दढ़धम्मा संवेगावज्जभीरुणो धीरा।
> छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥ ६४७ ॥
> कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा।
> गीदत्था भयवंता अडदालीसं तु णिज्जवया ॥ ६४८ ॥ भग. आ.

अर्थ—जिनके साथ क्षपक को अहर्निश घनिष्ट सम्पर्क मे रहना है, क्षपक के जीवन का बनना व बिगड़ना जिनके आश्रित है वे साधु कैसे होने चाहिए—उनके विषय में बतलाते हैं कि वे धर्म-प्रिय होने चाहिए। क्योंकि जिनको स्वयं चारित्र-धर्म प्यारा नहीं होगा वे क्षपक को अशक्त अवस्था मे चारित्र मे प्रवृत्ति करने के लिए उत्तम हित कैसे कर सकेंगे ? इसलिए आचार्य चारित्र प्रेमी साधुओं को क्षपक की सेवा के लिए चुनते हैं। सम्यग्दृष्टि होने के कारण साधु चारित्र प्रेमी तो [illegible] चारित्र मोहनीय कर्म के उदय मे जो स्थिर चारित्र वाले नहीं हैं, वे क्षपक को चारित्र मे सुस्थिर कैसे कर सकते हैं, इसलिए आचार्य धर्म प्रेमी साधुओं मे से भी दृढ चारित्र वाले मुनियों को क्षपक की सेवा मे नियुक्त करते हैं। जो पाप से नहीं डरते हैं, वे असंयम का त्याग नहीं कर सकते हैं, इसलिए जिनके हृदय में चतुर्गति मे भ्रमण करने का तथा पापाचरण का भय सदा विद्यमान रहता है, वे ही चारित्र को दृढ़ता से धारण करने में दत्तचित्त रहते हैं। धैर्य धारक मुनि परिषह के

आने पर अपने धर्म से कभी विचलित न होते हैं। अतः धीर मुनि सेवा के कार्य में निपुण होते हैं। वैयावृत्त्य करने वाले मुनि क्षपक के अभिप्राय को उसकी चेष्टादि से जान सकने वाले होने चाहिए। जो शरीर की चेष्टादि से क्षपक के अभिप्राय का ज्ञान करने में कुशल नहीं होते हैं, वे उसका भला नहीं कर सकते। इसलिए अभिप्राय के ज्ञाता साधु सेवा कार्य में नियुक्त किये जाते हैं। तथा जिन्होंने पहले भी वैयावृत्य कार्य में निपुणता प्राप्त की है तथा जो साकार और निराकार प्रत्याख्यान के क्रम के ज्ञाता होते हैं वे परिचारक होते हैं। तथा जो अनुभवी साधु क्षपक के योग्य तथा अयोग्य आहार पान के ज्ञाता होते हैं वे ही क्षपक को उचित आहार पान मे प्रवृत्त कर सकते और अनुचित भोजन पान से निवृत्त कर सकते हैं। परिचारक प्रायश्चित शास्त्र के संन्यासी आगम रहस्य के वेत्ता तथा स्व और पर का उद्धार करने में दक्ष होने चाहिए। उक्त गुणों से अलंकृत परिचारक साधु एक क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए अड़तालीस होते हैं।

प्रश्न—परिचारक मुनि क्षपक की क्या २ सेवा करते हैं। किस २ परिचर्या के लिए कितने २ मुनि नियुक्त किये जाते हैं? इसका विवेचन कर स्पष्ट खुलासा करने की कृपा करें?

आमासणपरिमासणचंकमणासयण णिसीदणे ठाणे।
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा उंटणादीसु ॥ ६४६ ॥
संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता।
चदुरो समाधिकामा आलग्गंता पडिचरंति ॥ ६५० ॥ (भग. आ.)

अर्थ—शरीर के एक देश के स्पर्श करने को आमर्श कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के स्पर्श करने को परिमर्शन कहते हैं। क्षपक की सेवा के लिए इधर उधर गमन करने को चंक्रमण कहते हैं। क्षपक को संस्तर पर सुलाना, आवश्यकता पड़ने पर उसे हस्तादि की सहायता देकर बैठाना उठाना, एक करवट से दूसरी करवट लेटाना, उसके हाथ पांव सकोचना, पसारना इत्यादि सेवा करते समय परिचारक मुनि मन वचन काय द्वारा सावधानी से मुनि मार्ग की रक्षा करते हुए क्षपक के शरीर और अन्तःकरण की समाधि (सुख शान्ति) का पूरा २ ध्यान रखते हैं।

भावार्थ—परिचारक मुनियों की मनोवृत्ति क्षपक के अन्तःकरण के समाधान मे लगी रहती है। जब क्षपक के हस्त पादादि किसी अवयव मे पीड़ा का अनुभव होता है, तत्काल उस अवयव का कोमल स्पर्श द्वारा उसको दबाने सुलसुलाने लगते हैं। जब सम्पूर्ण शरीर में वेदना होने लगती है तब यथायोग्य रीति से उसके सुख का पूरा ध्यान रखते हुए शरीर का शनैः शनैः मर्दनादि करने में तत्पर

रहते हैं। जब क्षपक को बैठे रहने की इच्छा होती है, तब उसे सावधानी से उठाकर बैठाते हैं। उसके इंगित (इशारे) से सोने की अभिलाषा जानकर आराम से सुलाते हैं। खड़े होने का अभिप्राय जानकर शीघ्रता से खड़ा करते हैं। इधर उधर थोड़ा चलने की इच्छा होने पर उसे हस्तावलम्बन देकर घुमाते हैं। उसकी सेवा के लिए परिचारक साधुओं को इधर उधर जाना पड़ता है तो तत्काल निरलस होकर गमन करते हैं तात्पर्य यह है कि जिस समय (रात्रि में या दिन में) जिस परिचर्या की आवश्यकता प्रतीत होती है, उसी समय परिचर्या करने में वे परिचारक साधु क्षण भर का भी विलम्ब नहीं करते हैं। अपने मन वचन और काय को क्षपक की परिचर्या में सावधानी से लगाये रहते हैं। सब परिचर्या को करते हुए क्षपक के और अपने संयम की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखते हैं। इस प्रकार चार परिचारक मुनि क्षपक की शरीर सम्बन्धी परिचर्या मे तन्मय रहते हैं।

चार मुनीश्वर विकथाओं का त्याग कर धर्म कथा कहकर क्षपक के अन्त करण को धर्म भावना में दत्तचित्त रखते हैं।

प्रश्न—क्षपक के सम्मुख कौन २ सी विकथाएँ नहीं की जाती हैं ?

उत्तर—जिन कथाओं को सुनकर क्षपक के चित्त में धर्म भावना नष्ट होकर आर्तरौद्रध्यान उत्पन्न होते हैं; उनको विकथा कहते हैं। जैसे-चार प्रकार के आहार का वर्णन करना आहार कथा है। स्त्रियों के सौन्दर्यादि का निरूपण करने वाली कथा स्त्री कथा है। राजाओं के वैभवादि का वर्णन करना राज कथा है। नाना प्रकार के देशो का वर्णन करने वाली वार्ता को देश कथा कहते हैं। काम विकार से उन्मत्त होकर हास्य मिश्रित असभ्य भण्ड वचन उच्चारण करने को कंदर्प कथा कहते हैं। बांस के ऊपर रस्सी के ऊपर चढ़कर खेल करने नृत्य करने वाले गान वादित्रादि शृंगार रसादि का विवेचन करनेवाली सब कुकथाएँ हैं। वे स . आत्मा के स्वरूप चिन्तन मे बाधा पहुँचाने वाली होती हैं। इसलिए इनका त्याग कर चार मुनीश्वर क्षपक को उचित समय पर सर्वदा धर्म कथाओ का उपदेश देते रहते हैं।

प्रश्न—धर्म कथाओं का श्रवण कराने वाले मुनीश्वर क्षपक को किस प्रकार धर्मोपदेश देते हैं ?

उत्तर—जिस समय जैसे धर्मोपदेश की आवश्यकता प्रतीत करते हैं, वे धर्मोपदेशक मुनिराज उस समय वैसा ही मधुर स्निग्ध और हृदयंगम हितकारक धर्मोपदेश विचित्र २ कथाओं द्वारा देते हैं जिससे क्षपक का अन्तःकरण उस उपदेश को शीघ्र ग्रहण कर लेता है।

जिनमे वाक्पटुता होती है तथा जिनका वचनोच्चारण अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीरता पूर्ण होता है, ऐसे ही वाग्मी चार मुनि धर्म कथाओं द्वारा क्षपक को धर्मोपदेश देते हैं।

वे मुनि जब धर्मोपदेश देते हैं, उस समय जिस अभिप्राय का विवेचन करना चाहते हैं, उसी अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले उनके शब्द निकलते हैं। उन शब्दों से कभी विपरीत अर्थ का भास नहीं होता है। एक ही शब्द का वे दो तीन बार उच्चारण नहीं करते हैं। उनके सब वचन असंदिग्ध और प्रत्यक्षादि प्रमाण से अविरुद्ध निकलते हैं। उनका भाषण न तो अतिमन्द स्वर में होता है और न अति उच्च स्वर में ही होता है, किन्तु वे मध्यम स्वर में ही भाषण करते हैं। वे अति शीघ्र नहीं बोलते और न रुक रुक कर ही उच्चारण करते हैं। अपितु मध्यम पद्धति से इस प्रकार शब्दों का शृंखलाबद्ध क्रम से उच्चारण करते हैं, जिनको सुनकर श्रोताओं को अर्थ का स्पष्ट भास होता जाता है। उनका भाषण कर्ण-मधुर, मिथ्यात्व से हीन (सम्यक्त्व का पोषक), तथा सार्थक होता है। उनके भाषण में पुनरुक्ति दोष नहीं होता है।

प्रश्न—संस्तरारूढ़ क्षपक को कौनसी कथा धर्मोपदेशक मुनि श्रवण कराते हैं। कौनसी कथा उसके लिए हितकारिणी हो सकती है?

उत्तर—जो कथा क्षपक के अन्तःकरण में उत्पन्न हुए अशुभ परिणामों का निवारण कर संवेग और वैराग्य को दृढ़ करने वाली हो वही कथा क्षपक के लिए हितकारिणी हो सकती है। वही कहा है—

> आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स।
> पाओग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥ ६५५ ॥ [भग. आ.]

अर्थात्—कथाएँ चार प्रकार की होती हैं। १. आक्षेपणी, २. विक्षेपणी, ३. संवेजनी और ४. निर्वेजनी। उनमें से विक्षेपणी को छोड़कर शेष तीन कथाएँ क्षपक के योग्य होती हैं।

प्रश्न—आक्षेपणी कथा किसे कहते हैं? उसका स्वरूप सप्रमाण समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—आक्षेपणी व विक्षेपणी कथा का स्वरूप निम्न प्रकार है—

> आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ।
> ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥ ६५६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जिसमें विद्या (सम्यग्ज्ञान) और चरण (सम्यक् चारित्र) का विवेचन किया जाता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। तथा स्व सिद्धान्त और पर सिद्धान्त का निरूपण करने वाली कथा को विक्षेपणी कथा कहते हैं।

भावार्थ—मति,श्रुत, अवधि,मनःपर्यय और केवल ज्ञान के स्वरूप,लक्षण और भेदों का वर्णन जिस कथा में किया गया हो तथा सामायिक, छेदोपस्थापना,परिहार-विशुद्धि,सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात इन पांच प्रकार के चारित्र का अथवा अहिंसादि पांच महाव्रत, ईर्या भाषादि पाच समिति और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार के चारित्र का स्वरूप विवेचन जिसमें होता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्य ही है, या सर्वथा क्षणिक ही है। सन्मात्र तत्त्व है,या विज्ञान मात्र तत्त्व है,या सर्व शून्य ही तत्त्व है इत्यादि पर(अन्य मत के) सिद्धान्तों को पूर्व पक्ष मे लेकर इन तत्त्वों मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से विरोध दिखाकर कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य,कथंचित् एक और कथंचिद् अनेक तत्त्व रूप अपने सिद्धान्तो का समर्थन जिसमे किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

प्रश्न—सवेजनी और निर्वेजनी कथा किसे कहते हैं ? उनका स्वरूप दिखाने की कृपा करें।

उत्तर—उनका स्वरूप वर्णन करने के लिए निम्न गाथा उद्धृत करते हैं।

संवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततववीरिय इढिढ्गदा।
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ॥ ६५७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—ज्ञान का अभ्यास, चारित्र का पालन और तपश्चरण का आराधन करने से आत्मा में जो जो दिव्य शक्तियां प्रकट होती हैं उनका स्पष्टता से विवेचन करने वाली कथा को संवेजनी कथा कहते हैं। शरीर भोग और जन्म परम्परा से वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेजनी कथा कहते हैं। यह शरीर अशुचि है; क्योंकि यह रस रक्त मांस चर्बी हड्डी मज्जा और शुक्र इन सप्त धातुओं से पूरित है। यह शरीर और भोग सामग्री सर्वदा आत्मा को क्लेश का कारण होती है। देव पर्याय व मनुष्य पर्याय ये दोनों उत्तम मानी गई हैं। उन दोनों में भी मनुष्य जन्म अति दुर्लभ व श्रेष्ठ कहा गया है; क्योंकि इससे ही संयम और तप की आराधना हो सकती है। इस प्रकार का निरूपण जिस कथा मे होता है उसे निर्वेजनी कथा कहते हैं।

प्रश्न—क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा का निषेध क्यों किया गया है ? स्व मत का समर्थन और पर मत का निकर्त्तन (खंडन) सुनने से तो धर्म मे श्रद्धा दृढ होती है और जिन-कथित चारित्र पालन करने मे उत्साह की वृद्धि होती है। क्षपक के लिए उसका श्रवण क्यों मना किया गया है ?

उत्तर—संस्तरारूढ़ क्षपक का जीवन किनारे आ लगा है। उस समय उसकी आत्मा में राग द्वेष का अभाव होना आवश्यक है। क्रोधादि का त्याग और क्षमादि धर्म में परिणाम तन्मय होना ही परम हितकर है। यदि ऐसे समय में उसके सामने स्वसिद्धान्त की सिद्धि और परमत में प्रत्यक्षादि विरोध दिखाकर खंडन मंडन का प्रसङ्ग छेड़ा गया और उसका चित्त उसमें तन्मय होगया और इतने में ही कदाचित् उसकी आयु का अन्त हो गया तो उसके अन्तःकरणमें क्रोधादि कषाय का प्रादुर्भाव और रागद्वेष की जागृति हो जाने से उसका सामधिरमण बिगड़ जावेगा। और यह भी हो सकता है कि वह खंडन मंडन में व्यामुग्ध होकर पूर्व पक्ष को ही सत्य मान बैठे; क्योंकि उस समय बुद्धि अस्थिर होती है।

शङ्का—मन्द बुद्धि क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा अनुपयोगिनी है, किन्तु तीव्र बुद्धि बहुश्रुत क्षपक के लिए तो उपयोगिनी हो सकती है?

समाधान—विक्षेपणी कथा से आत्मा में राग द्वेष की उत्पत्ति होने से संस्तरारूढ़ क्षपक के लिए उसका (विक्षेपणी) आचार्यों ने सर्वथा निषेध किया है क्योंकि यह कथा समाधिमरण की बाधक होती है। इसलिए जो कथा समाधिमरण की साधक होती है उनका उपदेश क्षपक के रत्नत्रय आराधना का साधक होता है। शास्त्र में कहा है।

अब्भुज्जदंमि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए।
तिविहं पि कहंति कहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥ ६६० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—अशुभ मन वचन काय का निवारण करने में लगे हुए आचार्य क्षपक की मृत्यु के सन्निकट समय में आक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी इन तीन कथाओं का ही उपदेश देते हैं। विक्षेपणी कथा का कथन ऐसे समय में अनुचित मानते हैं। अतएव धर्मोपदेश के कार्य में नियुक्त किये गये मुनीश्वर उक्त तीन कथाओं का मनोज्ञ एवं हृदयस्पर्शी इस प्रकार निरूपण करते हैं जिनको सुनकर क्षुधा रोगादि की पीड़ा को भूल कर क्षपक का चित्त रत्नत्रय की आराधना में तत्पर रहता है।

चार मुनीश्वर क्षपक की आहार विषयक योजना करने में नियुक्त किये जाते हैं। यथा :—

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ ६६२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—लब्धि सम्पन्न तथा मायाचार रहित और जिन्होंने ग्लानि पर विजय प्राप्त कर लिया है ऐसे चार मुनीश्वर क्षपक के योग्य उद्गमादि दोष रहित भोजन की उप कल्पना करते हैं।

भगवती आराधना की अपराजित सूरिकृत विजयोदया संस्कृत टीका तथा श्री प. आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका इन दोनों मे 'उवकप्पेंति' गाथा निर्दिष्ट पद का अर्थ 'आनयन्ति' किया है। इन दो टीकाओं के अतिरिक्त एक प्राचीन प्राकृत टीका और भी प्रतीत होती है। उक्त टीकाओं में कई जगह इस प्राकृत टीका का मत उद्धरणों सहित दिया गया है। वह टीका हमको उपलब्ध नहीं हुई है। उसमें इसका क्या अर्थ किया गया है यह अनिश्चय की गोद में है। किन्तु भगवती आराधना मूल मे भी क्षपक के लिए भोजन लाने का कई गाथाओं में उल्लेख है। वह आगे दिया गया है।

भगवती आराधना के अतिरिक्त समाधिमरण का सविस्तर वर्णन करने वाला कोई संस्कृत या प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ हमको उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए इसके विषय मे अन्य आचार्यों का क्या अभिमत है इस विषय मे लिखने के लिए हम असमर्थ हैं। आचार्य परम्परा का क्या सम्प्रदाय है? यह सन्देहापन्न है।

दिगम्बर साधु संस्था की अयाचक-वृत्ति होती है। वे आहारादि वस्तु अपने या दूसरे के लिए कभी नहीं मांगते हैं। दूसरी बात यह है कि उनके पास पिच्छी कमण्डलु और ज्ञानोपकरण पुस्तकादि के अतिरिक्त कोई पात्रादि नहीं रहते हैं। वे मुनीश्वर क्षपक के लिए आहार पान के पदार्थ किस पात्र मे लाते होंगे। यदि गृहस्थ के यहां से पात्र भी मांग कर लाते हैं तो तांबे पीतल आदि पात्र का ग्रहण करना उनके पद के अनुकूल नहीं है। इसमें सपरिग्रहता का दूषण आता है। पात्र मे भोजन लाकर क्षपक को मुनि आहार कराते हैं। उस आहार का ग्रहण करने वाले क्षपक के उद्दिष्टादि दोष युक्त आहार होता है। मुनि का आहार गृहस्थ के घर नवधा भक्ति से युक्त दाता के द्वारा दिया हुआ होना चाहिए। यह सामान्य नियम सब मुनियों के लिए आवश्यक विधान है। उसका पालन नहीं होता है। परिचारक मुनीश्वरों के द्वारा लाया हुआ आहार आधाकर्मादि से दूषित है या उद्गम उत्पादना एषणादि दोषों से दूषित है इसका संस्तरारूढ़ क्षपक को क्या ज्ञान हो सकता है? परिचारक मुनि उद्दिष्ट उद्गमादि दोष रहित आहार लेकर क्षपक के पास लेजावेंगे; किन्तु क्षपक के लिए उद्दिष्ट उद्गमादि दोषों का निवारण कैसे हो सकेगा? इत्यादि अनेक शंकाएँ एक के बाद एक उठती रहती हैं। उनका समाधान करने वाला कोई ऋषि प्रणीत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए हमने भगवती आराधना मूल और उसकी उपलब्ध दोनों संस्कृत टीकाओं का आधार लेकर इस विषय का प्रतिपादन किया है। इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् त्रुटि का संशोधन कर पढ़ने की कृपा करें।

भगवती आराधना की टीकाओं का उद्धरण

विजयोदयाटीका—चत्तारि जणा चत्वारो यतयः। भत्तं अशनं। पाउग्गं प्रायोग्यं उद्गमादि दोषानुपहतं। उवकप्पेंति आनयन्ति। अगिलाए ग्लानिमन्तरेण, कियन्तं कालमानयाम इति संक्लेशं विना। छंदियं क्षपकेण इष्टं अशनं पानं वा क्षुत्पिपासापरीषहप्रशान्तिकरणक्षममियेतावता तेनेष्टं न तु लौल्यात्। अवगददोसं वातपित्तश्लेष्मणामजनकं। के आनयन्ति? अमाइणो मायारहिताः अयोग्यमिति ये नानयन्ति। लद्धिसपण्णा मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विताः। अलब्धिमान्क्षपकं क्लेशयति। मायावी अयोग्यं योग्यमिति कथयेत्।

पं. आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका—

चत्वारस्तदर्थं समुचितमशनं उपनयन्तीत्यनुशास्ति—

उवकप्पेंति आनयन्ति। अगिलाए ग्लानिं विना कियन्तं कालमानयाम इति संक्लेशं विना। छंदियं भक्तपानं क्षुत्पिपासादुःखमसमाधिकरं निराकरोतीत्येतावतैव क्षपकेणेष्टं। अवगददोषं वातपित्तश्लेष्मणामजनकं प्रशमकं च उद्गमादि दोषरहितं वा। अमाइणो अयोग्यं योग्यमिदमिति प्रतारणरहिताः लाभान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विताः। तथैव क्षपकस्यासंक्लेशनात्॥

इनका अर्थ निम्न प्रकार है—

परिचर्या के लिए नियत किये गये चार मुनीश्वर 'कितने काल तक हम आहार लाया करेंगे' इस प्रकार की ग्लानि (संक्लेश) से रहित होकर उद्गमादि दोष रहित भोजन के वे पदार्थ क्षपक के लिए लाते हैं, जिनको क्षपक चाहता है। क्षपक भी आहार की लोलुपता नहीं रखता है। किन्तु वह भी उन्हीं पदार्थों की इच्छा करता है, जो पदार्थ उसकी भूख प्यास परिषह को शांत करने मे समर्थ होते हैं। परिचारक मुनियो के अन्तःकरण मायाचार रहित होते हैं। वे अयोग्य को योग्य कहकर क्षपक के प्रति कभी छल कपट का व्यवहार नहीं करते हैं। वे जो पदार्थ लाते हैं वे पदार्थ क्षपक के वात पित्त और कफ की वृद्धि नहीं करते, किन्तु उनकी शान्ति करने वाले होते हैं। तथा वे उद्गमादि दोष से रहित होते हैं। आचार्य उन्हीं मुनिराजो को आहार के लिए नियुक्त करते हैं जिनको मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम विशेष रूप लब्धि प्राप्त होती है। क्योंकि जिनके उक्त भोजन लब्धि प्राप्त नहीं हुई है उन परिचारकों से क्षपक को संक्लेश उत्पन्न होता है।

आचार्य अमितगति ने भगवती आराधना की प्रत्येक गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाले संस्कृत पद्य तथा गद्य दिये हैं। उनने भी उक्त गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाला निम्न लिखित श्लोक दिया है।

सं. प्र.

तस्यानयन्ति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमाः ।
निर्माना लब्धिसम्पन्नास्तदिष्टं गतदूषणम् ॥ ६८८ ॥ [सं. भग. आ.]

अर्थ—परिचारक चार मुनिराज क्षपक के योग्य आहार लाते हैं। वे आहार के लाने में श्रम की परवा नहीं करते हैं। वे निरभिमान और भोजन लब्धि से सम्पन्न होते हैं। आहार भी वही लाते हैं जो क्षपक को अभीष्ट होता है और सब दूषणों से रहित होता है।

चार मुनिराज पीने योग्य पदार्थ के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं ।
छंदियमवगददोमं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ६६३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—मायाचार रहित और भोजन पान लब्धि से सम्पन्न चार मुनिराज श्रम रहित होकर क्षपक के इष्ट उद्गमादि दोष रहित तथा क्षपक की प्रकृति के योग्य पीने योग्य पदार्थों की उपकल्पना करते हैं अर्थात लाते हैं।

इसकी दोनों की संस्कृत टीकाए नीचे उद्धृत करते हैं—

विजयोदया—चत्तारि जणा इति स्पष्टार्था गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्तं पृथक् पानं चानयतः॥
(अपराजित सूरिः)

मूलाराधना—चत्वारःक्षपकाय पानमानयन्तीत्याह—

मूलाराधना—स्पष्टम ।

टीकार्थ—आचार्य के आदेश से क्षपक के लिए पृथक् दो साधु भोजन और दो साधु पृथक् पीने योग्य पदार्थ लाते हैं।

चार मुनि लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की रक्षा करते हैं

चत्तारि जणा रक्खंति दवियमुक्कप्पियं तयं तेहिं ।
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥ ६६४ ॥ [भग. आ.]

पानं नयन्ति चत्वारो द्रव्यं तदुपकल्पितम् ।
अप्रमत्ताः समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमाः ॥ ६८६ ॥ [अमितगति]

अर्थ—क्षपक के लिए लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की चार मुनि प्रमाद रहित हुए रक्षा करते हैं। वे बड़ी सावधानी से इस का ध्यान रखते हैं कि उनमे ऊपर से त्रस जीव न गिर जावें तथा दूसरे उन पदार्थों को गिरा न सकें।

विजयोदया—तैरानीत भक्तं पानं वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमाद रहिताः त्रसा यथा न प्रविशन्ति। यथा वापरे न पातयन्ति ॥

मूलाराधना—चत्वारस्तद्भक्तपानं तरां रक्षन्तीत्याह। रखंति यथा त्रसादयो न पतन्ति परे वा न पातयन्तीत्यर्थः। दवियं द्रव्यं। उवकप्पियं आनीत। तयं भक्तपान वा ॥

इनका अर्थ स्पष्ट है। मूल अर्थ से विशेष अर्थ न होने से इनका भिन्न अर्थ नहीं लिखा गया है।

नोट—शास्त्रो में नियम दो प्रकार का बताया गया है। एक उत्सर्ग और दूसरा अपवाद। साधुओ के लिए आगम में उक्त दो प्रकार के नियम का वर्णन स्थान २ पर मिलता है। साधु के २८ मूल गुण का पालन करना साधु के लिए परमावश्यक माना गया है। यह उत्सर्ग मार्ग है। इन गुणो का अस्तित्व जिसमे नहीं पाया जाता है वह मुनि नहीं कहा जा सकता है। किन्तु २८ मूल गुणों के धारक तथा आगम के अनुकूल चारित्रादि के पालन करने वाले साधु को भी समाधिमरण करने वाले साधु का वैयावृत्त्य करने के लिए भगवती आराधना मूल तथा उसकी संस्कृत टीकाओं में क्षपक के लिए भोजन पानादि उचित पदार्थों के लाने के लिए जो विशेष विधान किया गया है वह अपवादमार्ग है। उत्सर्ग मार्ग का सर्वदा और सर्वत्र पालन करने की आज्ञा है। अपवाद मार्ग का अमुक अवसर पर अमुक प्रकार आचरण करने को कहा गया है। यहां समाधिमरण का प्रकरण है। इस प्रकरण में भगवती आराधना में जो साधुओ को क्षपक के लिए भोजन पान सामग्री लाने का, तथा उसकी रक्षा करने का एवं क्षपक को बहुत समझाने बुझाने पर आहार दिखलाकर उसको संतोष प्राप्त कराने के अनेक उपाय करने पर भी जब उसके चित्त में व्याकुलता की शान्ति नहीं होती हुई देखते हैं तब आचार्य की आज्ञा से उसे चित्त शान्ति के लिए भोजन पान का सेवन भी करने का जो यह निरूपण शिव कोटि आचार्य ने किया है वह सब अपवादमार्ग है। साधु लोग वैयावृत्त्य के लिए गृहस्थ के यहां से उचित पदार्थ ला सकते हैं। भगवती आराधना मे तो समाधिमरण प्रकरण मे स्थान २ पर क्षपक के वैयावृत्त्य के लिए उचित वस्तु लाने के लिए स्पष्ट शब्दो में कहा है। यद्यपि गाथा नं. ६६२ व ६६३ में 'उवकप्पेंति' शब्द दिया है। तथापि उसका अर्थ टीकाओं में भोजन पान का लाना ही किया है। उस प्रकरण मे उक्त अर्थ ही सगत होता है। गाथा नं. ६८८ में क्षपक को कुरले करवाने के लिए तेल

और कसायले पदार्थ गृहस्थ के यहाँ से 'घेतव्वा' ग्रहण करने चाहिए अर्थात् लाने चाहिए—ऐसा स्पष्ट शब्द दिया है।

मूलाचार की टीका मे भी वैयावृत्त्य के निमित्त आहारादि की योजना करने मे निर्दोषता दिखाई है। इन सबका आशय यह है कि समाधिमरण के अवसर पर क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए उचित भोजन पान व तैलादि औषध साधु गृहथ के घर से लाते हैं। यह अपवाद मार्ग है। वैयावृत्त्य के समय अपवाद मार्ग का आचरण करने के कारण परिचारक मुनियो को प्रायश्चित्त का आचरण करना पड़ता है।

चार मुनि क्षपक के मलमूत्रादि की प्रतिष्ठापना करते हैं तथा शय्यादि की प्रतिलेखना (प्रमार्जन) करते हैं।

काइयमादी सव्वं चत्तारि पडिट्ठवन्ति खवयस्स।
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधि संथारं ॥ ६६५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—चार मुनीश्वर क्षपक की विष्टा मूत्र कफ आदि का निर्जन्तु भूमि देखकर एकान्त मे क्षेपण करते हैं। तथा प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय मे क्षपक की शय्या पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण का शोधन और प्रमार्जन करते हैं।

चार मुनि द्वारपाल का कार्य करते हैं तथा चार मुनि धर्म श्रवण मंडप के द्वार पर रहते हैं।

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जणा चत्तारि।
चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खन्ति जदणाए ॥ ६६६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—चार मुनिराज क्षपक की वसतिका के द्वार की यत्न पूर्वक रक्षा करते हैं। अर्थात् क्षपक के समीप असंयत मनुष्यों को जाने से रोकते हैं। चार मुनि धर्मोपदेश देने के सभा मण्डप के द्वार का रक्षण सावधानी मे करते हैं।

भावार्थ—क्षपक पवित्रात्मा है। उसके दर्शन के निमित्त कई ग्राम व नगरों से नरनारी जन आते रहते हैं। यदि उनको रोकने वाला न हो तो वे क्षपक के समीप जाकर क्षपक के अन्तःकरण मे क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं, इसलिए द्वार पर चार मुनिराजों को निर्यापकाचार्य नियुक्त करते हैं। वे उनको मधुर और शान्त वचन बोल कर आगे जाने से रोकते हैं। तथा किसी प्रकार का क्षोभ जनक वातावरण उत्पन्न न होने देते हैं। सदा क्षपक की समाधि का ध्यान रखते हुए वसतिका के द्वार पर बैठे हुए अपने कर्त्तव्य का भली भांति पालन करते रहते हैं।

आचार्य की आज्ञा बिना अतिरिक्त साधुओं के प्रवेश को भी रोकते हैं। न जाने वे अनुचित वार्तालाप करके या क्षपक के असुहाते वातावरण को उत्पन्न कर क्षपक के समाधान का भंग कर बैठें; इसलिए उन्हें भी भीतर जाने का निषेध करते हैं।

जो चार मुनिराज सभा मंडप के द्वार का रक्षण करते हैं, उनका कर्त्तव्य होता है कि वे आगन्तुक मनुष्यों के आकार, वाणी, वेषभूषादि से उनके स्वभाव को जानकर सभा मण्डप में प्रवेश करने दें। जिनसे सभा में क्षोभ उत्पन्न होने का सम्भावना होती प्रतीत होती है, उनको वे वहीं रोक देते हैं, सभा में भीतर नहीं जाने देते। यह सब कार्य वे प्रिय व मधुर वचनों द्वारा करते हैं।

चार मुनिराज रात्रि मे जागते हैं और देशादि की वार्त्ता जानने के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादौ जग्गंति तह य चत्तारि ॥
चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥ ६६७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—निद्रा पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले क्षपक की सेवा में तत्पर चार मुनीश्वर क्षपक के निकट जागते रहते हैं। जहा क्षपक व संघ का वास है, उस देश राज्यादि की क्षेम कुशलतादि (शुभाशुभ) वार्ता का निरीक्षण करने के लिए चार मुनीश्वर आचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

चार मुनिराज आगत श्रोताओं को उपदेश देते हैं—

वाहिं असदवडियं कहंति चउरो चदुव्विधकहाओ ।
ससमयपरसमयविदू परिसाए सा समोसदाए खु ॥ ६६८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—क्षपक के आवास स्थान से कुछ दूर पर जहां से शब्द क्षपक के कानों मे न पड़ सके वहां पर बैठकर स्वमत व परमत के रहस्य के वेत्ता चार मुनिराज सभामण्डप में आये हुए श्रोताओ को आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी इन चार धर्मकथाओ का यथोचित व्याख्यान करते हैं।

भावार्थ—धर्म पिपासा से आगत धर्म-प्रिय जनता को धर्म श्रवण कराने के लिए आचार्य चार ऐसे मुनिराजों को नियुक्त करते हैं जिन्होंने अपने सिद्धान्त ग्रन्थों का तथा अन्य धर्म ग्रन्थों का भली भांति अनुशीलन किया है और जो अपने सिद्धान्तों का पोषण युक्ति

और अनेक शास्त्रों के प्रमाणों से कर सकते हैं। ऐसे वाग्मी चार साधु एक के पश्चात् एक सुललित और ओजस्विनी भाषा में धर्म का रहस्य समझाते हैं। जिसे सुनकर प्राणियों के हृदय में धर्म वासना जाग उठती है और श्रद्धालुओं के अन्तःकरण धर्म पर अत्यन्त दृढ हो जाते हैं एवं अनेक उत्तम भावनाओं से पूरित हुए सन्तुष्ट होकर घर लौटते हैं।

उनकी स्वमत और परमत की विवेचनात्मक धर्म कथा को सुनकर जैनेतर धर्मवासित अन्तःकरण वाले मनुष्यों के हृदय भी सुसंस्कारित होकर कुसंस्कारों का त्याग करते हैं।

प्रश्न—यदि कोई मिथ्या अभिमान से उन्मत्त होकर सभा में वाद विवाद करने के लिए उद्यत हो जावे तो वे धर्मोपदेशक मुनिराज अपना धर्मोपदेश रोक कर उसके साथ वाद विवाद करने मे प्रवृत होते हैं या धर्मोपदेश पूर्ण होने के पश्चात् उसको वाद विवाद करने का अवसर देते हैं ?

उत्तर—धर्मोपदेश के समय वाद विवाद करन का अवसर नहीं देते हैं; क्योंकि उस समय श्रोताओं के धर्म-श्रवण में बाधा होती है। धर्मोपदेश समाप्त होने के बाद उसे वाद विवाद का अवसर दिया जाता है।

वाद विवाद के लिए चार वाग्मी मुनियों को आचार्य नियुक्त करते हैं, उनका केवल प्रतिवादी से वाद करना ही मुख्य कार्य होता है।

वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविदू ।
धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ॥ ६६८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सिंह के समान निर्भीक अनेक शास्त्रों के मर्मज्ञ चार वाग्मी मुनिराज धर्मोपदेशक मुनिराजों की धर्मकथा का रक्षण करने के लिए सभा स्थान मे इधर उधर विचरण करते हैं।

उक्त प्रकार महाप्रभावशाली अड़तालीस निर्यापक मुनीश्वर जी तीव्र प्रयत्न करके समाधिमरण करने में तत्पर हुए क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के अर्थ सेवा करने में एकाग्रचित्त रहते हैं।

प्रश्न- समाधिमरण कार्य का सम्पादन करने के लिए क्या समस्त काल में अड़तालीस परिचारक मुनियों का होना आवश्यक माना गया है। या भिन्न २ काल में परिस्थिति के अनुसार हीनाधिक परिचारक मुनिराजों के लिए भी आगम मे विधान है ?

उत्तर—परिचारक मुनियों की संख्या में काल के अनुसार हीनाधिकता हुआ करती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल का परिवर्त्तन होता रहता है। और काल के प्रभाव से मनुष्यों के गुणों मे भी जघन्यता, मध्यमता और उत्कृष्टता होती है। जब उत्कृष्ट काल का वर्त्तन होता है, उस समय मे अड़तालीस निर्यापक मुनिराज क्षपक का समाधिमरण सम्पन्न कराने में सहायता करते हैं। क्योंकि उस समय परिचारक मुनि भद्र परिणाम वाले अधिक होते हैं वे हर्ष पूर्वक क्षपक की सेवा मे संलग्न रहकर अपने को कृतार्थ समझते हैं। मध्यम काल के प्रारम्भ में चवालीस मुनिराज क्षपक की सेवा में नियुक्त रहते हैं। पश्चात् ज्यों ज्यो काल मे हीनता आती है, त्यों त्यों परिचारक मुनियों की संख्या अल्प होती जाती है। अर्थात् काल के अनुसार क्रम से चार २ मुनिराज कम किये जाते हैं। अन्त में संक्लेश परिणाम युक्त काल में चार मुनीश्वर के लिए भी क्षपक के समाधिमरण कार्य को सुसम्पन्न कराने की आज्ञा है। अतिशय संक्लेश परिमाण युक्त काल में दो मुनिराज भी क्षपक की समाधि मृत्यु का साधन कर सकते हैं। किन्तु एक निर्यापक साधु समाधिमरण कार्य की साधना नहीं कर सकता है। आगम में एक निर्यापक मुनि का कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता है। वही कहा है—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु।
ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया ॥ ६७१ ॥

एवं चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए।
कालंमि संकिलिट्ठंमि जाव चत्तारि साधेंति ॥ ६७२ ॥

णिज्जावयाया दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ ६७३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्र मे जिस समय जैसा काल चक्र का वर्त्तन होता है, उस समय काल के अनुरूप निर्यापक मुनिराज होते हैं। उत्कृष्ट अड़तालीस निर्यापक मुनियों की संख्या जो बताई गई है वह उत्कृष्ट है। उत्तम काल में निर्यापक मुनियो को जघन्य संख्या चवालीस तक होती है। संक्लेश भाव की वृद्धि के अनुक्रम से चार चार निर्यापक मुनियों की संख्या हीन होती जाती है। और वह अन्त मे चार तक पहुंचती है। जब उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम सहित काल का वर्त्तन होता है, उस समय दो निर्यापक मुनिराज भी क्षपक का समाधिमरण कार्य सिद्ध करते हैं। किन्तु किसी काल में एक निर्यापक मुनि का उल्लेख जैनागम में कहीं पर नहीं है।

प्रश्न—आगम जैसे जघन्य दो निर्यापक मुनि की आज्ञा देता है, वैसे ही एक निर्यापक मुनि के लिए आज्ञा क्यों नहीं देता ? उसमे क्या दोष दिखाई देता है ?

उत्तर—एक निर्यापक मुनि क्षपक का समाधिमरण करवाने मे सर्वथा असमर्थ होता है। इसलिए आगम में एक निर्यापक का निषेध किया गया है। यदि अकेला निर्यापक मुनि साधु का समाधिमरण रूप अतिदुष्कर कार्य का भार ग्रहण करता है, तो वह निर्यापक अपना और क्षपक दोनों का विनाश करता है।

जब निर्यापक मुनि आहारादि काय के निमित्त क्षपक को अकेला छोडकर बाहर जावेगा उस समय क्षपक को क्षुधादि वेदना के कारण जो कष्ट होगा अथवा अन्य मिथ्यादृष्टियों या असंयमीजनों के सम्पर्क से जो रत्नत्रय में बाधा और चित्त में अशान्ति उत्पन्न होगी उसका प्रतीकार कौन करेगा ? यदि उस समय मरणकाल आ पहुंचे तो उसके अशुभ ध्यान के कारण रत्नत्रय का विनाश होकर वह असद् गति का भाजन होगा।

अथवा अकेला क्षपक तीव्र क्षुधादि वेदना से पीडित होकर अयोग्य सेवन करने लगेगा अर्थात पास में किसी मुनिराज के न होने से बैठकर भोजन करने लगेगा, मिथ्यादृष्टि लोगों के समीप जाकर याचना करने लगेगा "मैं क्षुधा से मरा जाता हूँ, प्यास के मारे मेरा दम घुट रहा है, मुझे खाने को भोजन और पीने को पानी दो" इत्यादि याचना करने लगेगा। इस तरह अनेक दोष ऐसे उत्पन्न होते हैं, जिससे क्षपक के सयम का विनाश और दुर्ध्यान के प्रादुर्भाव से समाधिमरण का विनाश होता है, जिससे क्षपक दुर्गति का पात्र होता है।

अकेला निर्यापक अपना भी विनाश करता है। वह यदि सेवा को परम कर्तव्य समझकर क्षपक की परिचर्या में तल्लीन रहेगा तो उसको आहार ग्रहण करने का, शयन करने का तथा शरीर-मल का त्याग करने का अवसर न मिलने से स्वयं उसे असह्य क्लेश होगा। इससे उसका शरीर गिरने लगेगा। शरीर के क्षीण होने अथवा स्वयं रोगग्रस्त हो जाने पर वह क्षपक की परिचर्या भी न कर सकेगा और अपने धर्म का भी भलीभांति पालन न कर सकेगा—सामायिकादि छह आवश्यकों का पालन न कर सकेगा। क्षपक को अकेला छोड़कर यदि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है तो क्षपक की समाधि भंग होती है। और यदि क्षपक को अकेला न छोडकर उसी के समाधान (सुख शान्ति) के लिए तत्पर रहता है तो अपने आवश्यक कर्त्तव्यों का आचरण न करने से कर्त्तव्य-विमुख होता है।

इस प्रकार एकाकी निर्यापक आत्म-विनाश, क्षपक का विनाश और आगम का विघात करने वाला होता है। आगम में अकेले निर्यापक का निषेध किया गया है, उसकी अवहेलना करने के कारण वह आगमाज्ञा का विघातक भी होता है।

प्रश्न—समाधिमरण (सल्लेखना) से प्राण त्याग करने वाला जीव संसार में अधिक से अधिक कितने भव धारण करता है ?

उत्तर—जो जीव एक बार विधि पूर्वक सल्लेखना (समाधिमरण) से शरीर का त्याग करता है, वह जीव अधिक से अधिक सात या आठ भव ही धारण करता है। नवमा भव धारण नहीं करता है। आठवें भव में तो वह मोक्ष का पूर्ण अधिकारी हो जाता है। कहा है—

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूणं ॥ ६८२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो प्राणी एक भव में समाधिमरण से युक्त मरण करता है, वह बहुत काल तक संसार में भ्रमण नहीं करता है। उसको सात आठ भवों मे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह हम पूर्व विवेचन कर आये हैं कि समाधिमरण का प्रारम्भ से लेकर समाप्ति तक का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का है। उस काल के प्रारम्भ के चार वर्ष नाना प्रकार के उग्र काय क्लेशादि तप तीनों योगों द्वारा करता है। तत्पश्चात् मध्य के चार वर्षों में रसों का त्याग कर काय को तपश्चरण द्वारा कृश करता है। तदनन्तर आचाम्ल तप तथा नीरसाहार द्वारा दो वर्ष व्यतीत करता है। तथा एक वर्ष स्वल्प आहार द्वारा पूर्ण करता है और छह माह मध्यम तपश्चरण का आचरण करते हुए बिताता है। इस प्रकार साढ़े ग्यारह वर्ष स्वाध्याय ध्यान करते हुए, आवश्यक कार्य के लिए चलते फिरते हुए एवं तपश्चरण द्वारा काय कृश करते हुए समाप्त करता है।

जब भक्त प्रत्याख्यान की मर्यादा का काल छह महिने अवशिष्ट रह जाता है उस समय अनेक प्रकार के उग्रोग्र तपस्या करने के कारण क्षपक का शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है। तब वह संस्तरारूढ़ होता है। अर्थात् शय्या की शरण ग्रहण करता है। तब वह गुरु के निकट आलोचना करता है। उसके पश्चात् निर्यापक आचार्य द्वारा अधिक से अधिक ४८ मुनि और काल की अतिनिकृष्टता प्राप्त होने पर कम से कम दो मुनि परिचर्या मे नियुक्त किये जाते हैं। इन सब बातों का स्पष्ट विवेचन पूर्व में कर आये हैं। यहां सिंहावलोकन मात्र किया गया है।

क्षपक का शरीर और कषाय तपश्चरण द्वारा कृश हो जाते हैं। कृश शरीर को भी वे अत्यन्त कृश करते हैं। उसकी विधि का उल्लेख आगे करते हैं।

क्षपक का कर्तव्य है कि शास्त्र के ज्ञाता अनेक आचार्यों के विद्यमान होते हुए भी संन्यास विधि प्रारम्भ करते समय जिस आचार्य के निकट प्रथम आलोचना की हो, उसी आचार्य के चरणों के समीप प्रत्याख्यान-प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कर्तव्यों का आचरण

करे। इन्हीं की आज्ञा का पालन करे। उपदेश करना, जल के अतिरिक्त तीन प्रकार के आहार का त्याग तथा प्रायश्चित्त का ग्रहण और संदिग्ध विषयों का समाधान करने के लिए प्रश्न करना इत्यादि सब कार्यों में उसके लिए प्रथमाचार्य ही प्रमाण होते हैं। यदि प्रथमाचार्य उपदेश देने आदि कार्यों में सामर्थ्यहीन हों तो उनकी आज्ञा के अनुसार दूसरे आचार्य के निकट प्रतिक्रमणादि कर्त्तव्य कर्मों का आचरण कर सकता है।

श्रीमद् शिवकोटि आचार्य ने क्षपक की वचन सुनने की शक्ति का विकास और मुख तथा जिह्वा की मलीनता दूर करने के लिए तेल का प्रयोग और कषायले द्रव्यों से मिश्रित जल के कुरले करने को भी लिखा है। वह निम्न प्रकार है।

तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा।
जिब्भाकण्णाण वलं होहिदि तुंडं च से विसद ॥ ६८८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—क्षपक को तैल और कषायले द्रव्यों के बहुत बार कुरले करने चाहिए। क्योंकि कान में तैल डालने से कानों में शब्द-श्रवण शक्ति बढ़ती है। तथा जीभ पर जब मैल जम जाता है मुख में मल का संचय बढ़ जाने से दुर्गन्ध आने लगती है। वचनोच्चारण में क्षीणता बढ़ने लगती है। इन दोषों का निवारण करने के लिए कषायले द्रव्यों के कुरले कराये जाते हैं।

इसी का समर्थन अमितिगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है।

तेन तैलादिना कार्या गण्डूषाः सन्त्यनेकशः।
जिह्वावदनकर्णादेर्नैमन्य जायते ततः ॥ ७१५ ॥ [सं भग. आ.]

उक्त गाथा का और इस श्लोक का अर्थ एकसा है। यह श्लोक ऊपर की गाथा का अनुवाद मात्र है।

तात्पर्य यह है कि क्षपक का यह अन्तिम व अतिप्रशस्त समय है। इस समय इसको योग्य उपदेश द्वारा समाधि में स्थिर करना उसके अन्तःकरण में उत्पन्न हुए उद्गारों को जानकर उनके अनुकूल व्यवस्था करके उसको सन्तोष उत्पन्न करना निर्यापकाचार्य तथा निर्यापक मुनियों का परम कर्तव्य होता है। वह तभी हो सकता है कि क्षपक के कर्णों में उपदेश सुनने की शक्ति तथा मन के उद्गारों को प्रकट करने के लिए क्षपक की वचन शक्ति बनी रहे; इसीलिए इस कार्य की सफलता के लिए क्षपक को तैलादि के कुरले कराये जाते हैं।

क्षपक के विचारों पर बुरा प्रभाव न पड़े, इसलिए आगम के मर्मज्ञ मुनियों को भी क्षपक के समक्ष भोजनादि कथाओं का

वर्णन कदापि नहीं करना चाहिए। वही कहा है—

भत्तादीण भत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कायव्वा।
आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ॥ ६८७ ॥ भग. आ.

अर्थ—गीतार्थ (विशेषज्ञ) मुनियों को भी क्षपक के निकट भोजनादि की कथाओं को नहीं करना चाहिए। क्षपक के निकटवर्ती आचार्य के समीप अप्रशस्त आलोचना भी किसी मुनीश्वर को करना उचित नहीं है।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि क्षपक के लिए उस समय उच्च आदर्श की आवश्यकता है। उस समय छोटा सा प्रतिकूल वातावरण उसके हृदय में क्षोभ उत्पन्न कर सकता है। जैसे स्वच्छ व निष्कम्प जल में स्वल्प वायु भी कम्पन और थोड़ा मैल मलीनता उत्पन्न कर देती है, वैसे ही क्षपक के स्वच्छ व निष्कम्प हृदय को विपरीत संयोग विकृत व उथल पुथल कर सकता है। इसलिए निर्यापक मुनियों को उसकी समाधि बनाये रखने के लिए प्रतिकूल संयोगों का निवारण और अनुकूल साधनों की योजना करने में सावधान रहना पड़ता है।

प्रश्न—भक्त प्रत्याख्यान मर्यादा के छह महीने शेष रहने पर क्षपक को तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाते हैं। तो क्या प्रत्येक क्षपक के लिए एकसा विधान है या क्षपक की प्रकृति की जांच करके उचित क्रम से भोजन का त्याग करवाते हैं? शास्त्रोक्त रीति से निरूपण करने की कृपा करें।

उत्तर—जब आचार्य क्षपक को जल के सिवा तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाने के लिए प्रवृत्त होते हैं तो उसके पहले आचार्य क्षपक को सब प्रकार के आहार को दिखाते हैं। आहार दिखाने पर उसकी भोजन की लालसा का परिचय प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् त्याग करवाते हैं।

इस विषय मे शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना में निम्न प्रकार वर्णन किया है।

दव्वपयासमकिचा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरण।
कम्हिवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८९ ॥
तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि।
सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥ ६९० ॥

पासित्तु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यद्यपि क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए उत्सुक हो रहा है, तथापि उसकी किसी प्रकार के आहार मे अभिलाषा बनी न रहे, इसलिए क्षपक को विचित्र विचित्र आहार दिखलाते हैं। यदि क्षपक को आहार दिखाये बिना ही उससे तीन प्रकार के आहार का त्याग करवा दिया जावे तो उसके चित्त मे किसी आहार विशेष की अभिलाषा बनी रही तो वह उसके अन्तःकरण को व्याकुल करती रहेगी। इसलिए उसका त्याग करवाने के पूर्व तीनों प्रकार के उत्तम उत्तम आहार के पदार्थ बर्तन में पृथक् पृथक् रखकर क्षपक के समीप लाकर आचार्य दिखाते हैं। उन उत्तमोत्तम भोजने के पदार्थों को देखकर कोई क्षपक मुनिराज अपने अन्तःकरण मे विचार करते हैं कि "मैंने अनन्त काल तक इनसे भी उत्तम पदार्थों का भोजन किया, किन्तु मुझे इनसे कुछ भी तृप्ति नहीं हुई। अबतो इस भव के अन्तिम किनारे पर आ लगा हूँ। अब इनसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है,?" ऐसा सोचकर इनसे विरक्त होकर ससार से भयभीत हुए आहार का त्याग करने मे दृढ़ संकल्प होते हैं।

आसादित्ता कोई तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुपत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६२ ॥
देसं भोच्चा हा हा तीर पत्तस्समेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुपत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६३ ॥
सव्वं भोच्चा धिद्धि पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६४ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—कोई क्षपक सम्मुख स्थित पदार्थों मे से थोड़ा चखकर विचार करते हैं कि इस थोड़े मे क्षण मात्र के जिह्वा के सुख से क्या सुख मात्रा प्राप्त होगी। मैं जीवन की अन्तिम सीमा पर पहुच चुका हूँ। मेरा भला इनका ग्रहण करने से नहीं, बल्कि त्याग करने से ही सिद्ध होगा-ऐसा विचार कर उनसे चित्त को हटाता है और संसार से भयभीत हुआ आहार के त्याग करने मे ही कटिबद्ध होता है।

कोई क्षपक उन नेत्र और मन को तृप्त करने वाले पदार्थों का कुछ भाग ग्रहण करके उनसे सहसा विरक्त होता है। विषय के स्वरूप का चिन्तन कर उद्विग्न होकर विषयों को धिक्कार देता है और सोचता है कि मेरी बुद्धि को धिक्कार है, जो इनकी ओर आकर्षित होती

(आगे पृष्ठ नं० ६३३ पढ़िए)

है। इस अन्तिम जीवन को सफल करने के लिए इनका त्याग ही श्रेयस्कर है–ऐसा सोचकर संसार भोग से विरक्त हुआ तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने में दृढ़ चित्त होता है।

कोई क्षपक मुनि चारित्र मोहनीय कर्म के उदय विशेष से उन मन लुभाने वाले उत्कृष्ट आहार के द्रव्यों को देखकर मोहित हुआ उन सब पदार्थों का भक्षण करता है। भक्षण करने के पश्चात् अन्तरङ्ग में विवेक बुद्धि का प्रकाश होते ही उसका अन्तःकरण उद्विग्न हो उठता है। वह सहसा चौंक पड़ता है और विचारने लगता है कि हे आत्मन्! तेरी इस विषय मुग्धता को धिक्कार है। वर्षों तक के विवेक-ज्ञान का अभ्यासी तू जिह्वा इन्द्रिय के विषय में कैसे प्रवृत्त हो गया ? इस कर्म की बलवत्ता को धिक्कार है। अब तेरा यही कर्तव्य है कि भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान इन भोगों से पृथक होकर अपना हित साधन कर। इस प्रकार संसार भोग से वैराग्य को प्राप्त हुआ वह क्षपक इन्द्रिय विषय भोग से विरक्त हुआ आहार का त्याग करने में उत्सुकता धारण कर शीघ्र तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने में तत्पर होता है।

उक्त अर्थ का विवेचन अमितिगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है—

अप्रकाश्य त्रिधाहारं त्याज्यते क्षपको यदि।
तदोत्सुकः स कुत्रापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥
ततः कृत्वा मनोज्ञानामाहाराणां प्रकाशना।
सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारमोचनम् ॥ ७१८ ॥
कश्चिद्दृष्ट्वा तदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥
आस्वाद्य कश्चिदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥
अशित्वा कश्चिदंशेन तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इती वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥
वल्भित्वा सर्वमेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥ (सं. भग. आ.)

इनका आशय ऊपर लिख चुके हैं। क्योंकि ये श्लोक भगवती आराधना की उक्त गाथाओं का अर्थानुवाद मात्र हैं। इनको यहां उद्धृत करने का अभिप्राय अमितिगति आचार्य का मत भी शिवकोटि आचार्य के अनुकूल है–ऐसा दिखलाना मात्र है।

प्रश्न—आहार दिखलाने से आचार्य को चार प्रकार के अभिप्राय वाले क्षपक का ज्ञान हुआ। एक तो विचित्र प्रकार के आहार को देखकर उससे विरक्त होने वाला उत्कृष्ट वैराग्यवान क्षपक है। दूसरा दिखलाये गये आहार में से किंचित् मात्र चखकर आहार से विरक्त होने वाला मध्यम वैराग्यवान् क्षपक है। तीसरा दिखलाई भोजन सामग्री के एक अंश का भक्षण कर समस्त भोजन से विरक्त होकर त्याग में प्रवृत्त होने वाला जघन्य वैराग्यवान् क्षपक है। तथा चौथा जघन्यतर वैराग्यवान् वह क्षपक है जो सम्पूर्ण आहार का सेवन कर पश्चात् उससे विरक्त होकर तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने में उत्सुक हुआ है।

इनके अतिरिक्त एक ऐसे क्षपक की सम्भावना होती है, जो चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के वशीभूत होकर दिखलाए गये आहार का सेवन कर उसके स्वाद में आसक्त हुआ भोजन का त्याग न करे तो उसके उद्धार के लिए आचार्य क्या करते हैं ?

उत्तर—आपने उक्त प्रश्न में प्रथम क्षपकों को जो चार भागों में विभक्त किया है वह विभाग आहार दिखलाने से लेकर जब तक वे आहार का त्याग करने में प्रवृत्त नहीं हुए हैं, तब तक के लिए ही हो सकते हैं। क्षपक सर्व उत्कृष्ट वैराग्य परायण होते हैं। तभी तो वे संन्यास मरण विधि में तत्पर हुए हैं।

उक्त चार प्रकार के अतिरिक्त आहार में आसक्त हुए क्षपक के विषय में जो प्रश्न किया है। उसका खुलासा निम्न प्रकार है—

कोई तमादयित्ता मणुण्णरसवेदणाए संगिद्धो।
तं चेवणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए ॥ ६९५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि कोई क्षपक दिखलाए आहार का भक्षण कर मनोरम रस के स्वाद में मूर्छित हुआ उस भक्षण किये गये सम्पूर्ण आहार को बारम्बार सेवन करने की लालसा करने लगे। अथवा उस दर्शित आहार सामग्री में से किसी एक पदार्थ को पुनः पुनः सेवन करने की उत्कण्ठा करने लगे; तो

तत्थ अवायोपायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो।
उद्धरिदुं मणोसल्लं सुहुमं सणिण्णवेमाणो ॥ ६९६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तब आचार्य मनोज्ञ आहार के भक्षण करने की आसक्ति से होने वाली हानि और लाभ को समझाते हैं। "हे क्षपक ! देखो ! तुम अपने मन को वश में न रखोगे तो तुम अनन्त काल में भी अति दुर्लभ इस इन्द्रिय संयम का विनाश करडालोगे और जिस मनुष्य ने इन्द्रियों पर अधिकार नहीं किया है। जो आत्मा इन्द्रियों का गुलाम हो जाता है, उसकी आत्म शक्ति विलीन हो जाती है। वह अपने कार्य की सिद्धि कभी नहीं कर सकता है।"

इस प्रकार गुरु के उपदेश को सुनकर घोर दुःख का संहार करने में समर्थ समाधि मरण को सफल बनाने के लिए वह विवेकी क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए आतुर होता है।

यदि कोई क्षपक तीव्र मोहनीय कर्म के चक्र में फंसा हुआ आहार को छोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है, तब भी आचार्य उस क्षपक पर दया करते हैं। उसको मधुर और प्रिय वचनों से समझा बुझा कर अनेक प्रकार के आहार पदार्थों में से एक एक पदार्थ को क्रम से घटाते हैं। इसके विषय निम्न प्रमाण है—

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टेदूण सव्वमाहारं ।
पाणयपरिक्कमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥ ६९९ ॥ [भग. आ.]

अर्थात्—क्षपक का आयुष्य जब अल्प रह जाता है, तब निर्यापकाचार्य उसे उत्तमोत्तम विविध आहार वर्त्तन में धरकर क्षपक की आहार त्याग की पुष्टि करने के लिए उसे दिखाते हैं। उन चित्ताकर्षक विचित्र आहार को देखकर क्षपक उसमें अत्यंत आसक्त हो जाता है और उन आहार के पदार्थों का पुनः पुनः सेवन करने का अत्यंत लोलुपी हो जाता है। आचार्य के अनेक उपदेशामृत का पान कराने पर भी उसकी आहार सम्बन्धी आसक्ति कम नहीं होती है। तब आचार्य उन समस्त आहार के सुन्दर २ पदार्थों में से क्षपक को क्रम से एक एक आहार पदार्थ का त्याग कराते कराते सादे भोजन पर ले आते हैं। अर्थात् मिष्टान्नादि विशिष्ट आहार से विरक्त करके भात दाल आदि साधारण आहार पर नियत करते हैं। पश्चात् वह क्षपक साधारण भात दाल पूए आदि तीन प्रकार के आहार पदार्थों का क्रम क्रम से त्याग करता हुआ पानक आहार पर अपने को स्थिर करता है। अर्थात् जलादि पेय पदार्थ के अतिरिक्त सब प्रकार आहार का त्याग कर देता है। अपने शरीर को जलादि के आधार पर रखता है।

प्रश्न—पानक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—पानक पदार्थ आगम में छह प्रकार के माने गये हैं।

सच्छं वहलं लेवडमलेवडं च ससित्थयमसित्थं ।
छव्विह पाणयमेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं ।। ७०० ।। [भग. आ.]

अर्थ—१ स्वच्छ, २ वहल, ३ लेवड, ४ अलेवड, ५ ससिक्थ और ६ असिक्थ इस प्रकार पानक के छह भेद हैं।

(१) स्वच्छ पानक—गर्म जलादि को 'स्वच्छ' पानक कहते हैं।

(२) वहल—कांजी, द्राक्षारस, इमली का पानी तथा ऐसे ही अन्य फलादि के रस को वहल पानक कहते हैं।

(३) लेवड—हाथ पर लिपट जाने वाले दही के घोल वगैरह गाढे पानक को लेवड कहते हैं।

(४) अलेवड—जो हाथ पर नहीं लिपटता है, ऐसा चांवल का मांड, तक्र आदि पतले पानक को अलेवड पानक कहते हैं।

(५) ससिक्थ पानक—जिसमे चावल आदि के सिक्थ पाये जावें ऐसे, मांड आदि पानक को ससिक्थ पानक कहते हैं।

(६) असिक्थ पानक—जिसमें भात आदि के सिक्थ (कण) न पाये जावें ऐसे पानक को असिक्थ पानक कहते हैं।

इस प्रकार पानक छह प्रकार का माना गया है।

इन छह प्रकार के पानकों में भी आचार्य को क्षपक के स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। अनुभवी अनेक शास्त्रों के ज्ञाता निर्यापकाचार्य आसन्न मरण वाले क्षपक की शारीरिक स्थिति के अनुकूल आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुसार वात, पित्त और कफ का शमन करने वाला उचित पानक क्षपक को देते हैं।

पानक पदार्थ का सेवन करवाने के पश्चात् उदर के मलकी शुद्धि करने के लिए क्षपक को मांड के समान मधुर विरेचन पदार्थ देना चाहिए।

क्षपक के उदर स्थित मल का शोधन करने के लिए कांजी से भीगे हुए बिल्व पत्रादि से उदर का सेक करना चाहिए तथा सैंधा-नमक आदि की वत्ती बनाकर गुदा में प्रवेश कर उदर का शोधन करना चाहिए।

प्रश्न—इतना महान् परिश्रम करके उदरस्थ मलका निवारण क्यों किया जाता है ?

उत्तर—क्षपक के उदर में संचित हुआ मल यदि नहीं निकाला जावेगा तो वह महती वेदना उत्पन्न करेगा इसलिए उसे निकालने का प्रयास करते हैं।

प्रश्न—उक्त प्रकार उदर का शोधन करने के पश्चात् क्षपक के योग्य किस कार्य का आचार्य सम्पादन करते हैं।

उत्तर—क्षपक की उदर शुद्धि होने के बाद आचार्य को 'क्षपक अशन, स्वाद्य और खाद्य इन तीन प्रकार के आहार का यावज्जीव त्याग करेगा' इस प्रकार समस्त संघ से निवेदन करते हैं। तथा क्षपक तुम से क्षमायाचना करता है, इस प्रकार कहते हुए आचार्य ब्रह्मचारी आदि के हाथ में क्षपक की पिच्छी देकर उसे दिखाते हुए सम्पूर्ण संघ के मुनियों की वसतिकाओं में घुमाते हैं।

प्रश्न—क्षपक की पिच्छी दिखलाकर आचार्य क्षपक की ओर से संघस्थित मुनियों से याचना करते हैं यह ठीक, पर चलने फिरने की शक्ति से हीन क्षपक का अभिप्राय जानकर सम्पूर्ण संघ का उस समय क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—समस्त संघ क्षपक को क्षमा प्रदान करते हैं। तथा क्षपक की रत्नत्रय आराधना निर्विघ्न सिद्ध होवे, इस हेतु से सम्पूर्ण संघ कायोत्सर्ग करता है।

प्रश्न—इसके अनन्तर क्षपक के प्रति निर्यापकाचार्य का क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—निर्यापकाचार्य क्षपक को सकल संघ के मध्य चार प्रकार के आहार का अथवा तीन प्रकार का आहार का विकल्प सहित त्याग करवाते हैं। आचार्य जब क्षपक को क्षुधादि परिषह के सहन करने में भली भांति समर्थ पाते हैं, तब चारों प्रकार के आहार का कालादि के विकल्प पूर्वक त्याग करवाते हैं। यदि क्षपक को उतना सहनशील नहीं देखते हैं तो उसे तीन प्रकार के आहार का ही त्याग करवाते हैं। और उस की चित्त शान्ति के लिए छह प्रकार के पानक आहारों का ही सेवन करवाते हैं। इसके अनन्तर ज्यों२ क्षपक की शक्ति का ह्रास होता जाता है त्यों त्यों पानक पदार्थों मे परिवर्तन करते २ अन्तमें सब का त्याग करवा देते हैं।

प्रश्न—इसके बाद क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—भक्त प्रत्याख्यान करने के बाद क्षपक के हृदय में आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मी मुनि, कुल मुनि (दीक्षागुरुशिष्य परम्परा) गण मुनि (स्थविर मुनि शिष्य सन्तान) इन सब के विषय मे जो क्रोध मान माया और लोभ होगा उन सब को निकाल फेंकता है। तथा 'मुमुक्षु का जो कर्त्तव्य होता है, उस सब का मैंने आचरण किया है' ऐसा विचार कर उसका चित्त आनन्द से उछलने लगता है।

सं. प्र.

प्रसन्नचित्त हुआ वह मस्तक पर दोनों हाथ जोड़ कर सकल संघ को नमस्कार करता है। सब से उचित शब्दों मे बोलने की शक्ति न होने के कारण हाथ जोड़ कर 'आप सब मुझे क्षमा करो' इस प्रकार क्षमा मांगने का अभिप्राय प्रकट करता है।

क्षपक अपने अन्तः करण में अव्यक्त भाषा में कहता है कि हे संघ के मुनिराजो आप मेरे माता पिता से अधिक पूज्य व हितकारक हो, आप निष्कारण जगत् के बन्धु हो, सब के उद्धार करने में कटिबद्ध हो, आप का मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना द्वारा जो अपराध अज्ञात भाव से किया हो, उन सब की मैं क्षमा चाहता हूं, मैं भी सब को क्षमा करता हूँ।

इस प्रकार क्षपक और सम्पूर्ण संघ की परस्पर क्षमा क्षमापणा हो जाने के बाद आचार्य संस्तरारूढ़ क्षपक को श्रुत ज्ञान के अनुसार शिक्षा देते हैं और संवेग व वैराग्य का उत्पादक कर्णजाप देते हैं।

प्रश्न—वह कर्णजाप क्या है, जिसे निर्यापकाचार्य क्षपक को देते हैं ?

उत्तर—संस्तरारूढ़ क्षपक को उस समय के योग्य जो क्षपक के कर्ण के समीप शिक्षा देते हैं, उसे कर्णजाप कहते हैं। वह निम्न प्रकार है—

निस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकर वसधिसंथारं।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥ ७२१ ॥ (भ. ग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक राज ! इस समय तुम वैयावृत्य करने वालों की तथा निःशल्य होकर रत्नत्रय की शुद्धि करने में तत्पर रहो।

व्याधि (रोग) उपसर्ग परीषह असंयम मिथ्याज्ञान यह विपत्ति हैं। इस विपत्ति का प्रतीकार करने को वैयावृत्त्य कहते हैं। ऐसी वैयावृत्त्य करने वालों को, वैयावृत्त्यकर अर्थात् परिचारक कहते हैं। वैयावृत्त्य करने वाले मुनि असंयम के ज्ञाता हैं या नहीं-इसका ध्यान रखो। यदि वे असंयम के ज्ञाता नहीं प्रतीत हों तो उन्हें पृथक् कर दो। और मन वचन तथा काय से जो असंयम का निवारण करते हों, ऐसे मुनिराजों को परिचर्या करने की आज्ञा दो।

प्रातःकाल सायंकाल दोनों समय वसतिका, संस्तर और उपकरणों की प्रतिदिन शुद्धि करो। अर्थात् तुम क्षीण शक्ति हो, इसलिए परिचारकों को वसतिका, संस्तर और उपकरणों की मार्जना करने की प्रति दिन आज्ञा दो। आज्ञा देना ही तुम्हारा प्रतिलेखन (शुद्धि) करना सिद्ध होता है।

माया, मिथ्या और निदान ये तीन आत्मा को अनादि से क्लेश देते आये हैं इसलिए तत्त्व श्रद्धान पर दृढ़ रहकर मिथ्यात्व का नाश करो। सरलता, निष्कपट भाव धारण कर माया को हृदय से निकाल फेंको और भावी भोगों की निस्पृहता से निदान शल्य का नाश करो। इससे तुम्हारा रत्नत्रय शुद्धि को प्राप्त होगा।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करने को रत्नत्रय की प्राप्ति कहते हैं। हे क्षपकोत्तम! मिथ्यात्व का वमन करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है। और यह सब कर्मों से प्रधान है। इसलिए हे क्षपक! तू मन वचन और काय से इस मिथ्यात्व शत्रु का त्याग कर।

शंका—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान कैसे कहा है? ज्ञानावरण, दर्शनावरण, आदि के अनुक्रम से आचार्यों ने इसे प्रधान नहीं कहा है? आत्मा के साथ अनादि काल से आठों कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है। इसलिए उत्पत्ति की अपेक्षा भी मिथ्यात्व मोहनीय दर्शनावरणादि में पहले पीछे का सद्भाव नहीं है। अतः आपने मिथ्यात्व को प्रधान कैसे कहा है?

समाधान—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान इसलिए कहा है कि यह आत्मा के ज्ञानादि गुण को विपरीत करता है। अन्यकर्म तो ज्ञानादि गुणों की शक्ति का ह्रास मात्र करते हैं, उनको विपरीत नहीं बनाते हैं। और मिथ्यात्व उन्हें सर्वथा उल्टा कर देता है। अर्थात् शुश्रूषा (सुनने की इच्छा), शास्त्र श्रवण करना, श्रवण कर हृदय में धारण करना और धारण किया हुआ नहीं भूलना ये सब बुद्धि के गुण हैं। मिथ्यात्व इन को भी विपरीत करता है। तथा चारित्र, तपश्चरण भावना आदि सब में विपरीतता उत्पन्न करता है, इसलिए मिथ्यात्व को सम्पूर्ण कर्मों में प्रधान व महान् कर्म कहा गया है। अतएव हे क्षपक!

परिहर तं मिच्छत्तं सम्मात्ताराहणाए दढचित्तो।
होदि णमोकारम्मि य णाणे वद भावणासु धिया ॥ ७२५ ॥
मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मरणंति वह सतण्हयगा।
सब्भूदंति असब्भूदं तध मरणंति मोहेण ॥ ७२६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तू इस मिथ्यात्व का परित्याग कर और सम्यक्त्व की आराधना में चित्तको स्थिर कर। तथा परम भक्ति से अरिहंत आदि परमेष्ठी के भाव नमस्कार में रत हो। हाथ जोड़कर मस्तक झुका कर 'पंच परमेष्ठी को नमस्कार हो' ऐसा वचन उच्चारण करते हुए नमस्कार करने को द्रव्य नमस्कार कहते हैं। श्री अरहंतादि पूज्य व्यक्तियों के गुणों में अनुराग करना भाव नमस्कार है। तू निरन्तर भाव-

नमस्कार में तथा ज्ञान की आराधना और व्रतों की भावना में बुद्धि को लगा।

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से यह जीव अविद्यमान वस्तु में विद्यमान और विद्यमान वस्तु मे अविद्यमान प्रतीति करता है तथा अतत्त्व को तत्त्व समझता है, जैसे जल से व्याकुल हुआ मृग मरुस्थल की बालु रेत मे पड़ी हुई सूर्य की किरणों को लहराता हुआ जल समझ कर पानी पीने की आशा से दौड़ता है। वैसे ही मिथ्यात्व से आकुलित बुद्धि मनुष्य विवेकज्ञान रहित हुआ पर पदार्थ को अपना समझ कर दुःखी होता है। धतूरे का सेवन करने से उत्पन्न हुआ उन्मत्तपना (पागलपन कुछ दिन तक जीव को मोहित (मूर्छित) रखता है, वह एक भव में भी कुछ काल पर्यन्त ही रहता है। किन्तु मिथ्यात्वमोह का सेवन करने से आत्मा अपरिमित काल तक पागल बना रहता है और वह अनेक कुयोनियो मे जन्म मरण परम्परा को उत्पन्न करता है। इसलिए मिथ्यादर्शन मोह सम्पूर्ण मोहों से अति निकृष्ट है। इसका त्याग करने से ही जीव सुखी होता है। अतः हे क्षपक ! तुम इस अपरिमित असह्य घोर दुःख के कारण मिथ्यात्व का परित्याग करो।

शङ्का—क्षपक ने तो इस मिथ्यात्व का पहले से ही त्याग किया है। इस समय तो संयम की रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो रहा है। अतः संयम की दृढ़ता का ही इस समय उपदेश देना चाहिए। मिथ्यात्व के त्याग करने का उसको उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान—जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविनो मतो।

ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥ ७२८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के संस्कार से संस्कारित रहा है मिथ्यात्व के साथ जीव का अत्यन्त परिचय रहा है। अतः सम्यग्दर्शन मे यह रमता नहीं है। किंचिन्मात्र विपरीत निमित्त का संयोग मिलते ही इसका अन्तःकरण मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। इसलिए आचार्य क्षपक को सम्यक्त्व में आसक्त रखने के लिए बारम्बार मिथ्यात्व के दुर्गुण बताकर उससे विमुख रखने के लिए उपदेश देते हैं। जिसका चिरकाल से जीव को अभ्यास हो रहा है, उसका त्याग बड़ी ही कठिनाई से होता है। जैसे सर्प अपने चिर परिचित बिल मे निवारण करने पर भी प्रवेश करता है, उसे नहीं छोडता है, वैसे ही इस जीव को मिथ्यात्व से अनन्त काल का परिचय हो रहा है; इसलिए आचार्य बार बार मिथ्यात्व का परित्याग करने और सम्यक्त्व में दृढ़ रहने का उपदेश देते हैं। जैसे-प्रतीकार रहित विष से बुझे हुए बाण मे बींधा गया मनुष्य बीहड़ जङ्गल में पड़ा हुआ भयानक वेदना को सहकर मृत्यु को प्राप्त होता है, वैसे ही मिथ्यात्व शल्य से पीड़ित हुआ यह जीव भव भव मे नरकादि योनि के असह्य दुःखों को अनन्त काल तक सहता है।

हे क्षपक ! संघश्री नाम के प्रधान मन्त्री के चक्षु महान् मिथ्यात्व के प्रभाव से नष्ट हुए। वह उसी भव मे दुःख से मरकर दीर्घ

संसारो हुआ।

इस मिथ्यात्व के दोष से आत्मा के सुन्दर और सुखद ज्ञानादि गुण निकम्मे हो जाते हैं, जैसे कडुवी तुम्बी में रखे हुए दुग्धादि मिष्ट पदार्थ भी कडुवे हो जाते हैं। कहा है :—

कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं ।
होदि णिहिदं तु णिव्वलियम्मि य मधुरं सुगंधं च ॥ ७३३ ॥
तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाण चरणविरियाणि ।
णासंति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ॥ ७३४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—गूदे सहित कडुवी तुम्बी में भरा हुआ दूध जैसे कडुवा हो जाता है और शुद्ध तुम्बी में रखा हुआ दुग्ध मधुर और सुगंधित रहता है, वैसे ही मिथ्यात्व से कटुता (विपरीतता) को प्राप्त हुए जीव के ज्ञान चारित्र तप और वीर्य नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् ज्ञान चारित्रादि मोक्ष के कारण नहीं होते हैं। तथा जब यह जीव मिथ्यात्व का वमन कर देता है, तब वे ही ज्ञानादि गुण स्वर्गादि के सुख एवं मोक्ष के कारण होते हैं।

इसलिए हे क्षपक! मिथ्यात्व की आत्मा में छाया तक मत पड़ने दो और सम्यक्त्व के आराधन में सदा सावधान रहो।

हे साधु श्रेष्ठ! तुमने अनेक परीषह उपसर्गादि सहकर इतने काल तक जो ज्ञान चारित्र तप आदि की साधना की है, उसकी सफलता इस सम्यग्दर्शन से ही हो सकती है, इसके बिना उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। ये सम्यक्त्व बिना केवल आत्मा के भारभूत हैं। आत्मानुशासन में कहा है :—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥

अर्थ—क्रोधादि का उपशम ज्ञान चारित्र और तप का आचरण ये सब सम्यक्त्व के बिना आत्मा को पाषाण के समान भारभूत हैं। जब आत्मा में सम्यक्त्व गुण उत्पन्न हो जाता है तब वे ही महामणि के समान पूज्य (प्रशस्त) हो जाते हैं।

णागरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं।
तह जाण सुसम्मत्तं णाण चरण वीरिय तवाणं ॥ ७३६ ॥

अर्थ—जैसे नगर का दर्वाजा नगर में प्रवेश करने का उपाय है। वैसे ही सम्यग्दर्शन; ज्ञान चारित्र तप और वीर्यादि गुणों के प्रवेश करने का उपाय है। क्योंकि सम्यक्त्व के बिना सातिशय अवधिज्ञान तथा उत्कृष्ट निर्जरा का कारण यथाख्यात चारित्र सातिशय तपश्चरण और विशेष वीर्य का प्रादुर्भाव नहीं होता है। जैसे—चक्षु मुख की शोभा बढाने वाली होती है। वैसे ज्ञानादि की शोभा सम्यक्त्व से होती है। विना सम्यक्त्व के ज्ञानादि गुण मिथ्यापन से दूषित रहते हैं। सम्यक्त्व के उत्पन्न होते ही वे सब उक्त दूषण से रहित होकर पूज्यता को प्राप्त होते हैं। जैसे वृक्ष की स्थिति का कारण मूल (जड़) होती है। वैसे ज्ञानादि गुणों की स्थिति का कारण सम्यक्त्व होता है। अर्थात विना सम्यक्त्व के सम्यक ज्ञानादि गुण आत्मा से निकल जाते हैं और आत्मा मे मिथ्या ज्ञानादि का निवास हो जाता है। अतएव हे क्षपक तू नित्य सम्यक्त्व की आराधना मे रत रह, क्योंकि—

दंसण भट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झन्ति॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वही भ्रष्ट समझा गया है। क्योंकि दर्शन भ्रष्ट जीव का निर्वाण नहीं होता है। चारित्र भ्रष्ट मोक्ष सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु दर्शन भ्रष्ट मुक्ति से वंचित रहते हैं।

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं॥
जादो दु सेणिगो आगमेसि अरुहो अविरदो वि॥ ७४० ॥

श्रेणिको व्रतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः।
आर्हन्त्यपदमासाद्य सिद्धिसौधं गमिष्यति ॥ ७६९ ॥

अर्थ—शुद्ध सम्यक्त्व के प्रभाव से व्रत रहित जीव भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है। संयम हीन श्रेणिक महाराज सम्यग्दर्शन की निर्मलता के कारण भविष्य काल में त्रिलोक चूडामणि अर्हन्त पद पाकर सिद्धि सौध (महल) में गमन करेंगे।

कल्याण परंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।
सम्मद्दंसणरयणं णग्वदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४१ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन को निर्मल करने से यह जीव देवेन्द्र पद, चक्रवर्त्तीय पद अहमिन्द्र पद और तीर्थंकर पद ऐसी उत्तरोत्तर कल्याण परम्परा को प्राप्त करता है। यह सम्यग्दर्शन इतना अमोघ अमूल्य रत्न है कि सुर और असुर सहित यह लोक भी इसके मोल की तुलना नहीं कर सकता है।

हे क्षपक ! तुम समाधि मरण (रत्नत्रय पूर्वक मरण) के सम्पादन करने में प्रयत्नशील हो। इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना में संलग्न रहो। इस आराधना की सिद्धि के लिए आराधना के नायक अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी तथा उनके चैत्य और प्रवचन में परम भक्ति धारण करो। यह भक्ति ही आराधना का मूल कारण है शास्त्र मे कहा है :—

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ।
तह अरहादिग भत्ती णाणचरणदंसण तवाणं ॥ ७५१ ॥

अर्थ—विधि पूर्वक बोये हुए धान्य का उत्पादक जैसे वृष्टि या जल सिंचन है वैसे ही दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना का निष्पादक कारण अर्हतादि की भक्ति है।

वीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ।
आराधणमिच्छन्तो आराधनभत्तिमकरंतो ॥ ७५० ॥

अर्थ—आराधना व आराधक की भक्ति न करता हुआ जो मनुष्य दर्शन ज्ञान चारित्र तप की आराधना चाहता है वह बीज के बिना धान्य और मेघ के बिना वृष्टि की इच्छा करता है।

तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य के हृदय में अर्हतादि में भक्ति नहीं है, उस का हृदय ऊसर भूमि के समान है। उस में बोया हुआ आराधना रूप बीज दर्शन ज्ञान चारित्रादि रूप सस्य (धान्य) को कभी उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है।

जिस को चित्त भूमि में भक्ति का स्रोत बहता है, उसको अनेक विद्याएँ सिद्ध होती हैं।

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य।
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमं तस्स ॥ ७४८ ॥

अर्थ—भक्ति परायण पुरुष के विद्या सिद्धि होती है। उसकी विद्या फलवती होती है। और तो क्या उसकी रत्नत्रय आराधना भी सफल होती है। जो भक्ति हीन है उस के मोक्ष के बीज भूत रत्नत्रय को क्या सिद्धि हो सकती है ? अर्थात् भक्ति शून्य हृदय में रत्नत्रय की आराधना कभी नहीं हो सकती है।

तात्पर्य यह है कि रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले पुरुष को अर्हंतादि की भक्तिमें तन्मय रहना चाहिए। भक्ति के बिना सम्यग्दर्शनादि की आराधना आकाश पुष्प के समान असंभव है। इसलिए हे क्षपक ! तुम निरन्तर अर्हंतादि परमेष्ठी की भक्ति में तल्लीन रहो।

जो पुरुष अर्हंतादि की भक्ति में तत्पर रहता है उसकी प्रवृत्ति णमोकार (पंचपरमेष्ठी के नमस्कार) में अवश्य होती है। णमोकार से भक्ति का पोषण होता है। इसलिए:—

आराधणा पुरस्सर मणण्णहिदओ विसुद्ध लेस्साओ।
संसारस्स खयकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥ ७५३ ॥

अर्थ—मुनिसत्तम ! विषय कषायादि सब विकार भाव को हृदय से निकाल कर एकाग्रचित्त होओ। तथा कषाय की मंदता कर लेश्या की उज्ज्वल बनाकर संसार का क्षय करने वाले आराधना के अग्रेसर णमोकार मंत्र को मत छोड़ो। उसका निरन्तर चिन्तन करो।

मरण के अवसर में श्रवण गोचर हुआ णमोकार मंत्र सद्गति का कारण होता है। देखो,मरणोन्मुख हुए कुत्ते ने जीवन्धर स्वामी द्वारा कान में सुनाये गये णमोकार मन्त्र को सुनकर देव गति प्राप्त की। और अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त हो तत्काल आकर उसी जगह मृत कुत्ते के शव के समीप बैठे हुए श्री जीवन्धर स्वामी की पूजा की।

दृढ सूर्य नामक चोर मरण समय णमोकार मन्त्र का स्मरण कर महर्धिक देव हुआ; यथा :—

दढसुप्पो सूलहदो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे।
उवजुत्तो कालगदो देवो जाओ महड्ढीओ ॥ ७७३ ॥

अर्थ—सूली पर लटकाया गया दृढ़सूर्प नाम का चोर पंच नमस्कार मात्र श्रुत ज्ञान में उपयोग रखता हुआ उस पंच नमस्कार मंत्र के प्रभाव से इस शरीर का त्याग कर महर्द्धिक देव हुआ। इसलिए हे साधो! पंच परमेष्ठी का नमस्कार स्वर्गादि की दिव्य सुख सामग्री देता है और परम्परा मोक्ष सुख को देने वाला है। इसलिए हे भाई! इस अपूर्व समाधिमरण के समय इसे किसी प्रकार मत भूलो। अन्य विषयों के स्मरण करने का यह समय नहीं है; अतएव सावधान होकर अर्हतादि के नाम का स्मरण और उनके स्वरूप का चिन्तन करो।

निर्यापकाचार्य उक्त रीति से अनेक प्रकार उपदेश देकर उसको सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र और तपश्चरण में सावधान करते हैं

संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया।
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सो पाणगाहारो ॥ १४९२ ॥

अर्थ—संस्तर पर सोये हुए क्षपक का शरीर जब क्षीण हो जावे तब पहले वर्णन की गई जो तीन प्रकार के आहार करने की विधि उसके अनुसार पानक आहार का त्याग भी क्रम से करना चाहिए। अर्थात् पानक आहार द्रव्य के छह भेद पहले बताये गये हैं, क्षपक के बलाबल को देखकर आयुर्वेद के नियमों को ध्यान में रखते हुए क्रम से उनका त्याग करवाने में निर्यापकाचार्य को सावधान रहना योग्य है।

प्रश्न—वैयावृत्य करने वाले यति और निर्यापकाचार्य को क्षपक के शारीरिक पीड़ा उत्पन्न होने पर उसका प्रतिकार करने के लिए वैद्य की सम्मति लेकर औषधि की योजना करने का शास्त्रीय मत क्या है?

उत्तर—वैद्य के आदेशानुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक द्रव्यों से अवश्य करना चाहिए। इसके लिए भगवती आराधना में निम्नोक्त आज्ञा है।

तो तस्स तिगिंछा जाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए।
विज्जादेसेण वसे पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥ १४९७ ॥
णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडियारं ॥ १४९८ ॥

अर्थ—प्रतिचारक यति व निर्यापकाचार्य (जो रोग की चिकित्सा, रोग का निदान व उसकी निवृत्ति का उपाय जानता है) को स्वयं अथवा वैद्य के उपदेश के अनुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक औषध द्रव्यों के द्वारा अवश्य करना चाहिए। क्षपक के वात पित्त व

कफ का प्रतीकार साधु के योग्य निर्दोष द्रव्य से करना निर्यापकाचार्य व परिचारक मुनियों का परम कर्त्तव्य है।

प्रश्न—क्षपक के रोग का प्रतीकार करने के लिए निर्यापकाचार्य व परिचारक किन २ उपायों का आश्रय ले सकते हैं ?

वत्थीहिं अवदवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं ।
अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥ १४९९ ॥

अर्थ—वस्ति कर्म (मल मूत्राशय में बत्ती करना–इनीमा करना) गर्म करने के लिए तपाना, औषधि का लेप करना, प्रासुक शीत जलादि का सेवन कराना, अंग दबाना, शरीर मर्दन करना इत्यादि वैयावृत्त्य प्रासुक द्रव्यों द्वारा निर्यापक मुनि व धर्म परायण श्रावक क्षपक की वेदना निवारण करने के लिए करते हैं।

भावार्थ—जितने भी उचित उपाय रोग जन्य पीड़ा शमन करने के आयुर्वेद में बताये गये हैं, उन सब का प्रयोग कर क्षपक की शारीरिक वेदना का शमन करने मे परिचारक प्रमाद नहीं करते हैं। किन्तु वे सब प्रासुक व मुनि के सेवनीय पदार्थों का ही सेवन कराते हैं अप्रासुक द्रव्यों का परित्याग और प्रासुक उचित द्रव्यों का ही उपयोग करते हैं।

प्रश्न—यथाशक्ति भरसक उपाय करने पर भी तीव्र वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य उपचार कृतकार्य नहीं होते हैं। अर्थात् अनेक उपचार करने पर भी किसी के रोग की शान्ति नहीं होती है। और किसी के बाह्य उपायों से वेदना का प्रतीकार हो जाता है। इससे कर्मोदय की विचित्रता प्रकट सिद्ध होती है। कहा भी है :—

कस्यचित् क्रियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणे ।
पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ॥ १५६० ॥

उस समय में अथवा–भूख प्यास आदि परिषहों से पीड़ित होकर क्षपक व्याकुल चित्त या चेष्टाहीन (मूर्छित) हो जाता है। कभी कभी तीव्र वेदना से अति पीड़ित परीषहों से घबराकर आपे से बाहर हो जाता है। ऊटपटांग बकने लगता है। कभी रात्रि भोजन-पानादि संयम विरुद्ध क्रिया करने के लिए भी उतारू हो जाता है उस समय निर्यापकाचार्य किस उपाय से उसको शान्त करते हैं ?

उत्तर—उस समय आचार्य बाह्य उपायों की ओर से उपेक्षा दृष्टि न रखते हुए भी उनसे अपनी मनोवृत्ति को हटाकर अन्तरंग

औषध उपदेशामृत का पान कराते हैं। उसके स्वरूप का भान कराते हैं। उसके निज की महत्ता का स्मरण दिला कर उसके हृदय में आत्म-सम्मान का भाव जाग्रत करते हैं। तथा उसको अनेक प्रकार से धैर्य बंधाते हैं।

कोसि तुमं किं णामो कत्थ वससि को व संपही कालो।
किं कुणसि तुमं कहवा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥ १५०५ ॥

हे क्षपकोत्तम! हे आत्म-कल्याण के इच्छुक! स्मरण करो। तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है? तुम कहां वसते हो? इस समय कौन सा काल है? अर्थात् अभी रात है या दिन? तुम क्या काम कर रहे हो? तुम क्या चाहते हो? मेरा नाम क्या है? इस प्रकार निर्यापकाचार्य क्षपक से बार बार पूछते हैं।

भावार्थ—दयालु आचार्य क्षपक की सावधानता या असावधानता की परीक्षा करने के लिए उससे अति प्रेम से भरे अनेक प्रश्न करते हैं। कोई क्षपक आचार्य महाराज के इस प्रकार पूछने पर सचेत हो जाता है और अपनी अवस्था पर विचार करता है कि मैंने संन्यास मरण प्रारम्भ किया है, मेरा इस समय क्या कर्त्तव्य है। ये परम दयालु आचार्य महाराज मेरे हित के लिए कितना कष्ट सहन कर रहे हैं। धन्य है इन दयालु महापुरुषों को जो इतना काय क्लेश उठाकर मेरे कल्याण के अर्थ उद्योग कर रहे हैं। ऐसा चिन्तन कर शुभ ध्यान में लीन होता है। कोई क्षपक आचार्य द्वारा अनेक बार सचेत करने पर चैतन्य को प्राप्त होकर तीव्र वेदना व क्षुधादि की दुस्सह परिषह उपसर्ग के सहन न कर सकने के कारण तीव्र अशुभ कर्म के वश पुनः अचेत (बेहोश) हो जाता है, तथापि परोपकार में तत्पर आचार्य महाराज उदासीनता धारण नहीं करते हैं। उसको पुनः कोमल शब्दों से प्रेम पूर्ण वाक्यों से पुनः सावधान करने का पूर्ण उचित उपाय करते हैं। उसे आराधना का स्मरण दिलाते हैं। तथा चार प्रकार के आहार की याद दिलाते हैं।

कोई सचेत हुआ भी, होश में आया हुआ भी, कर्म के उदय से परिषहों के क्लेश से संतप्त हुआ अयोग्य वचन बोलने लगता है। प्रतिज्ञा भंग करने पर उतारू हो जाता है, रुदन करने लगता है। तथापि आचार्य उसका तिरस्कार नहीं करते हैं। उसके प्रति कटु वचन का प्रयोग नहीं करते हैं। उसके प्रति आचार्य के हृदय में पूर्ण सहानुभूति का वेग हो आता है और उसके कल्याण के लिए अधिक तत्परता दिखाते हैं।

विचक्षण बुद्धि, शक्ति शाली, धर्म धुरन्धर आचार्य महाराज क्षपक को प्रेम पूर्ण कर्ण-प्रिय शिष्ट और मिष्ट आनंद बढ़ाने वाले वचन उच्चारण करते हैं। जिनका श्रवण करते ही क्षपक का सर्व दुःख निवारण हो जाता है। आचार्य धीरे २ समझाकर, वचन बोलते हैं। शीघ्रता नहीं करते हैं।

हे चारित्र धारक मुने । सचेत होवो । स्मरण करो, तुमने चार प्रकार के संघ के समक्ष महा प्रतिज्ञा धारण की है कि मैं मरण पर्यन्त आराधना का सेवन करूंगा, रत्नत्रय का निर्दोष पालन करूंगा, इस प्रतिज्ञा का स्मरण करो । अब क्या तुम भूल गये हो ?

हे धीर वीर ! 'मैं अवश्य शत्रु का पराजय करूंगा' ऐसी जनता के समक्ष जिसने दृढ़ प्रतिज्ञा की है, ऐसा कौन स्वाभिमानी वीर पुरुष शत्रु के निकट आने पर डर कर पलायमान होगा । कुलीन, शूर-वीर, पुरुष-सिंह, शत्रु को पीठ दिखाने की अपेक्षा समरांगण में प्राणों का त्याग करना ही सर्व श्रेष्ठ समझता है । वैसे ही हे धीर मुने ! तुमने सम्पूर्ण संघ के समक्ष प्रतिज्ञा की है कि कठिन परीषह व घोर उपसर्ग के आने पर भी परित्यक्त आहारादि पदार्थों को अङ्गीकार नहीं करूंगा । मरणान्त विपत्ति आने पर भी प्रतिज्ञात व्रत नियमों का यथावत् पालन करूंगा । हे मुने ! क्या ऐसी प्रतिज्ञा लेकर स्वाभिमानी साधु कष्टों से घबराकर कायरता धारण करेगा । अपनी प्रतिज्ञा का भंग करेगा ? हे संयमिन ! वह कदापि अपने स्वाभिमान व वचन का भंग न करेगा । वह मरण को तुच्छ समझ अपने यश का विनाश न होने देगा । लज्जास्पद जीवन को अधम मनुष्य ही अच्छा समझता है । गौरव शाली मानव-पुंगव लज्जा युक्त जीवन से मृत्यु को ही उत्तम मानकर प्राणपण से अपना प्रतिज्ञा का पालन करता है ।

हे मुने ! तुमतो महान् शूर वीर हो । क्या कायरता धारण करना शूर वीर पुरुषों को शोभा देता है ? शूर वीर पुरुषों के तो युद्धस्थल में शत्रु की ललकार सुनकर पाव उठते हैं । वे प्रसन्न चित्त होकर अपनी वीरता दिखाने के लिए बड़ी उत्सुकता से सम्मुख गमन करते हैं । तथा शरीर में जीवन ज्योति की किरण के प्रकाश मान न होते हुए कदापि रणांगण से पश्चात्पद नहीं होते हैं । हे शूर वीर मुने ! तुम तो महान् वीर और धीर हो । तुमको इन आगत परीषह व उपसर्गों का वीरता के साथ सामना करना चाहिए । तुम अनन्त शक्ति के धारक त्रैलोक्य साम्राज्य के अधिपति चैतन्य हो । ये अब तुम्हारे सामने कैसे ठहर सकते हैं। ये तो तुम्हें अपने कर्त्तव्य से च्युत करने के लिए तुमको त्रिजगत्पति बनने के कृत्य मे बाधा डालने के लिए शत्रुता कार्य कर रहे हैं । इसलिए यदि इस समय तुमने कायरपना धारण कर लिया तो तुम इन लुटेरों से लूट लिये जावोगे । ये तुम्हारे रत्नत्रय के भंडार को छीन लेंगे । और अपरिमित काल के लिए तुम्हें शक्ति हीन दरिद्री बना देंगे अतः यह तुम्हारे सावधान रहने का समय है ।

हे मुने ! अपने कुल के, अपने गण के, तथा संघ के यश को उज्ज्वल बनाने वाले का जीवन मनुष्य समाज में ही नहीं, देवों से भी पूज्य होता है । इसलिए तुम कुल, गण और संघ की लज्जा का ख्याल रखो । उस को मलिन कर जीवन धारण करना क्या उचित प्रतीत होता है ? तुम्हारे सरीखे महात्मा क्या ऐसे निन्दनीय कार्य कर सकते हैं ? अतएव हे मुनिश्रेष्ठ अब सावधान होकर अपने प्रतिज्ञात कर्त्तव्य का स्मरण करो ।

स. प्र.   पृ. कि. ५

कितने ही महापुरुष समस्त परिग्रहों का परित्याग कर अपने आत्मा के स्वरूप में आपा धारण कर उपसर्गादि की परवाह न कर आपत्तियों को निमन्त्रण देने के लिए, अनेक विपत्तियों का आह्वान करने के लिए, सिंह-व्याघ्र-सर्प-दुष्ट हिंस्र तिर्यंच, मनुष्य और देवकृत तथा अचेतन कृत उपसर्गों से व्याप्त,भयानक कानन में, पर्वत की गुफाओं में व शिखरों पर और श्मशानों में जाकर निवास करते हैं। वहां पर ध्यान धरते हैं। वहां पर एकाकी रहकर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की आराधना में कटिबद्ध रहते हैं। वे महात्मा अतिशीघ्र रत्नत्रय की पूर्णता कर परम सद्गति को प्राप्त करते हैं।

हे मुने! तुम्हारे समीप तो अनेक परिचारक मुनिराज वैयावृत्त्य करने में सदा तत्पर रहते हैं। तुम को क्या इस समय धैर्य धारण करना उचित नहीं है? अन्य मुनि अनेक घोर उपसर्ग सहकर जो वस्तु प्राप्त करते हैं वह वस्तु तुम्हें थोड़े से धैर्य धारण करने से,आत्मा में सावधानी रखने से प्राप्त हो सकती है। इसलिए इस समय गाफिल मत रहो। पूर्ण सावधान होकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने में दत्तचित्त हो जाओ।

हे क्षपकोत्तम! जिन्होंने अलौकिक धैर्य धारण किया है, जिनके चारित्र में लेशमात्र भी दूषण का सम्पर्क नहीं हुआ है, तथा जिन्होंने श्रुतज्ञान का अवलम्बन लिया है ऐसे महामुनीश्वर जंगली हिंसक पशुओं की तीक्ष्ण दाढ़ में पहुचकर भी उत्तमार्थ जो रत्नत्रय है उसकी सिद्धि करलेते हैं। वे प्रातः स्मरणीय महात्मा निम्नोक्त प्रकार हैं—

उपसर्गों से विचलित न होने वाले महामुनियों के कुछ उदाहरण

भल्लकिए तिरत्तं खज्जंतो घोरवेदणट्टो वि।
आराधणं पवण्णो ज्भाणेणावंतिसुकुमालो ॥ १५३६ ॥ [भग. आ.]

भावार्थ—जिन अपूर्व पुण्यशाली पुरुष पुंगव ने महलों में भी मखमली गलीचों को छोड़कर भूमिपर पांव नहीं रखा था, दिव्य रत्नों के दीपकों की ज्योति के सिवा किसी दीपक के प्रकाश को नेत्रों से नहीं देखा था, सदा शीतल छाया में ही अपना जीवन बिताया था, कभी सूर्य तक का अवलोकन नहीं किया था, रात भर कमल के मध्य में वासित उत्तम चांवलों के अतिरिक्त कठोर पदार्थ का भोजन नहीं किया था, सरसों के दाने जिनके कमल सम कोमल शरीर में शूल समान गड़ते थे, वे अवन्ति सुकुमाल मुनिराज देवोपम सब सुखों पर लात मारकर राज ऐश्वर्य का परित्याग कर वन में कायोत्सर्ग कर आत्म-ध्यान में आरूढ़ थे। उनके शरीर को तीन रात लगातार नोच २ कर शृगाली भक्षण करती रही। उनके अंग प्रत्यंग में भयानक वेदना हो रही थी तथापि वे धीर वीर अवन्ति सुकुमाल महामुनि रत्नत्रय की

आराधना में संलग्न रहे। शुभ ध्यान से रंचमात्र विचलित नहीं हुए। अन्ततक अपने शुभ ध्यान में मग्न रहे और उन्होने उत्तमार्थ की सिद्धि की।

मोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो सिद्धत्थदइय भयवंतो ।
वग्घीए वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४० ॥ [भग. आ]

अर्थ—मुद्गलनाम के पर्वतपर ध्यानारूढ सिद्धार्थ नृपतिके पुत्र सुकोशल महामुनिराज को उनके पूर्वभव की माता के जीव व्याघ्री ने भक्षण किया, तो भी उन महामुनीश्वर ने अपने शुभ ध्यान का त्याग न कर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की सिद्धि की । परम धैर्य के धारक मुनिपुंगव ने तिर्यंचकृत घोर उपसर्ग पर विवेकज्ञान बल से विजय प्राप्तकर अपने स्वार्थ की (आत्मकार्य रत्नत्रय की) प्राप्ति करली ।

भूमीए समं कीलाकोट्टिददेहो वि अल्लचम्मं व ।
भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भगवान गजकुमार मुनिराज को भूमिपर गिराकर उनके शरीर मे कीलें ठोककर गीले चर्म के समान भूमिपर बिछादिया था, भूमि और शरीर को एक कर दिया था। ऐसे भयंकर दुष्ट मनुष्यो से किये गये रोमांचकारी उपसर्ग को शान्ति से सहकर उन धीर वीर आत्म-ध्यानी मुनिराज ने उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की प्राप्ति की थी। वे शुक्ल ध्यानाग्नि से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मुक्ति साम्राज्य के अधिकारी बने ।

हे मुने ! जो गृहस्थावस्था मे चक्रवर्ती थे, वे सनत्कुमार नामा महामुनि सौ वर्ष पर्यन्त खाज, ज्वर, खांसी, श्वासरोग, भस्मक-व्याधि, नेत्ररोग, उदरपीड़ा आदि उग्र रोग जनित तीव्र वेदना का सहन करते रहे। रंचमात्र सक्लेश परिणाम न कर ध्यान मे मग्न रहे। धैर्यावलम्बन लेकर अपने उत्तमार्थ की सिद्धि मे लगे रहे ।

हे साधो ! गङ्गा नदी के मध्य नाव में डूबते हुए एणिक पुत्र मुनिराज ने शरीर के मोह का परित्याग कर आर्त्तध्यान के अवसर में भी शुभ ध्यान धारण कर चार आराधनाओं को प्राप्त करते हुए मरण किया ।

घोर अवमौदर्य तपश्चरण करते हुए भद्रबाहु मुनिराज तीव्र क्षुधा की पीड़ा से पीड़ित होने पर भी लेशमात्र संक्लेश परिणाम के वशीभूत नहीं हुए। शान्तभाव से शुभ ध्यान में मग्न रहकर रत्नत्रय की प्राप्ति की ।

कोसंबीललियघड़ा वूढा णइपूरएण जलमज्झे ।
आराधणं पवण्णा पावोवगदा अमूढमदी ॥ १५४५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—कौशाम्बी नगरी में ललितघट नाम से प्रसिद्ध इन्द्रदत्तादि बत्तीस महासम्पत्तिशाली श्रावक यमुना नदी के प्रवाह में डूब कर भी संक्लेश परिणाम रहित प्रायोपगमन संन्यास धारण कर उत्तमार्थ को प्राप्त हुए।

चम्पानगरी के बाहर गङ्गा के तट पर धर्म घोष नामा महामुनि एक मास के उपवास धारण कर भयानक तृषा की वेदना से पीड़ित होने पर भी संक्लेश भाव रहित होकर उत्तमार्थ (आराधना सहित) मरण को प्राप्त हुए।

हे क्षपक ! श्री दत्त नामक मुनिराज के पूर्वभव के वैरी किसी देव ने विक्रिया द्वारा शीतल जल की वृष्टि व शीतल वायु उत्पन्न करके उन महामुनि को घोर क्लेश दिया। किन्तु वे महामुनि संक्लेश भाव रहित हुए उत्तमार्थ की साधना में ही रत रहे।

श्री वृषभसेन महामुनि ने अत्युष्ण वायु तथा अत्यन्त उष्ण शिलातल और सूर्य के प्रखर किरण सताप से उत्पन्न हुई उष्ण परीषह का सहन कर संक्लेश परिणाम न करते हुए उत्तमार्थ की साधना की।

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—रोहेडग नगर में क्रौंच नाम के राजा ने अग्निराजा के पुत्र कार्तिकेय मुनिराज को शक्ति नाम के शस्त्र विशेष से मारा था। उस समय मुनिराज ने लेश मात्र भी परिणामों में विकार भाव उत्पन्न नहीं किया। शान्त परिणाम से उस उपसर्ग को सहकर उत्तमार्थ का साधन किया।

हे मुने ! काकंदी नाम की नगरी में चंडवेग नाम के एक दुष्ट राजपुत्र ने अभयघोष मुनिराज के समस्त अंगों को काट डाला। तथापि उन महामुनि ने रंचमात्र रोष नहीं किया। किन्तु साम्य-भावना से उस रोमांचकारी दुःख को सहन कर रत्नत्रय की आराधना में तन्मय रहे।

विद्युच्चर नामा चोर डांस और मच्छरों से भक्षण किया गया किन्तु वह उनकी तीव्र वेदना को संक्लेश भाव रहित साम्य भावना से सहकर उत्तमार्थ (आत्म कल्याण मार्ग) को प्राप्त हुआ।

सं. प्र.

हस्तिनापुर के स्वामी गुरुदत्त नाम के मुनिराज द्रोणमति पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। किसी दुष्ट नरपिशाच ने संत्रलिस्थाली के समान उनके मस्तक पर अग्नि जलाई थी। मिट्टी के पात्र में हरे नाज की बालें भर कर उस पात्र के मुख पर आक के पत्ते भर देते हैं। पश्चात् उस पात्र को ओंधा भूमि पर रख कर उसके चारों तरफ अग्नि जला कर बालें भुनते हैं। उसे सत्रलिस्थाली कहते हैं। इस प्रकार उन मुनिराज के मस्तक पर अग्नि जला कर घोर उपसर्ग किया गया था। किन्तु वे मुनिराज तीव्र वेदना से सक्लेश भाव को प्राप्त न होकर साम्य भावना भाते हुए आराधना के फल को प्राप्त हुए।

किसी पूर्वभव के वैरी ने चिलातपुत्र नामक मुनिराज पर शस्त्र प्रहार किया। इसने उनके शरीर पर अनेक घाव हो गये। पश्चात् उनके शरीर को स्थूल मस्तक वाली कालो चींटियों ने खाकर चलनी के समान छिद्रमय कर दिया था। किन्तु उन धीर वीर महामुनिराज ने सुनने मात्र से रोमांच उत्पन्न करने वाली घोर वेदना को शान्ति से सहा और आराधना का निर्विघ्न साधन किया। अर्थात् रत्नत्रय की आराधना से रंचमात्र भी नहीं टले।

दण्डनाम के मुनिराज पर यमुनावक्र नाम के किसी पापी पुरुष ने बाणों की वृष्टि करके उनका सम्पूर्ण शरीर बाणों से बींध दिया; तथापि उन मुनिराज ने रत्नत्रय की आराधना की, अपने समाधि मरण को नहीं बिगाड़ा।

अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे।
आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥ १५५५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—कुंभकारकट नाम के नगर में अभिनंदनादि पांच सौ मुनिराजों को घानी (कोल्हू) में डालकर पील दिया। लेकिन वे मुनिराज रत्नत्रय आराधना से विचलित न हुए।

गोठान (गायों के गृह) में चाणक्य मुनि ने प्रायोपगमन संन्यास धारण कर रखा था। सुबंधु नामा मंत्री उनका शत्रु था। वहां कंडों की राशि थी। उसमें आग लगा कर उसमें चाणिक्य मुनि को डालकर जलाया। किन्तु वे मुनिराज अपने संन्यास मरण से चलायमान नहीं हुए। साम्यभाव धारण कर रत्नत्रय को निर्मल बनाये रखा।

इसी प्रकार कुणाल नामक नगर के बहिर्भाग में अनेक शिष्य वर्ग के साथ वृषभसेन नामा मुनिराज ठहरे हुए थे। रिष्ट नामक राजमंत्री ने आग लगाकर उनको दग्ध किया, किन्तु उन सब मुनिराजों ने उस उपसर्ग का सहन किया। रत्नत्रय आराधना में बाधा न आने दो अर्थात् रत्नत्रय का त्याग नहीं किया।

जदिदा एवं एदे अणगारा तिव्ववेदणट्टा वि ।
एयागीऽपडियम्मा पडिवण्णा उत्तमं अट्ठं ॥ १५५८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—आगम प्रसिद्ध जगद्विख्यात पूर्वोक्त मुनीश्वरों ने अति घोर वेदनाओं से पीड़ित होकर भी उनका प्रतीकार नहीं किया। उनका कोई सहायक नहीं था। उनका वैयावृत्त्य करने वाला एक भी मुनि पास में नहीं था। कोई वैद्य उनकी चिकित्सा करने वाला नहीं था। उनपर दुष्ट वैरियों ने रोमांचकारी उपसर्ग किये। जिनको सुनकर आत्मा कांप उठता है। उन्हें अग्नि से दग्ध दिया, शस्त्रों से छिन्न भिन्न किया, कोल्हू में पीला, कई पर्वतों से गिराये गये। दुष्ट तिर्यंचों ने उनके शरीर का शनैः शनैः नोच नोच कर भक्षण किया-प्राण रहित किया तथापि उन्होंने साम्य भाव का त्याग नहीं किया। आराधना के पालने में वे शिथिल नहीं हुए। अपने आत्म-कल्याण के मार्ग से तनिक भी नहीं हटे।

हे क्षपकोत्तम! तुम्हारे तो अनेक सहायक हैं। वैयावृत्त्य परायण परम दयालु धैर्य के धारक तुम्हारे कल्याण के अभिलाषी हितोपदेश के देने मे उद्यमी समस्त आचार्यादि वैयावृत्त्य करने में औषधि आदि का उपचार में तन मन से लगे हुए हैं। समस्त संघ सम्पूर्ण उचित उपायों द्वारा तुम्हारे सुख व शान्ति की प्राप्ति में लगा हुआ है। तुम्हारे ऊपर तो कोई तीव्र उपसर्गादि भी नहीं आया है। ऐसे सर्वानुकूल सामग्री के रहते हुए सुवर्णसम अवसर में तुम आराधना ग्रहण करने मे क्यों शिथिल हो रहे हो? भो मुने! अब तुम को सम्भलना चाहिए। इसी अवसर के लिए तुमने कठिन मुनिव्रत धारण किया था। अनेक प्रकार के क्लेशों का सहा था। अब समय पर तुम क्यों कायरता धारण कर रहे हो? यह कायरता का समय नहीं है। धैर्य धारण करने और थोड़ा सा साहस रखने से तुम अपने इष्ट कल्याण को प्राप्त कर सकते हो। अतः अब सावधान होकर इस नश्वर शरीर के मोह का त्याग कर अपने आत्मा की सुध लो। आराधना देवी की भक्ति करो। इसमें ही तुम्हारा कल्याण है।

जिणवयणममिदभूदं महुरं कण्णाहुदिं सुणंतेण ।
सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं ॥ १५६० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—हे मुने! अमृत स्वरूप तथा मधुर कर्ण को तृप्त करने वाले जिनेन्द्र देव के वचनों का श्रवण समस्त संघ के मध्य तुम्हें प्रतिदिन मिलता रहा है। इसलिए इस संघ में तुम को उत्तमार्थ (रत्नत्रय का आराधन) की सिद्धि कोई कठिन नहीं है।

हे क्षपक! यहां तुमको क्या दुःख है जो तुम इतने शिथिल हो रहे हो?

नरकादि गतियों में भोगे हुए दुखों का दिग्दर्शन कराते हुऐ क्षपक का सम्बोधन

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण
जं पत्तं इह दुक्खं तं अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥ १५६१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—हे साधो ! ससार मे भ्रमण करते हुए तुमने नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में जो दुःख भोगे हैं उनको चित्त लगाकर सुनो। ऐसा कोई दुःख बाकी नहीं रहा है, जिसको तुमने पहले संसार मे नहीं सहा है। निरन्तर जलने वाली वज्राग्नि में अनन्त वार दग्ध होकर तुम भस्म होते रहे। अनन्त वार जल में डूब डूब कर मरे। अनन्त बार पर्वत से गिर गिर कर तुम्हारे शरीर का चूर्ण हुआ। अनन्त बार कूपादि में गिर गिर कर मृत्यु को प्राप्त हुए। तथा तालाब में, समुद्र मे और अनन्त वार नदी के प्रवाह मे वह वहकर मरे। अनन्त बार शस्त्रो से विदारण किये गये। अनन्त वार कोल्हू में पीले गये। अनन्त बार दुष्ट तिर्यंच पशुओं से खाये गये। अनन्त वार पक्षियों से नोच नोच कर भक्षण किये गये। अनन्त वार चक्की मे पीसे गये। सेके गये। भुने गये। राधे गये। कड़ाही मे तले गये। इसी प्रकार तुम अनन्त वार भूख की तीव्र वेदना सहकर भूख के मारे बिलबिला कर मरे हो। अनन्त बार प्यास के मारे तड़फ २ कर मरे हो। अनन्त बार शीत की वेदना से सुकड़ २ कर तुमने प्राण गंवाये हैं। अनन्त बार उष्ण (गर्मी) की वेदना से छटपटाकर बुरी तरह मृत्यु पाई है। अनन्त बार वर्षा की बाधा से सड़ सड़ कर मरे हो। अनन्त बार पवन की पीड़ा से प्राणों का त्याग कर चुके हो। अनन्त बार विष भक्षण से शरीर और प्राणों का नाश हुआ है। अनन्त बार निरुपाय व्याधि की कठोर वेदना से मरे हो। अनन्त बार भय से व्याकुल होकर मरे हो। अनन्त बार शोक से झुर झुर कर मरे हो। अनन्त बार सिंह व्याघ्रादि तथा सर्पादि द्वारा मारे गये हो तथा दुष्ट जीवों से विदारण किये गये हो। अनन्त बार चोरों के द्वारा किये गये उपद्रव से, अनन्त बार भीलादि जंगली जाति के मनुष्यों से तथा कोतवालादि एव धर्म हीन दुष्ट राजाओं से, म्लेच्छ मनुष्यों से तुम अनन्त बार मारे गये हो। यह शरीर आयु पूर्ण होने पर किसी न किसी निमित्त से अवश्य नष्ट होता रहा है और अब भी अवश्य नष्ट होगा। अब इस अवसर पर मरण के भय से या वेदना के भय से संक्लेश भाव धारण कर रत्नत्रय की विराधना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। अति भयानक दुःखों को सहते सहते तो अनन्त काल बिताया और अब संसार पार करने का अवसर मिला है, उसमें किंचिन्मात्र वेदना के प्राप्त होने पर संसार सागर से उद्धार करने वाले परम धर्म का आश्रय छोड़ देना कहा की बुद्धिमानी है ?

जदि कोइ मेरुमेत्तं लोहुण्डं पक्खविज्ज णिरयम्मि ।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलेज्ज सो तत्थ ॥ १५६३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—हे क्षपक ! कोई देव या दानव उष्ण नरक में मेरु समान लोहे का पिण्ड ऊपर से गिरादे तो वह नरक भूमि पर गिरने के पूर्व ही नरक विलों की उष्णता से क्षण मात्र में पिघल कर बह जाता है।

तह चेव य तद्दहो पज्जलिदो सीयणिरय पक्खित्तो ।
सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सडिज्ज लोहुण्डं ॥ १५६४ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि वही नरक की उष्णता से पिघला हुआ लोहे का पिंड कोई देव या दानव इकट्ठा करके शीत नरक में फेंक दे तो वह शीत नरक के बिलों की भूमि को प्राप्त करने के पहले ही मार्ग म बिलों के शीत से टुकड़े टुकड़े होकर बिखर जाता है।

हे क्षपकोत्तम ! वहां नरक भूमि में लोहे से निर्मित मण्डप में अतितप्त हुई अग्नि समान लाल वर्ण की लोहे की पुतलियां रहती हैं। तुमको उनके साथ बलात्कार से आलिंगन करवाया गया है। उस समय जो तुम्हें दुःसह दुःख हुआ था, उसका स्मरण करो। तथा तुमको अनेक बार अत्यन्त क्षाररसयुक्त अग्नि से तप्तायमान कडुवारस पिलाया गया था, उसका तो ध्यान करो।

हे साधो ! वहां पर तुमको यंत्र द्वारा मुख फाड़कर बलात्कार से लोहे के जलते हुए अंगारे खिलाये गये थे, तुमको कड़ाही में पूरी कचोरी के समान तला था—उसका तो ख्याल करो।

नरक में सब नारकी एक दूसरे के शत्रु होते हैं। वे परस्पर दुःख देने में तत्पर रहते हैं। वे बाण, चक्र, तलवार, छुरी, करौंत, भाला, शूली, गदा आदि शस्त्र रूप बन जाते हैं। तथा कुत्ता बिल्ली भेड़िया सिंह व्याघ्र सर्पादि दुष्ट तिर्यंच बन जाते हैं। कोई नारकी पर्वत बनकर दूसरे नारकी पर गिर पड़ता है। कोई नारकी करौत बनता है और दो नारकी करौत उठाकर दूसरे नारकी के शरीर को कतरते हैं। इसी प्रकार एक दूसरे को दुःख देने में सहायक होते हैं। वहां पर ऐसे क्लेश तुमने अनन्त बार सहे हैं।

हे साधो ! नरक में तुम्हारी आँखें निकाल ली गईं थीं तथा तुम्हारी जीभ खींचकर बाहर निकाल ली गई थी। उस समय कितना घोर दुःख तुम्हें हुआ था, उसको सोचो।

हे क्षपक ! नरक मे तुम्हें अनेक प्रकार कुभीपाक में पकाया गया था। तथा शूली में पिरोकर अग्नि में सेका था। भाड़ में डालकर तुम्हें चने के समान भुना था। तुमको भात के समान चटलोई में उबाला था। मांस के टुकड़े के समान तेरे टुकड़े २ किये गये थे। और आटे के समान तुम्हें चक्की में पीसा था।

सं. प्र.

हे मुने ! तुम नरक मे चक्र से छेदन किये गये थे। करौत से कई बार चीरे गये थे। कुल्हाड़ी फरसे से फाड़े गये थे और मुद्गरों से तुम्हारा कचूमर निकाला था-उनको तो याद करो।

नरक मे तुझे पाश में बाधकर ऊपर से मस्तक पर घन पटके गये थे। और पश्चात् अति तीक्ष्ण क्षार के कीचड़ में तुझे ओधा गाड़ दिया था। वहा पर तुझे घसीटा था। तेरे शरीर को नमाकर तोड दिया था। एक टांग को पांव से दबाकर दूसरी टांग ऊंची करके तुझे चीर डाला था। तेरा शरीर मर्दित किया गया था। लोहे के तिकोने तीक्ष्ण कांटो पर तू लुढ़काया गया था। तेरे छिन्न भिन्न हुए शरीर पर नारकी खारे चूर्ण का जल सींच कर ऊपर से हवा करते थे। उसके अनन्तर शक्ति नामक शस्त्र से तथा जिनके अग्र भाग मे लोहे के कांटे लगे हुए थे, ऐसी लाठियो से लौट पौट किये थे; घुमाये गये थे। इससे तेरे शरीर मे रुधिर की धारा बह रही थी। शरीर का चमड़ा नीचे लटक गया था। पेट फूट गया था। अन्दर की आतडिया बाहर निकल आई थीं। हृदय अत्यन्त संतप्त हो रहा था। आँखें फूट गई थीं। तेरे शरीर का चूर्ण हो गया था। ऐसे भयानक दुःख तू नरक मे अनेक बार भोग आया है। उसका चिन्तन कर। उस दुःख के मारे तेरे शरीर का अवयव अवयव कॉपता था। तू दुःख से थर थर धूज रहा था। उन दुःखो के सामने हे क्षपक ! यह दुःख कुछ भी नहीं है।

हे श्रमणोत्तम ! तुमने अपूर्व पुण्य के उदय से मनुष्य जन्म पाया और देव दुर्लभ सर्वलोक पूज्य मुनि धर्म भी अङ्गीकार किया उसमें भी उत्तम संयम का पालन किया और अन्त मे सर्व श्रेष्ठ समाधिमरण को भी अङ्गीकार किया। इस परमोत्तम धर्म के पालन करते हुए तुम्हारे पूर्व संचित कर्म के उदय से किंचित वेदना आगई। जिससे तुम अपने परम पुनीत धर्म से चलायमान हो रहे हो। यह क्या तम्हारे समान धैर्यशाली शूर वीर पुरुष पुगवों को शोभा देने वाला कृत्य है ? यह लज्जा जनक क्रिया तुम्हारे यश को मलीन करने वाली है। इस आत्मा के विनाशकारी कायरपन का त्याग कर सावधान होवो और स्वाभिमान की रक्षा करो, तथा पतनोन्मुख होते हुए अपनी आत्मा को सम्भालो।

देखो, तुमने अनन्त काल तक इस धर्म के अभाव से भ्रमण किया उसमे अनन्त बार तिर्यंच गति भी पाई। उसके दुःखों का किंचिन्मात्र वर्णन करते हैं, उसे तुम सावधान होकर सुनो। इन दुःखो को तुम अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देख रहे हो।

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ।
जम्मणमरणरहट्टं अणंतखुत्तो परिगदो जं ॥ १५८१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भयानक तीव्र वेदनाओं से व्याकुल, जिसका पार पाना अति कठिन है ऐसी तिर्यंच गति को प्राप्त हुआ तू अरघट्ट की

घड़ियों के समान लगातार जन्म मरण को प्राप्त होता रहा। उसके दुःखों का भी तू विचार कर, स्मरण कर, चिन्तन कर। अपने दोषों का स्मरण करने से गुणों की वृद्धि व प्राप्ति होती है। इसलिए अपने दोषों का स्मरण कर। देखो तिर्यंचगति प्राप्त करके तूने पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय में जन्म धारण किया है।

हे क्षपक! मनुष्य शीत की बाधा होने पर निर्वात स्थान का आश्रय लेते हैं। गर्मी से पीड़ित होने पर उसका निवारण करने के लिए शीत जल में स्नान करते हैं, ठंडा पानी पीते हैं। भय उत्पन्न होने पर भय रहित स्थान का सहारा लेते हैं। द्वीन्द्रियादि त्रस जीव भी उक्त बाधाओं से बचने का यथोचित उपाय करने में समर्थ होते हैं। परन्तु एकेन्द्रिय जीवों में ऐसा सामर्थ्य नहीं होता है।

जैसे वैराग्य परायण मुनीश्वर सब प्रकार के उपसर्ग बाधाए स्वतत्र होकर सहते हैं, वैसे एकेन्द्रिय जीव परकृत व प्रकृति जन्य उपसर्ग बाधाओं को परतन्त्र हुए सह लेते हैं।

द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव गाय बैल भैंस घोड़े हाथी आदि पशुओं के पैर तले दब कर तथा गाड़ी रथ मोटर आदि वाहनों के नीचे कुचले जाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

पंचेन्द्रिय पशु पक्षी भी भूख प्यास शीत उष्ण का असह्य दुःख भोगते हैं। एक प्राणी का दूसरा प्राणी भक्षण कर लेता है। कई अधम मनुष्य प्राणी भी इनका घात करते हैं। इन दीन हीन प्राणियों का संहार कर कई अपने उदर-दानव की बलि चढ़ाते हैं। कई शरीर बल से तथा कई अन्य राज्यादि के ऐश्वर्य में उन्मत्त होकर इन दीन अशरण निहत्थे जीवों के प्राणों से क्रीड़ा कर प्रसन्न होते हैं, अपने निशाने के लक्ष्य बनाकर आनन्दित होते हैं। इन जीवों पर विपत्ति आने पर इनके माता पिता बान्धव मित्रादि सब दूर भाग जाते हैं। इनके शरीर में रोग व्याधि आदि उत्पन्न होने पर कोई उनके दुःख का प्रतीकार नहीं करता है। उनको एकाकी असह्य होकर सब क्लेश स्वयं भोगना पड़ता है। उनको छेदन भेदन ताड़न बन्धन मोचन शीत उष्ण वृष्टि पवनादि जन्य जो २ दुःख सहन करने पड़ते हैं, वे वचनातीत हैं। उनको केवली भगवान के सिवा अन्य जानने में असमर्थ हैं।

हे क्षपक! ऐसे दुःखों को अनन्त काल तक तूने भोगे हैं। निगोद में तू अनन्त काल तक निवास कर चुका है। निगोद ही तेरा सदा का निवास है। त्रस पर्याय तो प्रवास के समान है। जैसे कोई मनुष्य किसी निमित्त से विदेश में प्रवास करता है और महीने दो महीने भ्रमण कर अपने घर पर वापिस लौट जाता है; वैसे ही यह अपने निगोद निवास से निकलकर किसी पुण्य कर्म के योग से त्रस पर्याय में प्रवास करने के लिए आता है और कुछ (पूर्व कोटि पृथक्त्व) अधिक दो हजार सागर तक त्रस पर्याय में भ्रमण कर पुनः

अपने निगोद रूप घर में वापिस लौट जाता है। फिर वहां से अनन्त काल तक निकलना नहीं होता है। वहां पर वह एक श्वास में अठारह बार जन्म मरण करता रहता है। वहां जो दुःख होता है वह नरक के दुःखों से अनन्त गुणा दुःख है। उस दुःख को इस जीव ने अनन्त काल पर्यन्त सहा है। हे क्षपक ! वहां पर तुम्हारा कोई भी सहायक नहीं था। अब तुम इस अल्प कालीन किंचिन्मात्र दुःख से इतने अधीर हो रहे हो। हे तत्त्वज्ञ मुने ! अब सावधान होकर थोड़ा विचार करो और अपने कल्याण के मार्ग से मत गिरो।

मनुष्य गति में प्राप्त दुःख

दीणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपउलिदमणो जं।
पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥ १५६१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—मनुष्य पर्याय में अपने प्राणों से अधिक प्यारे पुत्रादि का, धन वैभव का वियोग जन्य दुःख भोगा है। जिसका स्मरण मात्र करने से हृदय के टुकड़े २ हो जाते हैं ऐसा दुःख अनन्त बार भोगा है। जिनका नाम मात्र सुनने से मस्तक मे शूल के समान वेदना होने लगती है, ऐसे अप्रिय महान् दुष्ट प्राणियों के संयोग से तुझे अनन्त बार घोर दुःख व सन्ताप हुआ है। अभीष्ट (वाञ्छित) पदार्थ की प्राप्ति न हो सकने के कारण मनमे जो सन्ताप होता था उसके दुःख का सहन भी तुमने किया है। सेवकपने में पराधीन होकर, स्वाभिमान के नाशक अपमान जनक दुर्वचन सुनकर जो तुमको अन्तःकरण मे दुःख हुआ है उसका हे मुने ! तुम स्मरण करो। मनुष्य जन्म पाकर कभी तुम दीन हुए तब दीनता व दरिद्रता का मर्मभेदी दुःख तुमने पाया। कभी रोष उत्पन्न हुआ, कभी चिन्ता-ज्वाला मे तुम जलते रहे। कभी शोकाग्नि मे झुलसते रहे। कभी असहनशीलता के कारण दुःख दावानल मे दग्ध होते रहे। ऐसे ही अनेक मानसिक वेदना से तुम रात दिन व्याकुल होकर दुःखों को सहन करते रहे हो, उनका चिन्तन करो। अब हे मुने ! इस साधारण शारीरिक वेदना से क्या घबरा रहे हो ? यह साहस धारण करने का समय है। इसलिए सावधान होकर अपने धर्म व कर्त्तव्य को सम्भालो।

मनुष्य गति में इस जीव ने चारित्र मोहनीय कर्म से प्रेरित होकर किसी प्रकार का अपराध किया तब राजा ने तथा राजमंत्री ने या राज्याधिकारी कोतवाल आदि ने तीव्र दण्ड दिया। वेंतों से तथा चाबुकों से पीटा। इस जीवका मुण्डन कर अपमानित किया। अनेक प्रकार के लांछन लगा कर अपमानित किया। राजा ने सर्वस्व अपहरण किया। चोर डाकुओं ने धन का अपहरण किया। कोई आततायी दुष्ट मनुष्य भार्यादि का अपहरण करते हैं। अग्नि दाह से धनादि का विनाश हो जाता है। कभी प्रकृति के प्रकोप से भूकम्प, जल की अथाह वृष्टि आदि

से, गृह धनादि का विध्वंस होता है तब जीव को जो मानसिक व्यथा उत्पन्न होती है, उस दुःख का भी तुमने अनेक बार अनुभव किया है। जिसका श्रवण करने से रोमांच उत्पन्न हो जाते हैं, उन दुःखों के सामने तुम्हारा यह स्वल्प दुःख क्या चीज है। हे क्षपक! उनपर विचार तो करो।

मनुष्य गति में भी विरोधी मनुष्य लाठियों से मार मार कर शरीर का कचूमर निकाल देते हैं। तलवार से सिर काट देते हैं। छुरा भोंक कर आतड़ियां निकाल लेते हैं। अग्नि में जला देते हैं। पानी मे डुबोते हैं। पर्वतादि से पटक कर शरीर के टुकड़े २ कर देते हैं। मस्तक पर अग्नि जलाते हैं। अग्नि से तपे हुए लोहे के लाल सुर्ख गहने पहना कर दग्ध करते हैं। बंदूक और तोपों से उड़ा देते हैं। बम गिराकर प्राणों का संहार करते हैं। धन सम्पत्ति गृह द्वारादि सब वस्तुओं का देखते देखते विनाश कर देते हैं। जहां स्वर्ग तुल्य दिव्य नगर था, उसे श्मशान तुल्य बना देते हैं। जो पूर्व क्षण में सुन्दर लहलहाता हुआ हरा भरा पुष्प फलों से परिपूर्ण नन्दन वन सा उपवन था, उसे दूसरे क्षण में भयानक जंगल बना देते हैं। जो राजा था, उसका सर्वस्व नाशकर भिखारी बना देते हैं। असहाय और पुत्रादि से पृथक् कर बन्दीगृह की नरक समान यातना भोगने के लिए विवश करते हैं। वहां पर वह भूख प्यास ताड़न वध बन्धनादि के असह्य दुःखों को भोगते भोगते मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। हे मुने! ऐसे दुःख यह सदा भोगता रहा है। उनको ध्यान में लावो और सावधान होकर आत्मा का चिन्तन करो।

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भंजणं चेव।
अप्पाडणं च अच्छीण तहा जिब्भायणीहरणं ॥ १५९५ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक! इस मनुष्य गति में तुम्हारे कान काट लिये गये थे। होठों का छेदन किया गया था। छुरे से नाक उतारली गई थी। मस्तक तोड़ दिया गया था। दांत तोड़े गये थे। आंखें निकाल ली गई थीं, फोड़दी गई थीं। जीभ खींची गई थी। उनसे जो तुम्हें दुःख उत्पन्न हुआ था, उसके सामने यह दुःख कितना सा है? हे क्षपक! तुम उनका चिन्तन करो।

हे मुने! तुम अनेक विष के प्रयोग से मरे हो। अग्नि काण्ड से जलकर मरण को प्राप्त हुए हो। अनेक शत्रु के द्वारा हनन किये गये हो। अनेक बार सर्प के द्वारा डसे गये हो। अनन्त बार सिंह व्याघ्र स्याल रीछ आदि दुष्ट हिंसक जन्तुओं के द्वारा भक्षण किये गये हो और नाना प्रकार के शस्त्रों के आघात से तुम मारे गये हो। उन दुःखों को तुमने कई बार सहा है। हे क्षपक! अब इस थोड़े से दुःख को सहने में कायरता क्यों दिखा रहे हो? तुम समान शूरवीर आत्मज्ञानी महापुरुषों को ऐसी कायरता दिखाना क्या योग्य है? अब धैर्य और साहस का आश्रय लो और सावधान होकर इस परम उत्कृष्ट समाधिमरण को सुधारो। तुमने पूर्वकाल में परवश होकर तो पूर्वोक्त भारी २ दुःख सहे हैं। उनसे तुम्हें सिवा क्लेश के और नवीन कर्म बन्ध के कुछ हाथ नहीं लगा। इस समय तुम स्वतन्त्रता से इन आगत दुःखों को

शान्ति से सह लोगे तो तुम्हें इस समय भी क्लेश न होगा और पूर्व सचित कर्मों की निर्जरा होगी तथा नवीन कर्मों का संवर होगा। इसके फल स्वरूप तुम्हारा आत्मा सदा के लिए सुखी हो जावेगा। सम्पूर्ण कष्टों का सहार होगा और अनन्त काल तक शान्ति और नित्य आनन्द का अनुभव करोगे।

देवगति के दुःखों का वर्णन

हे क्षपक! देवगति में तुमने शारीरिक दुःखों की अपेक्षा आत्मा को दुःखाग्नि में सतत जलाने वाले मानसिक सताप का बार बार अनुभव किया है।

> सरीरादो दुक्खादो होइ देवेसु माणसं तिव्वं।
> दुक्खं दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥ १५६८ ॥
> देवो माणी सतो पासिय देवे महड्ढिए अण्णे।
> जं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥ १५६६ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जब अल्प पुण्य के धारक आभियोग्य जाति के देव को महर्धिक-अधिक पुण्यशाली-देव वाहन बनाता है—उसे अश्व हस्ती बनाकर जब उसपर सवार होता है तब उस देव को जो मानसिक संताप होता है, वह असह्य होता है। वह दुःख तथा अन्य मनुष्यगति के दुःखों से—शारीरिक दुःखों से—बहुत अधिक होता है। एक स्वाभिमानी देव के जब दूसरे देव को अधिक ऋद्धिशाली, अनेक सुन्दर २ अप्सराओं के साथ, नाना प्रकार के वैभव के साथ क्रीड़ा करते देखकर जो मानसिक पीड़ा होती है, वह मरण के दुःख से भी अत्यधिक होती है। अणिमा गरिमादि अनेक ऋद्धियों और नाना प्रकार के विभूतिशाली देव के संम्मुख हीनशक्ति के धारक देव का गर्व जब चूर चूर हो जाता है, उस समय उसके अन्तःकरण के भी टुकड़े २ हो जाते हैं। देवगति में वह दुःख बड़ा संताप उत्पन्न करने वाला होता है।

देवगति में जब तुम्हारे गले में यमराज (मृत्यु) का पाश आ गिरता है तो छह महीने पहले माला मुर्झाने लगती है। स्वर्ग के दिव्य कल्प वृक्षों से प्राप्त सुख सामग्री का, परम सुन्दरी देवांगनाओं के सयोग का जब त्याग करना पड़ा है, उस समय तुमको जो हृदय-विदारक दुःख हुआ है, हे मुने! उसका विचार करो।

उस देवगति में जब तुम्हारी आयुष्य समाप्त होने वाली थी उस समय वहां से चय कर जब तुम को गर्भ में जन्म लेने का आभास हुआ था, तब तुमको कितना दुःख हुआ था? उस समय तुमने संताप किया था कि मुझे महा दुर्गन्धमय गर्भ में निवास करना

आहार करना पड़ेगा। क्षुधा तृषादि की मुझे असह्य पीड़ा होगी। नवमास पर्यन्त पड़ेगा और गर्भावस्था में अति दुर्गन्ध युक्त पदार्थ का माता के उदर में निरन्तर अग्नि की ज्वाला में पचता रहूँगा। माता खारा व चरपरा पदार्थ भक्षण करेगी, वह मेरे कोमल शरीर में भयानक वेदना उत्पन्न करेंगे। हाय! मैं देव पर्याय में अत्यन्त सुखी और पवित्र रहा हूँ। अब मुझे अति दुःखी और महा अपवित्र विष्टाघर के समान उदर में एक दो दिन नहीं, नव मास पर्यन्त औंधे लटके रहना पड़ेगा। हाय! अब मैं क्या करूं? यह आगामी निकट समय में आने वाली विपत्ति कैसे टल सकती है? ऐसा विचार करते समय जो तुम्हें दुःख प्राप्त हुआ, उसका हे क्षपक! तुम विचार तो करो।

इस प्रकार हे मुने! चतुर्गति के दुःखों को तुमने सहा है, उनका अनन्तवां भाग भी यह दुःख नहीं है। हे आत्म ज्ञानिन्! इस समय तुम विवेक ज्ञान को जागृत करो। उसका उपयोग करो। यह दुःख उन दुःखों के सामने कुछ नहीं सा है। इससे घबराकर अपने कल्याणकारी मार्ग से च्युत होना तुम सरीखे समझदार महात्माओं को योग्य नहीं है। विपरीत समय आने पर अपने आत्मा को सन्मार्ग पर स्थित रखने वाला ही महापुरुष होता है। इस समय के लिए ही व्रतों का धारण, समिति का पालन और गुप्ति का साधन और अनेक तपश्चरण का आचरण किया जाता है। यदि इस समय तुम सावधान न रहे तो तुम्हारे व्रत नियम तपश्चरणादि उत्तम कृत्य निष्फल हो जावेंगे। इसलिए हे महात्मन्! अब सचेत हो जाओ और अपनी गति को सुधारो। तुम वीरात्मा हो, परम धैर्य के धारक हो, इस थोड़े से कष्ट से क्या घबरा गये हो?

हे मुने! जब संख्यात काल तथा असंख्यात काल पर्यन्त लगातार अति घोर दुःख नरकादि गतियों में परतन्त्रता से तुमने सह लिये हैं। तो अब स्वाधीनता से यह अत्यल्प कष्ट थोड़े समय के लिए भी तुम से सहन नहीं होते हैं क्या? उन दुःखों का तो निराकरण करने के लिए तुम्हारे पास कोई साधन नहीं था। इस समय तो दुःख घटाने का असली साधन तुमको प्राप्त है। उस साधन का उपयोग कर शान्ति का अनुभव करो।

प्रश्न—वह साधन कौनसा है। जिससे क्षुधा तृषादि का वेदना भी शान्त हो जावे?

क्षुधादि वेदनाओं को शान्त करने के साधन

सुइपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य सदोवगहिएणु।
ज्झाणोसहेण तिव्वा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥ १६०८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—संवेग निर्वेद उत्पन्न करने वाली, आत्म अनात्म पदार्थ का भेद विज्ञान कराने वाली धर्मकथा-श्रुतज्ञान रूप अमृत-का पान करने से तथा निर्यापकाचार्य की शिक्षा-उपदेश रूप भोजन का भक्षण करने से हे क्षपक! तुम्हारे आत्मा में बल का सचार होगा। शुभ

ध्यान रूप औषधि का सेवन करने से तुमपर इस वेदना का कुछ भी असर न होगा। और तुम उसका नाश करने में समर्थ हो सकोगे।

हे श्रमणोत्तम! जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है, उस समय उसका प्रतीकार करने में देवादि कोई भी समर्थ नहीं होते हैं। उस समय जो वेदना होती है उसका प्रतीकार साहस और धैर्य है। साहसी और धैर्यवान् आत्मा ज्ञान रूपी शीतल जल से उस दुःख को शान्त करता है।

हे महात्मन्! जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उस समय किसी का बल काम नहीं देता है। राजा महाराजाओं के पास सेवा शुश्रूषा करने वाले तथा विद्वान् अनुभवी बड़े २ वैद्य डाक्टरों के रहते हुए, असयम का आचरण करने पर भी वे दुःख से मुक्त नहीं हुए। तीव्र वेदनीय कर्म का उदय आने पर सब जीव दुःख दूर करने में असमर्थ होते हैं। इसलिए ऐसे समय श्रुतज्ञानामृत का पान करने से ही दुःख की निवृत्ति होती है। अतएव हे क्षपक! तुमको उसीका पान करने में सावधान होना चाहिए।

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं।
ण य वेदणाणिमित्तं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥ १६१३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे मुने! मोक्ष के अभिलाषी सयमी जनो का मरण को प्राप्त होना तो श्रेष्ठ है, किन्तु वेदना का उपशम करने के लिए अप्रासुक द्रव्यो का सेवन करना सर्वथा अयोग्य है। संयम धन के रक्षक साधुओ को प्रासुक औषधादि मिल सके तो वे उनका सेवन करते हैं; अन्यथा प्राण जाने पर भी संयम का त्याग नहीं करते। क्योंकि अप्रासुक औषधि का सेवन करने से संयम का नाश होता है। संयम का रक्षण भव भव में सुख का अंकुर उत्पन्न करता है। मृत्यु केवल उसी भव का घात करती है। और असंयम का आचरण अनेक भवों मे सैंकड़ों व हजारों पर्यायो में दुःख के अकुरों का उत्पादक होता है।

इस प्रकार परम दयालु निर्यापकाचार्य के शिक्षोपदेश को पाकर क्षपक अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर साहस व धैर्य का अवलम्बन लेकर अपने आत्मा के कल्याण के निमित्त शीघ्र सचेत होता है और पूर्ण शान्ति की पताका को फहराने लगता है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओ के चिन्तन मे तत्पर होता है। जब क्षपक का शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है तब वह संस्तर का भी त्याग कर देता है। किसी से वैयावृत्त्य नहीं करवाता है। अपने शरीर का भी त्याग कर देता है और आत्म-भावना में तल्लीन रहता है।

एवं सुभाविदप्पाज्झाणोवगओ पसत्थलेस्साओ।
आराधणापडायं हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥ १६२४ ॥ (भग. आ.)

भावार्थ—इस प्रकार जिसने आत्मा को शुभ ध्यान में लीन किया है जो शुक्ल ध्यान और शुक्ल लेश्या को प्राप्त हुआ है, वह क्षपक निर्विघ्न पूर्वक आराधना पताका को हस्त में ग्रहण करता है। अर्थात् वह चारों आराधनाओं के फल को प्राप्त करता है।

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणठमिच्छत्ता।
हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयत्तियम्महणा ॥ १९३० ॥
पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंवुडा सव्वसंगउम्मुक्का।
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असंमूढा ॥ १९३१ ॥
सव्वसमाधारणेण य चरित्तजोगे अधिठिदा सम्म।
धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥ १९३२ ॥
इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरयं हिच्चा।
हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥ १९३३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक! जिनके कर्म बाकी रह गये हैं, जिन्होंने अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का मथन कर दिया है, तथा मिथ्यात्व का संहार किया है और हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा पुरुषवेद, स्त्रीवेद एवं नंपुसकवेद का उच्छेद किया है, जिन्होंने पांच समिति का पालन और तीन गुप्ति का धारण किया है, आगामी कर्मों का निरोधकर संवर किया है अर्थात् संवर का कारण जो तपश्चरण और ध्यान है उसका सेवन किया है, जो मिथ्यात्व कषायादि चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह और क्षेत्रादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर भावनिर्ग्रन्थावस्था को प्राप्त हुए हैं, जो अनेक कष्टों के आने पर धीरज धारण करते हैं, जिनके मन में दीनता का भाव लेशमात्र भी नहीं है, जो सुख और दुःख में समबुद्धि रखते हैं, जो शरीर में भी मोह नहीं रखते हैं, जो मनोयोग, वचन योग और काययोग से आत्म स्वरूप में स्थिर रहते हैं, अर्थात जो निरन्तर चारित्राचरण में तत्पर रहते हैं, तथा जो धर्म्यध्यान में तथा प्रथम शुक्ल ध्यान में और द्वितीय शुक्ल ध्यान में रत रहते हैं, इस प्रकार मध्यम आराधना का पालन करते हुए शरीर का त्याग करने वाले मुनिराज विशुद्ध लेश्या के स्वामी बनकर अनुत्तर विमान वासी देवो में उत्पन्न होते हैं।

हे क्षपक! कल्पवासी देवों में जन्म देनेवाले रत्नत्रय से उत्कृष्ट—रत्नत्रय का पालन करने में जो समर्थ होते हैं अर्थात् उत्तम

कल्पातीत देवों में
ध्यान और उत्कृष्ट तप का आचरण करने में जो संयमी सदा तत्पर रहते हैं, जिनके भावों में विशेष निर्मलता रहती है, जिस सुख का
जन्म देने वाले विशेष पुण्यास्रव की प्राप्ति जिन्होने की है वे नवग्रैवेयक और नव अनुदिश विमानों में अहमिन्द्र होते हैं। विहार व क्रीड़ा
अनुभव सौधर्मादि कल्पवासी देव दिव्य देवांगनाओं के साथ भोग भोगकर नित्य नन्दन वनादि के सुन्दर ललित कुंजों मे
करके प्राप्त करते हैं उससे भी अनन्त गुणा सुख अहमिन्द्र देवों को प्रतिसमय निरन्तर प्राप्त होता है।

हे मुनिश्रेष्ठ ! जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और यथाख्यात चारित्र में सदा तत्पर रहते हैं तथा तपश्चरण में उत्तरोत्तर जिनके परिणाम वृद्धिंगत होते रहते हैं तथा जिन की लेश्या सतत विशुद्धता धारण करती है ऐसे क्षपक इस औदारिक शरीर का त्याग कर अणिमादि गुणों से सब से बढे चढे देवेन्द्र के अन्तिम पद को पाते हैं।

हे श्रमणोत्तम ! जिनका अन्तःकरण श्रुत की आराधना से अति निर्मल हुआ है जिन्होंने उग्रोग्रतप और उत्तमोत्तम नियम आतपनादियोग और ध्यान से अपनी आत्मा को विशेष निर्मल बनाया है वे धैर्यगुण के धारक आराधक लौकान्तिक देव होते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस जगत् में जितनी ऋद्धियाँ और इन्द्रियजन्य सुख और ऐश्वर्य सम्पदाएं हैं वे सब निर्मल भाव के धारक क्षपक को स्वतः आकर प्राप्त होती हैं।

तेजोलेश्या के धारक क्षपक की आराधना को जघन्य आराधना कहते हैं। इस आराधना का सेवन करने वाले क्षपक सौधर्मादि स्वर्गों में जन्म लेते हैं। सौधर्मादि स्वर्गों के देवों से हीन देवों मे वे कभी जन्म नहीं लेते हैं।

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स।
तं अचिरेण लहंते फासित्ता आराहणं णिखिलं ॥ १९४१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—अधिक कहां तक कहा जावे। तीनों आराधनाओं मे से किसी भी आराधना का सेवन करने वाला महात्मा सम्पूर्ण लोक के सार भूत पदार्थों को शीघ्र प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट आराधना का आराधक तो उसी भव में मोक्ष के दिव्य सुख का सदा के लिए भोग करता है। मध्यम आराधना का आराधक अहमिंद्रादि महर्द्धिक देव होकर स्वर्ग के दिव्य इन्द्रिय जन्य सुखों का अनुभव कर दूसरे या तीसरे आदि भव में मुक्ति अंगना का पति होता है। जघन्य आराधना का आराधक भी कम से कम सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देव होता है और वहां पर दिव्य

देवांगनाओं के साथ अनेक प्रकार ऐन्द्रियक (इद्रियजन्य) सुख भोगकर अधिक से अधिक सात आठ भवों के अनन्तर अवश्य मुक्ति को प्राप्त होता है।

हे क्षपक! जघन्य आराधना का सेवन करने वाले भी महा पुण्यशाली होते हैं। वे सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देवों में जन्म लेते हैं। वहां से शुभध्यान पूर्वक चयकर मनुष्य जन्म धारण करते हैं। मनुष्य भव में भी उन्हें सम्पूर्ण विभूतियाँ व ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। विश्व की सुख सामग्री सदा उनके चरणों में पडी रहती है। उस विश्व-विभूति का भी त्याग कर मुनि धर्म का आचारण करते हैं और तपस्वाध्याय में मग्न रहते हैं। परिषह और उपसर्ग आने पर उनसे विचलित नहीं होते, किन्तु उनका धैर्य के साथ हृदय से स्वागत करते हैं। वे कभी श्रद्धा, संवेग और वैराग्य से नहीं डिगते हैं।

उनमें से कई क्षपक तो उसी मनुष्य भव में यथाख्यात चारित्र और शुक्लध्यान से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर चतुर्गति के भ्रमण जाल से निकलकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

कई क्षपक मनुष्य भव में अनेक दुर्धर तपश्चरण का आराधन कर स्वर्गलोक में महर्द्धिक देव होते हैं और वहां पर चित्त रंजन करने वाले दिव्य भोगों को भोगते हैं। मनोविनोद की अपूर्व सामग्री के अनुभव करने में तल्लीन रहते हैं। वहां से आयुष्य को सुख पूर्वक बिताकर शान्ति से देव पर्याय छोड़कर पुनः मनुष्य जन्म पाते हैं। वहां पर चक्रवर्ती उत्तम विभूति के धारक होते हैं। अनेक मनोवांछित सुखों का अनुभव कर उसको निःसार समझ मुनिदीक्षा ग्रहण करते है। तथा अनेक दुष्कर तप का आचरण कर शुक्ल ध्यानाग्नि से घाति व अघाति कर्मों को दग्ध कर शिवरमणी के रसिक होते हैं।

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दंसणचरित्तं।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥ १६४६ ॥
ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुद्दं चरिमकालम्मि।
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥ १६४७ ॥ (भग. आ)

अर्थ—कई साधु संसार के सब विषयभोग का परित्याग कर निर्ग्रन्थावस्था धारण कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निर्विघ्न आराधन करने के लिए संस्तार का आश्रय लेते हैं और सम्यग्दर्शन व चारित्र की विशुद्धि करने पर भी पूर्व कर्म के भार से अन्त समय आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान में प्रवृत्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट होते हैं।

सं. प्र.

हे क्षपक ! जो मरण काल में आर्त रौद्रध्यान में प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक आयुष्य के पूर्ण होने पर उत्तम गति नहीं पाते हैं।

हे मुने ! जिस साधु ने पहले अपने आत्मा को आराधना से सुसंस्कृत किया था, वह भी संस्तर पर आरूढ़ होकर मरण समय मे संक्लेश परिणामों के उत्पन्न होने से उत्तम मार्ग से गिर जाता है तो क्या जो पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न और स्वच्छ हैं वे पतित साधु सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते हैं ? अवश्य होते हैं।

जो मूढ़बुद्धि पूर्वोक्त दोषों का वमन नहीं करते हैं, दोषों को धारण किये हुए मृत्यु को प्राप्त हुए हैं वे मायाचार तथा असत्य वचन के कारण देव दुर्भगता को अर्थात् नीच देव पने को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—जो मुनि संघ सेवा नहीं करते हैं समय आने पर दूसरे मुनीश्वरों की वैयावृत्त्य नहीं करते हैं वे किस गति मे जाते हैं ?

किं मज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु।
ते देवसमिदिबज्झा कप्पंति हुंति सुरमेच्छा ॥ १६५८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—मेरा इसमें क्या प्रयोजन है ? क्या मैं ही हूं ? मुझसे तो अपना भी कार्य नहीं होता है ? मैं किस किस का काम करूं ? इस प्रकार विचार कर जा साधु सम्पूर्ण संघ का कार्य करने में उत्साह रहित होता है, किसी रोगी वृद्ध तथा अशक्त मुनि की वैयावृत्त्य करने में उदासीनता दिखाता है वह स्वार्थी साधु देवसभा से बहिष्कृत होता है अर्थात् वह सभा के मध्य बैठने का अधिकारी नहीं होता है। सौधर्मादि स्वर्गों के अन्त भाग मे चाण्डालादि जाति का म्लेच्छ देव होता है।

हे मुने ! जो कंदर्प भावना के वश होकर मरण करते हैं, वे कन्दर्प जाति के नीच देव होते हैं। असत्य निन्द्य बोलने बुलवाने मे तथा काम रति में लीन रहने को कन्दर्प भावना कहते हैं। जो तीर्थंकरों की आज्ञा से प्रतिकूल होकर संघ का चैत्य (प्रतिमा) का और जिनागम का अविनय अनादर करते हैं मायाचार करते हैं, उनके किल्विष भावना होती है, उस भावना मे जो मरण करते हैं, वे किल्विष जाति के देव होते हैं।

हे साधो ! जो मुनि तंत्र मंत्रादि तथा हंसी मजाक तथा व्यर्थ बकवाद एवं वाग्जालादि का उपयोग करते हैं उनके आभियोग्य भावना होती है। इस भावना से जो प्राण त्याग करते हैं वे आभियोग्य जाति के बाहन बनने वाले देव होते हैं।

हे क्षपक ! जो क्रोधी, मानी और मायावी होते हैं, तथा तपश्चरण में और चारित्राचरण में संक्लेश परिणाम रखते हैं, एवं दृढ़ वैर में जिनकी रुचि होती है उनके आसुरी भावना होती है। उस भावना से युक्त होकर जो मरण करते हैं, वे असुर जाति के देवों में जन्म ग्रहण करते हैं।

हे मुने ! जो उन्मार्ग का उपदेश देकर सन्मार्ग का उच्छेद करते हैं, तथा सच्चे वीतराग मार्ग को बिगाड़ कर राग वर्द्धक मार्ग की तथा नवीन मार्ग की स्थापना करते हैं, मिथ्यात्व का उपदेश देकर संसार के जीवों को मोह उत्पन्न कर विपरीत मार्ग में प्रेरित करते हैं, उनके सम्मोह भावना होती है। उस भावना से युक्त होकर जो मरण करते हैं वे सम्मोह जाति के देवों में जन्म धारण करते हैं।

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जएह।
ते भवणवासिजोदिसमोमेज्जो वा सुरा होंति ॥ १९६३ ॥ भग. आ.

अर्थ—हे मुने ! जो क्षपक सम्यक्त्व की विराधना करके मरण करते हैं वे भवनवासी व्यन्तर अथवा ज्योतिष देव होते हैं। वे इन भवनत्रिक देवों में ही जन्म लेते हैं और वहां से आयुष्य पूर्ण कर वहां से चयकर सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से हीन हुए दुःख वेदना की लहरें जिसमें सतत उठा करती है ऐसे संसार सागर में भ्रमण करते हैं।

हे क्षपक ! जो साधु मिथ्यात्व को प्राप्त होकर जिस लेश्या में मरण करते हैं परभव में उसी लेश्या के धारक होते हैं।

प्रश्न—जो साधु समाधिमरण से प्राण छोड़ता है उसके शरीर की क्या व्यवस्था होती है।

एवं कालगदस्स दु सरीर मंतोवहिज्ज बाहिं वा।
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचंति जदणाए ॥ १९६६ ॥ भग. आ.

अर्थ—जब क्षपक पूर्वोक्त संन्यास विधि से मरण करता है तब वैयावृत्त्य करने वाले साधु उसके शरीर को जो गांव में अथवा बाहर की वसतिका में पड़ा रहता है, यत्न पूर्वक ले जाते हैं।

भावार्थ—जो क्षपक गुरु के निकट आलोचना से लेकर निस्तरण पर्यन्त सम्यक् प्रकार सम्यक्त्वादि चार आराधनाओं का सेवन कर पतित हुआ है उसका शरीर नगर के भीतर किसी वसतिका में हो अथवा बाहर किसी जगह वसतिका में पड़ा हो उसे वैयावृत्त्य करने

यति मुनीश्वर आगे कही जाने वाली विधि से यत्न पूर्वक ले जाते हैं।

क्षपक की निषीधिका

जहां क्षपक का मृत शरीर स्थापना करते हैं उसको निषीधिका (निषद्या) कहते हैं।

प्रश्न—साधु की निषीधिका कैसी होती है ? उसके लिए जिन २ बातों पर अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए उन सबको संक्षेप मे समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—जहां पर साधु के मृत शरीर को रखते हैं, वह (निषीधिका) स्थान उद्दे ही (चींटी आदि) से रहित निश्छिद्रतादि गुणों सहित होना चाहिए। उसके लिए कहा है—

अभिसुआ असुसिरा अघसा उज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा।
णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहा अणाबाधा ॥ १९६९ ॥
जा अवर दक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए।
वसधीदो वणिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥ १९७० ॥ भग आ.

अर्थ—क्षपक की निषीधिका उद्देहियों से रहित होनी चाहिए। भूमि में नीचे छेद या बिल न होने चाहिए। धंसी हुई न होनी चाहिए। प्रकाश सहित तथा समतल धरा पर होनी चाहिए। भीगी तथा जन्तु सहित न होनी चाहिए। हरितांकुर रहित, तिरछे बिल रहित और बाधा रहित होनी चाहिए।

निषीधिका किस दिशा में होनी चाहिए

वह नैऋत्य दिशा में, दक्षिण दिशा में या पश्चिम दिशा में प्रशस्त मानी गई है। पूर्वाचार्यों ने उक्त दिशाओं में ही क्षपक की निषीधिका योग्य बताई है।

प्रश्न—नैऋत्यादि दिशा में ही क्षपक की निषीधिका प्रशस्त और पूर्वादि दिशाओ मे क्यों अपशस्त मानी गई है। उनका (प्रत्येक दिशा सम्बन्धी निषीधिका का) शुभाशुभ फल क्या है ?

सं. प्र.

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तगं सुलभं ।
अवराए सुहविहारो होदि य उवधिस्स लाभो य ॥ १६७१ ॥
जदि तेसिं वाधादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचि पुव्वुत्तरा कमसो ॥ १६७२ ॥
एदासु फलं कमसो जाणोज्ज तुमंतुमा य कलहो य ।
भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥ १६७३ ॥ भग. आ.

अर्थ—नैऋत्य दिशा की निषीधिका सम्पूर्ण संघ की समाधि (शान्ति) की सूचक होती है। दक्षिण दिशा की निषीधिका से सर्व संघ के लिए आहार की सुलभता का सूचन होता है। पश्चिम दिशा सम्बन्धी निषीधिका संघ का सुख पूर्वक विहार और पुस्तकादि उपकरणों की प्राप्ति को प्रकट करती है।

इन दिशाओं में निषद्या बनवाने में यदि कोई बाधा उपस्थित होती हो तो आग्नेय, वायव्य, ऐशान पूर्व व उत्तर इन पांच दिशाओं में से जिसमें भी सुविधा हो उसमें बनाना चाहिए।

परन्तु इन आग्नेयादि पांच दिशाओं में निषद्या करने का फल अच्छा नहीं है। आग्नेयदिशा की निषद्या से संघ में तू तू, मैं मैं होती है। अर्थात् तू ऐसा है, मैं ऐसा हूं, ऐसी स्पर्द्धा होती है। वायव्य दिशा की निषद्या से संघ में कलह उत्पन्न होता है। पूर्व दिशा की निषद्या से संघ में फूट पड़ती है। उत्तर दिशा की निषीधिका से व्याधि उत्पन्न होती है। और ऐशान दिशा की निषद्या से संघ में खेंचातानी होती है या किसी मुनि का मरण होता है। अर्थात् आग्नेयादि पांच दिशाओं का फल उत्तरोत्तर अधिक २ अशुभ है। इसलिए इन दिशाओं में जहां तक बन सके क्षपक की निषीधिका न करनी चाहिए। पूर्वोक्त नैऋत्य, दक्षिण या पश्चिम इन दिशाओं में ही करनी चाहिए।

क्षपक के मृत्यु समय की क्रियाएँ

प्रश्न—क्षपक के मरण समय में कोई विशेष कर्त्तव्य होता है क्या ?

उत्तर—हां, क्षपक का मरण होने पर निम्नप्रकार क्रिया की जाती है।

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं ।
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥ १९७४ ॥ भग. आ.

जिस समय क्षपक का मरण हुआ हो, उसी समय उसका शव लेजाना उचित है। यदि साधु का मरण रात्रि आदि अवेला (असमय) में हुआ तो उस समय जागरण बन्धन और छेदन ये तीन विधि करना चाहिए।

प्रश्न—इन तीन विधियों को कौन करते हैं?

उत्तर—जो धीर वीर मुनि सघ मे होते हैं, वे ही इन विधियों को करते हैं। कहा है—

बाले वुड्ढे सीसे तवस्सिभीरूगिलाणय दुहिदे । भग. आ.
आयरिए य विकिंचिय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ॥ १९७५ ॥

अर्थ—संघ मे जो बालक मुनि, वृद्ध मुनि, शिष्य मुनि (शैक्ष) तपस्वी, भीरु (भय युक्त) रोगी, दुःख पीड़ित और आचार्य इनको छोड़ कर जो धैर्य धारक मुनि होते हैं और जिन्होंने निद्रा पर विजय पाया है वे मुनि ही जागरण करते हैं। अर्थात् रात्रि आदि असमय मे क्षपक का मरण हो जावे तब धीरता के धारक तथा निद्रा को जीतने वाले आत्मबली मुनि ही शव के समीप रहकर जागरण करते हैं।

प्रश्न—कौन मुनि किस अवयव का बन्धन व छेदन करते हैं।

उत्तर—जिन मुनियों ने आगम के रहस्य को भलीभांति जान लिया है तथा अनेक बार क्षपक के कृत्यों (वैयावृत्य सम्बन्धी कार्यों) का निर्वाह किया है और जो शारीरिक बल, आत्म बल एवं धैर्य के धारक हैं ऐसे साधु श्रेष्ठ क्षपक के हाथ तथा पांव और अंगूठे के कुछ भाग को बांधते हैं अथवा छेदन करते हैं।

प्रश्न—यदि क्षपक के शव की उक्त बन्धनादि क्रिया नहीं की जावे तो क्या हानि होती है?

जदि वा एस न कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई ।
आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥ १९७७ ॥ भग. आ.

अर्थ—यदि क्षपक के शरीर की बन्धनादि क्रिया न की जावे तो उस स्थान का तथा आसपास में निवास करने वाला कोई क्रीड़ाप्रिय भूत या पिशाच (व्यन्तर देव) उस शरीर मे प्रवेश कर जावे तथा उसको लेकर वह उठ खड़ा हो जावे, इधर उधर दौड़ धूप करने लगे; एवं अनेक प्रकार की ऐसी ही क्रीड़ा करने लगे तो इसको देखकर बाल मुनि अथवा भय प्रकृति वाले अन्य मुनि भयभीत होजावेंगे या अति भयातुर होकर मृत्यु को भी प्राप्त होजावें। कई अधीर मुनियों के श्रद्धान व चारित्र में शिथिलता आजावे अनेक उपद्रव उत्पन्न होजावे। अतः उक्त क्रिया करना अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। हाथ पांव आदि छेदन या बन्धन कर देने पर उक्त दोष निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—मुनियों के पास चाकू आदि शस्त्र तो रहता नहीं और वस्त्र भी नहीं रहता है वे क्षपक के हस्त पाद या अंगूठे के किसी भाग का किससे छेदन या बन्धन करेंगे ?

उत्तर—मुनि लोग संघ में रहते हैं तब उनको चाहिए कि वे अपने दश अंगुलियों के नखों में से एक अंगुलि के नख को सदा बढ़ा हुआ रखें। काम पड़ने पर वे उससे अंगुलि का चमड़ा विदारण कर सकें। तथा तृण का जो संस्तर (संथारा) होता है, उसमें से तृण लेकर उससे अंगूठे आदि के भाग को बांध सकते हैं। इस उक्त कार्य के लिए एक नख रखने की सिद्धान्त में आज्ञा है।

प्रश्न—जिन व्यन्तरदेवकृत उपद्रव का निवारण करने के लिए साधुओं को भी क्षपक के मृतक शरीर के निमित्त जागरण तथा बन्धन छेदन करना पड़ता है उन क्रीड़ाप्रिय व्यन्तर देवों का विशेष स्वरूप और उनके भेदों का भी विवेचन कीजिए।

व्यन्तर देवों का वर्णन

उत्तर—व्यन्तर जाति के देव कौतुक प्रिय होते हैं। वे केवल क्रीड़ा के लिऐ सब कौतुक करते हैं। अन्य मत वाले भूत पिशाचादि देवों को मासभक्षी रुधिर पान करने वाले कहते हैं। वह सर्वथा मिथ्या है। सब देव मात्र अमृत भोजी होते हैं। उनके आहार की इच्छा होते ही कण्ठ मे अमृत झरता है। उससे उनको तृप्ति होती है। मास भक्षण और रुधिर पान तो उत्तम जाति व कुल के मनुष्य भी नहीं करते हैं। तथा कई धर्म के ज्ञाता नीच जाति व कुल के लोग भी उन से दूर रहते हैं तो जिनके वैक्रियिक शरीर है जिस में रुधिर मांसादि कोई भी धातु नहीं है ऐसे उत्तम शरीर के धारक देव इस घृणित दुर्गन्धमय मॉस रुधिर का सेवन कैसे कर सकते हैं।

हॉ कई नीचकुल जाति से आये हुए नीच जाति के देव अपने पूर्व जन्म के संस्कार वश क्रीड़ा के निमित्त अशुचि पदार्थों का स्पर्श कर लेते हैं। मृतक शरीर से क्रीड़ा करने के निमित्त उसमे प्रवेश कर लेते हैं। इधर उधर दौड़ने लगते है इत्यादि क्रियाएँ करते हैं। उन

व्यन्तरों के भेद प्रभेद

व्यन्तरों के मूल आठ भेद हैं—

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्ष राक्षस, भूत पिशाचा (तत्त्वार्थ सूत्र)

१ किन्नर, २ किम्पुरुष, ३ महोरग, ४ गन्धर्व, ५ यक्ष, ६ राक्षस, ७ भूत और ८ पिशाच ये व्यन्तरों के मूल आठ भेद हैं। इन के आवान्तर भेद निम्न-प्रकार हैं:—

१ किन्नरों के दश भेद हैं। वे सब हरित वर्णीय सुन्दर सौम्य दर्शनीय मुकुट हार आदि भूषणों के धारक और अशोक वृक्ष ध्वजा वाले होते हैं।

(१) किन्नर, (२) किम्पुरुषा, (३) किम्पुरुषोत्तम, (४) किन्नरोत्तम, (५) हृदयंगम, (६) रूपशालिन (७) अतिनन्दित, (८) मनोरम, (९) रतिप्रिय और (१०) रतिश्रेष्ठ ये दश भेद होते हैं।

(२) किम्पुरुष—इनकी जघा और भुजा अधिक शोभित होती है और मुख अति सुन्दर होता है। नाना प्रकार के अलंकारों से तथा लेपनादि से भूषित होते हैं। और इनके चम्प वृक्ष की ध्वजा होती है। इन के भी दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) पुरुष, (२) सत्पुरुष, (३) महापुरुष, (४) पुरुषवृषभ, (५) पुरुषोत्तम, (६) अतिपुरुष, (७) गुरुदेव, (८) मरुत, (९) मेरुप्रभ और (१०) यशस्वत।

(३) महोरगों के शरीर का वर्ण कृष्ण होता है। महावेगवान्, सौम्यदर्शनीय, स्थूलकाय, मोटीगर्दन और स्थूलकन्धोंवाले होते हैं। नाना अलंकारों के धारक और नागवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) भुजंग, (२) भोगशालिन, (३) महाकाय, (४) अतिकाय, (५) स्कन्धशालिन्, (६) मनोरम (७) महावेग, (८) महेष्वक्ष, (९) मेरुकान्त और (१०) भास्वत्।

(४) गन्धर्व—इनके शरीर का वर्ण रक्त होता है। ये गंभीर, प्रियदर्शनीय, पुरुप, सुन्दर मुखाकृति, सुस्वर, व मालाधारी होते होते हैं। इनकी ध्वजा वाद्यों के आकार की होती है। इन के भेद बारह होते हैं। वे निम्नप्रकार हैं—

(१) हाहा, (२) हूहू (३) तुम्बुरव, (४) नारद, (५) ऋषिवादी, (६) भूतवादी, (७) कादम्ब, (८) महाकादम्ब, (९) रैवत, (१०) विश्वावसु, (११) गतिरति और (१२) गतियश।

५) यक्ष—ये काले वर्ण वाले, गम्भीर, तोंदवाले, प्रिय-दर्शन, प्रमाणयुक्त रक्त हस्तपादादि अवयव वाले, चमकीले मुकुट तथा नाना भूषणों के धारक तथा वटवृक्ष की ध्वजावाले होते हैं। इन के तेरह भेद हैं। वे ये हैं—

(१) पूर्णभद्र, (२) मणिभद्र, (३) श्वेतभद्र, (४) हरिभद्र, (५) सुमनोभद्र, (६) व्यतिपातिकभद्र, (७) सुभद्र, (८) सर्वतोभद्र, (९) मनुष्ययक्ष, (१०) वनाधिपति, (११) वनाहार, (१२) रूपयक्ष और (१३) यक्षोत्तम।

(६) राक्षस—भयंकर दर्शन वाले, भयानक मस्तक मुखादि अंगों वाले, अनेक आभूषणों के धारक तथा खटवा (खटिया) रूप ध्वजा के धारी होते हैं। इनकी ध्वजा वर्तुलाकार (गोल) होती है। इनके सात भेद हैं। वे ये हैं—

(१) भीम, (२) महाभीम, (३) विघ्न, (४) विनायक, (५) जलराक्षस, (६) राक्षसराक्षस और (७) ब्रह्मराक्षस।

(७) भूत—ये कृष्ण वर्ण वाले, सुन्दर रूपवान, सौम्य, दुबले, नाना भक्ति युक्त और सुलस काले रङ्ग की ध्वजा के धारी होते हैं इनके ९ नव भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) सुरूप, (२) प्रतिरूप, (३) अतिरूप, (४) भूतोत्तम, (५) स्कन्दिक, (६) महास्कन्दिक, (७) महावेग, (८) प्रतिछिन्न, और (९) आकाशग।

(८) पिशाच—ये सुरूप, सौम्य, दर्शनीय, हाथो और गले में मणि आदि रत्नालंकारों के धारक तथा कदम्बवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके १५ पन्द्रह भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) कुष्माण्ड, (२) पटका, (३) जोपा, (४) आह्नका, (५) काल, (६) महाकाल, (७) चौक्ष, (८) अचौक्ष, (९) तालपिशाच, (१०) मुखर पिशाच, (११) अधस्तारका, (१२) विदेह, (१३) महाविदेह, (१४) तूष्णीक और (१५) वनपिशाच।

मुनि के शव का क्या करना चाहिए ?

प्र०।—मुनि के मृतक शरीर का संघ के मुनि क्या करते हैं ?

उत्तर— नगर के समीप या मनुष्यों के गमनागमनादि के मार्ग मे किसी वसतिका में मुनि का मरण हो जावे तो मुनि उसे एकान्त जंगल मे डालते हैं। मुनीश्वर शरीर के अनुरागी नहीं होते हैं। वे तो शरीर मे जब तक आत्मा रहता है तब तक ही उसका वैयावृत्य करते हैं। शरीर से आत्मा निकल जाने पर शव के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। वे उसे स्वयं दग्ध नहीं करते और न किसी श्रावकादि को उसके दग्ध करने का उपदेश ही देते हैं। वे केवल उस शरीर को एकान्त वन मे जहां मनुष्यो आदि को बाधा न हो वहां रख देते हैं। जहां पर वह स्वयं धूप आदि से सूख जाता है अथवा वन के पशु-पक्षी उसका भक्षण कर लेते हैं।

साधु लोग वनविहारी होते हैं। यदि उनका मरण किसी वन मे, पर्वत की गुफा मे पर्वत के शिखर या कन्दरा मे, पुलों में, वृक्षो की कोटर में, श्मशान में एव नदियों के तट इत्यादि जन शून्य एकान्त स्थान पर हो जावे तो वहां उसे कौन उठावे ? वह मुनि शव वहां ही पड़ा रहता है।

प्रश्न—किसी विख्यात स्थान पर किसी मुनि का मरण हो जावे तब गृहस्थों को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—मुनि का मरण ज्ञात होने पर उनका कर्त्तव्य होता है कि वे मुनि के शव का विधि-पूर्वक दाह कर्म करें। शास्त्रों में कहा है :—

जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जा व होज्ज कालगदो।
देउलसागारित्ति व सिवियाकरणं पि तो होज्ज ॥ १६७६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जब जन समुदाय में मुनि का भक्तप्रत्याख्यान नामक समाधिमरण प्रसिद्ध हो जावे तब वसतिका के स्वामी का एवं सम्पूर्ण गृहस्थों का परम कर्त्तव्य होता है कि वे मुनीश्वर आर्यिका अथवा क्षुल्लकादि त्यागी के शव का दाह कर्म करें। शिविका (पालकी) बनाकर उसमें शव को स्थापित करके उसे दग्ध क्रिया करने के लिए प्रभावना सहित ले जावें।

प्रश्न—यदि आर्यिका समाधिमरण करें तब मुनीश्वरों की भांति ही करें या उनके लिए कोई विशेष विधान है ?

उत्तर—आर्यिकाओं की समाधिमरण विधि मुनीश्वरों के समान ही होती है। परन्तु उसमें थोड़ा सा अन्तर है। वह यह है कि आर्यिकादि स्त्रियों की वसतिका ग्राम के अति सन्निकट या ग्राम में ही होनी चाहिए। तथा समाधिमरण करने वाली आर्यिकादि की वसतिका का प्रदेश अत्यन्त गूढ़ होना चाहिए। जहां पर पुरुषों का दृष्टि प्रवेश भी न हो सके। आर्यिकाओं के नग्न होने का निषेध है। यदि कोई परम विरक्त आर्यिका समाधिमरण के लिए नग्न वेश धारण करे तो उसको वसतिका के गूढ़ प्रदेश से बाहर निकलने का सर्वथा निषेध किया गया

है। उसे दिगम्बर रूप को धारण कर उसी गुप्त स्थान में निवास करना चाहिए। वहां पर मनुष्यों का गमनागमन कभी भी न होना चाहिए। आर्यिका का समाधिमरण हो जाने पर कोई भी आर्यिका शव को लेजाने या दग्ध करने आदि के सम्बन्ध में गृहस्थों को नहीं कह सकतीं। क्योंकि वे भी उपचार से महाव्रत की धारण करने वाली हैं। वे कभी मोह वश रुदनादि नहीं कर सकतीं। उक्त बातों के सिवा सब विधि मुनियों के समान ही होती है।

आर्यिकाएँ तो सदा गृहस्थों के समीपवर्ती स्थान में ही रहती हैं; इसलिए उनके मुनि के समान शव को उठाकर एकान्तादि स्थान में रखने की आवश्यकता है।

प्रश्न—श्रावक लोग मुनीश्वर अथवा आर्यिकादि के शव को किस विधि से लेजावें ?

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता।
उट्टंतरक्खणट्ठं गामं तत्तो सिरं किच्चा ॥ १९८० ॥
कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं।
अट्ठिदअणियत्तं तेण पिट्ठदो लोयणं मुच्चा ॥ १९८२ ॥
तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए।
संथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥ १९८३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—पहले गृहस्थ शिविका (पालकी) बनावे। उसके पश्चात् मुनि आदि के शव को शिविका में स्थापित करे और संस्तर सहित उसको रस्सी से बांध दे। जिससे उठाने में वह सुरक्षित रहे। तथा बिना बांधे कभी २ मुर्दा शरीर ऐंठ कर उठ भी जाता है। बांधने से वह उठ नहीं सकता है। शव का सिर गांव की तरफ करे। एक मनुष्य कुश का पूला हाथ में लिए हुए आगे २ चले। मार्ग में बिना ठहरे शीघ्र २ चले जाना चाहिए। पीछे मुड़कर नहीं देखना चाहिए।

पहले ही देखे हुए स्थान पर जाकर वह जानकार मनुष्य उस कुश (डाभ) के पूले को बराबर बिखेर कर सम संस्तर करे।

प्रश्न—जहां पर कुश (दर्भ) न मिले वहां क्या करे ?

जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा । [भग. आ.]
संथरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवोच्छिण्णा ॥ १६८४ ॥

अर्थ—जहां पर भूमि सम करने के लिए कुश तृण न मिले तो प्रासुक चावल मसूर आदि के आटे से अथवा ईंटों के चूर्ण से अथवा प्रासुक कमलादि के केसर से या सूखे पत्तों आदि से मस्तक से लेकर पाव तक की भूमि को समान करे। उसमें ऊँचा नीचा प्रदेश न रखे।

संस्तर भूमि के सम न होने से निमित्त ज्ञान में हानि बतलाई गई है।

जो संस्तर ऊपर से विषम होगा तो उससे आचार्य का मरण एवं शरीर में व्याधि सूचित होती है। मध्य में विषम होने से संघ में प्रधान मुनि (ऐलाचार्य की मृत्यु या शारीरिक विशेष व्याधि सूचित होती है और यदि पांव के समीप में नीचे का संस्तर विषम होगा तो सघ के अन्य मुनीश्वरों का मरण या उनमें भयानक रोग उत्पन्न होने की सूचना होती है। इसलिए संस्तर भूमि को सम बनाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। उसमें किसी स्थान में विषमता ऊँचा-नीचापन न रहे इस विषय में पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

साधु के मृत शरीर को गाँव की ओर मस्तक करके उस सम किये हुए स्थान पर रखना चाहिए और शरीर के पास पिच्छिका रख देनी चाहिए। कहीं २ मृत साधु के दाहिने हाथ में पिच्छी स्थापित करने के लिए कहते हैं।

प्रश्न—ग्राम की तरफ सिर करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—यदि वह शव व्यन्तर देव के निमित्त से उठ खड़ा हो और उसका मुख ग्राम की तरफ हो तो वह ग्राम में प्रवेश करेगा इससे ग्राम के भीरु लोग भयभीत हो जावेंगे और जो अति भीरु होंगे वे प्राण भी छोड़ देंगे, इत्यादि अनेक उपद्रव होंगे इसलिए शव का मस्तक ग्राम की तरफ करने से उक्त उपद्रवों का निवारण होता है।

प्रश्न—क्षपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से किन २ शुभाशुभ का सूचक होता है ?

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु सव्वेसिं।
एको दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ॥ १६८८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि अल्प नक्षत्र में क्षपक का मरण हो तो समस्त संघ में सुख शान्ति रहती है। मध्यम नक्षत्र में मरण होने पर एक

और साधु का मरण सूचित होता है। और यदि महान् नक्षत्र मे मरण हो जावे तो दो अन्य साधुओं के मरण की सूचना होती है।

भावार्थ—शतभिषज, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा और ज्येष्ठा ये छह पन्द्रह मुहूर्त्त वाले नक्षत्र जघन्य नक्षत्र कहलाते हैं। इनमें से किसी नक्षत्र में या इनके अंश में क्षपक की मृत्यु हो जाने पर सबका क्षेम कुशल प्रतीत होता है। अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा और रेवती इन नक्षत्रों को मध्यम नक्षत्र कहते हैं। इनका काल तीस मुहूर्त्त प्रमाण होता है। इनमें से किसी नक्षत्र मे या इनके अंश में यदि क्षपक का मरण हो जावे तो एक दूसरे मुनि की मृत्यु होती है। तथा उत्तरा फाल्गुणी, उत्तराषाढ़ा, उतरभद्रा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा ये उत्कृष्ट नक्षत्र कहे जाते हैं। इनका काल पैंतालीस मुहूर्त्त प्रमाण है। इन नक्षत्रो में से किसी नक्षत्र में अथवा इनके अंश में किसी क्षपक की मृत्यु हो जावे तो दो मुनि और मरण करते हैं। ऐसा निमित्त ज्ञान से सूचित होता है।

प्रश्न—क्षपक का मरण आयु कर्म के आधीन है। यदि मध्यम या उत्कृष्ट नक्षत्र में क्षपक का मरण हो जावे तो उक्त उत्पात का निवारण करने का कोई उपाय है या नहीं ?

उत्तर—हां, उपाय है। और वह निम्न प्रकार है—

गणरक्खत्थं तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण।
एक्कं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥ १९९० ॥
तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि।
विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥ १९९१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—संघ की रक्षा के निमित्त मध्यम नक्षत्र में मरे हुए क्षपक के शव के समीप एक तृणमय प्रतिविम्ब की स्थापना करे। अर्थात् एक घास के पूले मे प्रतिविम्ब की कल्पना करके उस पूले की स्थापना करे और 'उस मुनि के स्थान में मैंने यह दूसरा (मुनि) स्थापित किया है, यह चिरकाल तक यहां रहे और तपस्या करे' ऐसा तीन बार उच्च स्वर से उच्चारण करे। उत्कृष्ट नक्षत्र में मृत्यु को प्राप्त हुए मुनि के निकट दो तृणमय प्रतिविम्ब की स्थापना करे। अर्थात् दो घास के पूलों में प्रतिविम्ब की कल्पना करके उन्हें स्थापित करे। तथा दोनों पूलों को स्थापन करके 'इन दोनों (मुनियों) के स्थान मे मैंने ये दो स्थापन किये हैं, ये चिरकाल तक यहां रहें और तप करें' ऐसा तीन बार उच्च-स्वर से उच्चारण करे।

र. प्र.

प्रश्न—यदि घास का पूला न मिले तो शान्ति के निमित्त क्या करना चाहिए।

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्ठियादिचुण्णेहिं।
कादव्वोथ ककारो उवरिंहिट्ठा यकारो से ॥ १९९२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तृण न मिलने पर चावल आदि के आटे से अथवा पुष्प की सूखी प्रासुक केसर या भस्म या ईंट अथवा पत्थर के चूर्ण से 'काय' ऐसा लिखे।

अथवा 'क' ऐसा लिखकर उसके ऊपर क्षपक के शव को स्थापन करे। तथा अर्हत्पूजा आदि से शान्ति करना भी इष्ट है ऐसा मूलाराधना नामक टीका मे कहा है—

महन्मध्यमनक्षत्रमृत शान्तिर्विधीयते ।
यत्नतो गणरक्षार्थं जिनार्चाकरणादिभिः ॥

अर्थ—उत्कृष्ट और मध्यमनक्षत्र में क्षपक का मरण होने पर गण की रक्षा के अर्थ यत्नपूर्वक जिन पूजादि क्रियाओं से शान्ति की जाती है।

आशय यह है कि संघ में शान्ति बनी रखने का महान् प्रयोजन है। वह जैसा साधुओं का कर्त्तव्य है वैसा श्रावकों का भी है। दोनों अपनेर पद के अनुसार अपना कर्त्तव्य करते हैं। साधुलोग तपश्चरण ध्यानादि द्वारा आगत विघ्न की शान्ति का उपाय करते हैं और श्रावक जिन पूजा दानादि द्वारा शान्ति, कर्म करते हैं। अतः श्रावको को जिन पूजादि कार्य करना उचित है और मुनियों को अनशनादि तपश्चरण व ध्यानादि का आचरण करना योग्य है। अथवा जिनेन्द्र देव की भाव पूजा मुनि भी कर सकते हैं; किन्तु द्रव्य पूजा श्रावक ही करते हैं।

क्षपक के शव के साथ पिच्छी व कमण्डलु भी स्थापित कर दे। यदि शिविका (पालकी) बनाई हो और उसमें उपकरण लगाये हों तो उनमें से जो उपकरण जिससे मांगकर लाये हो वे उनको वापिस दे दें और जो नहीं देने योग्य हों उनको वहीं स्थापित करदें।

प्रश्न—आराधक की वसतिका में जाकर समस्त संघ क्या करे ?

उत्तर—उसके पश्चात् हमको चारों आराधना की प्राप्ति हो इस हेतु से समस्त संघ को कायोत्सर्ग करना चाहिए। और क्षपक

की जहाँ आराधना हुई है उस वसतिका के अधिष्ठातृ देवता से सम्पूर्ण मुनि इच्छाकार करें अर्थात् हम सब संघ के मुनि यहां पर तुम्हारी अनुमति से रहना चाहते हैं-ऐसा कहना चाहिए।

अपने संघ के मुनि का मरण हो जावे तो उस दिन सम्पूर्ण संघ के मुनियों को उपवास करना चाहिए। यदि मुनियों की गोचरी हो जाने के बाद कोई मुनि मरण को प्राप्त हो जावे तो दूसरे दिन उपवास न करे। मरण के दिन स्वाध्याय करना वर्जित है। यदि दूसरे संघ में मुनि का मरण हो जावे तो उपवास करे या न करे अपनी इच्छा पर निर्भर है। किन्तु उस दिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—साधु की मृत्यु होने के तीसरे दिन का क्या कृत्य है ?

उत्तर—संघ के सुख सहित विहार के लिए तथा क्षपक की गति जानने के लिए तीसरे दिन क्षपक के शरीर का अवलोकन करना चाहिए। जितने दिन तक क्षपक के शरीर को वृक (भेड़िया आदि पशु और गृध्रादि पक्षी स्पर्श न करेंगे उसका शरीर अक्षत रहेगा उतने वर्ष पर्यन्त उस राज्य भर में क्षेम कुशल रहेगा। ऐसा सूचित होता है।

उस मृतक शरीर को या उसके अवयव को पशु पक्षी जिस दिशा में ले गये हों उस दिशा में यदि संघ विहार करे तो संघ में क्षेम कुशल तथा कल्याण होता है। ऐसा निमित्त शास्त्र में कहा गया है।

प्रश्न—मृत क्षपक की गति का ज्ञान कैसे होता है ?

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे।
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णायव्वो॥ १६६६॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि मृत क्षपक शरीर का उत्तमांग (सिर) या दांत पर्वत के शिखर पर पड़े हुए दिखाई दें तो समझना चाहिए कि वह क्षपक कर्म मल से रहित होकर सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ है।

जयनंदी के टिप्पण में कर्ममल का अर्थ मिथ्यात्वादि अल्प कर्म और सिद्धि का अर्थ सर्वार्थसिद्धि किया गया है। अर्थात् जिसके दांत अथवा सिर गिरि के शिखर पर पड़े हुए दिखाई दें तो उस क्षपक साधु के मिथ्यात्वादि का क्षय होगया है और वह सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। तथा प्राकृत टीका में एवं विजयोदया टीका में कर्ममल से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त हुआ है-ऐसा अर्थ किया गया है। उक्त दो मतों में जयनन्दी का मत बुद्धिग्राह्य प्रतीत होता है किन्तु दूसरे मत को बुद्धि स्वीकार नहीं करती; कारण कि यदि

अन्तकृत केवली भी होते तो देवों द्वारा उनका मोक्ष कल्याणक होना है। लेकिन देवो का आगमन न होने के कारण अन्य साधुओं के मोक्ष का निश्चय नहीं हो सकता है।

यदि क्षपक के मृतक शरीर का मस्तक उच्च प्रदेश मे दिखाई दे तो उसका जन्म वैमानिक देवों में हुआ प्रतीत होता है। यदि वह समभूमि में दीख पड़े तो उसकी उत्पत्ति ज्योतिष देवों मे एव व्यन्तरों मे निश्चित होती है। कोई कोई आचार्य समभूमि में मस्तक देखकर वानव्यन्तर जाति के व्यन्तर देवों में ही जन्म मानते हैं और यदि गड्ढे मे मस्तक दिखाई दे तो भवनवासी देवों में जन्म निर्धारित होता है।

क्षपक की गति के ज्ञान कराने वाले जो ऊपर निमित्त बताये हैं वे सूचना मात्र हैं। उनसे क्षपक की गति का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता है। यह तो केवलीगम्य है या अवधीज्ञान के गोचर हैं। इसलिए हम उसका पूर्ण निश्चय नहीं कर सकते हैं।

ते सूरा भयवंता आहुचइदूण संघमज्झम्मि।
आराधणापडायं चउप्पयारा हिदा जेहिं ॥ २००१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—वे मुनिराज क्षपक शूरवीर और पूज्य हैं जिन्होने संघ के मध्य प्रतिज्ञा लेकर आराधना ग्रहण की है।

भावार्थ—जिन महापुरुषों ने सांसारिक सुख से मुंह मोड़ कर इन्द्रियो के विषय और स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निरोधकर खड्ग धार पर चलने के समान मुनिव्रत को अङ्गीकार किया है वे धन्य हैं, जगत के पूज्य हैं। किन्तु जिन्होंने अपने शरीर को निःसार समझ रत्नत्रय की आराधना के लिए समाधिमरण सरीखे दिव्य कर्त्तव्य की प्रतिज्ञा लेकर अन्तरंग और बाह्य घोर तपश्चरण का आचरण कर शरीर और कषायों का शोषण करके समाधि पूर्वक मरण किया है अर्थात मरण पर्यन्त रत्नत्रय की आराधना का निर्वाह किया है वे जगत्पूज्य महामुनि धन्य हैं। वे महा भाग्यशाली व ज्ञानी हैं। जिन्होंने अभीष्ट फल (मोक्ष) देने वाली आराधना को प्राप्त किया है। उन्होंने किस दुर्लभ पदार्थ को प्राप्त नहीं किया है ? अर्थात् उन्होंने तीनों लोक में जो दिव्य पदार्थ हैं उन सबकी प्राप्ति करली है। जो महाभाग एक बार जघन्य आराधना का सेवन कर चुके हैं वे सात आठ भवों के अनन्तर अवश्य मोक्ष के अधिकारी होते हैं। ऐसे भाग्यशाली महात्मा की महिमा का वर्णन कहां तक किया जावे ? उनकी जितनी स्तुति की जावे वह थोडी है।

वे निर्यापक मुनि भी धन्य हैं, वे अपूर्व भाग्यशाली हैं, जिन्होंने जगत्पूज्य क्षपक की आराधना को सफल बनाने में पूर्ण यत्न पूर्वक सहायता की है। आदर भक्ति से अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर अनेक क्लेशों को सहकर रात दिन क्षपक का वैयावृत्य किया है। वे

परिचारक महाभागों का जन्म भी धन्य है। उन्हें ने क्षपक की आराधना को निर्विघ्न क्या किया है, अपनी भविष्य में होने वाली आराधना को निर्विघ्न बनाया है। जो साधु दूसरे की आराधना को निर्विघ्न बनाते हैं वे निकट भविष्य में सुख पूर्वक अपनी आराधना की पूर्ति करते हैं। शास्त्र में कहा गया है।

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥ २००४ ॥
जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥ २००५ ॥ [भग. आ.]

इनका आशय ऊपर आगया है।

जो धर्मात्मा क्षपक के दर्शन के लिए यात्रा करते हैं वे भी पुण्यशाली होते हैं।

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति पावकम्ममलहरणे।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥ २००६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—उन मनुष्यों का भी जन्म कृतार्थ है जो अनादिकाल से आत्मा के साथ चिपके हुए पापकर्ममल को धोने के लिए क्षपक रूप तीर्थ में श्रद्धा व भक्ति सहित स्नान करने के लिए जाते हैं।

भावार्थ—भक्त प्रत्याख्यान करके संन्यास मरण करने वाला क्षपक महान् पवित्रात्मा है। ऐसे पवित्रात्माओं के स्पर्श से क्षेत्र भी तीर्थ बन जाते हैं। उन तीर्थों में जाकर लोग स्नान करके अपने को पवित्र हुआ मानते हैं। जिसके चरण स्पर्श मात्र से भूमि तीर्थ बनती है उसके दर्शन करने से पाप कर्म का क्षय हो तो इसमें आश्चर्य क्या है। इसलिए जिन भाग्यशाली पुरुषों को ऐसे क्षपक मुनीश्वर का दर्शन लाभ होता है वे धन्य हैं। ऐसा सुयोग पाकर प्रत्येक धार्मिक पुरुष को दर्शन स्पर्शन सेवादि सुकृत्य करके अपने जन्म को सफल बनाना चाहिए।

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवाधणेहिं जदि उसिदा।
तित्थं कधं ण हुज्जा तवगुणरासी सयं खवओ ॥ २००७ ॥ [भग. आ.]

सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमितीरितम् ।
अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

अर्थ—अपने गण (संघ) में ही रहकर समाधिमरण सम्पन्न करने वाले मुनि के अविचार निरुद्ध भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसके अतिरिक्त भक्त प्रत्याख्यान की सब प्रक्रिया पूर्वोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

इस निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान के प्रकाश, और अप्रकाश ये दो भेद होते हैं।

जो भक्त प्रत्याख्यान (समाधिमरण) प्रकट रूप में किया जाता है उसे प्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं और जो भक्त प्रत्याख्यान क्षपक के मनोबल (धैर्य) की हीनता तथा क्षेत्र की अयोग्यता आदि से प्रकट नहीं किया जाता है उसे अप्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

यदि क्षपक धैर्य का धारण करने वाला न हो और क्षुधादि परीषहों के प्राप्त हो जाने पर पीड़ित होने लगे अथवा वसतिका एकान्त स्थान में न हो, या काल अतिरुक्त हो, या क्षपक के पुत्र मित्रादि बन्धुगण सन्यास (भोजनादि के त्याग) में विघ्न बाधा उपस्थित करने वाले हों तो क्षपक का भक्त प्रत्याख्यान मरण गुप्त रखना चाहिए, क्योंकि प्रकाशित होने पर संन्यास कार्य में विघ्न बाधाओं की पूरी सभावना रहती है।

प्रश्न—निरुद्धतर भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते है ?

उत्तर—अग्नि आदि अचेतन कृत तथा सर्प व्याघ्रादि चेतन कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर या हैजा प्लेग आदि मारक रोगों की अचानक उत्पत्ति होने पर आयु के शीघ्र क्षय होने का निश्चय हो जावे उस समय सब प्रकार के आहारादि का त्याग करके आचार्य के निकट दीक्षा से लेकर अब तक के सब अपराधों की आलोचना गर्हा निन्दा करके आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो रत्नत्रय की आराधना में जब तक सुध बुध रहे तब तक लगे रहने को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं। शास्त्रों में कहा है—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिच्छ पडिणीयतेणमेच्छेहिं ।
मुच्छा विसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती ॥ २०१८ ॥ [भग. आ.]
जाव ण वाया खिप्पदि वलं च विरियं च जाव कायम्मि ।

तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खित्तं ॥ २०१६ ॥

णच्चा सवट्ठिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।

गणियादीणं सण्णिहिदाण आलोचए सम्मं ॥ २०२० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सर्प, अग्नि, सिंह, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, तथा म्लेच्छ और मूर्छा हैजा आदि प्राण-घातक रोग के निमित्त से मृत्यु की कारण भूत वेदना या मरण के उपस्थित होने पर जब तक बोलने की शक्ति बनी रहे तथा जब तक शरीर में बल व वीर्य विद्यमान रहे तथा तीव्र वेदना से जब तक सावधानता का नाश न हो तब तक आयु को शीघ्र नष्ट होते हुए जानकर आचार्य के चरणों की शरण ग्रहण करे और उनके समीप अपनें सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करे एवं सम्यक प्रकार, रत्नत्रय की आराधना में तत्पर हुआ अपने शरीर का, उपकरणों का, तथा आहार संस्तर व वसतिका का और परिचारकों का त्याग करदे अर्थात इनपर से ममत्व भाव को हटाले।

आशय यह है कि विपत्ति आने पर बल वीर्य का ह्रास हो जाने से अन्य संघ में जाने के लिए असमर्थ हुए साधु को निरुद्ध कहते हैं। और जब साधु उससे अधिक आकस्मिक विपत्ति आने पर अति असमर्थ होता है उस समय आचार्य का संयोग न मिले तो अन्य साधु के निकट आलोचना कर रत्नत्रय की आराधना में सावधान रहने को निरुद्धतर कहते हैं और उसके मरण को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

प्रश्न—परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—सर्प, व्याघ्र, अग्नि आदि के उपद्रव के कारण जिन मुनीश्वरों की बोलने की शक्ति भी नष्ट हो गई हो जब वे मुनीश्वर अपने मन ही मन में अरिहन्त सिद्ध आचार्यादि परमेष्ठी का स्मरण व ध्यान कर अपने दोषों की आलोचना कर अपने आत्म ध्यान में अर्थात् रत्नत्रय की आराधना में दत्तचित हो जावें तब उनके मरण को परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। जैसा कि कहा है—

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।

तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अविचारं ॥ २०२२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जब साधु के शरीर में सर्पादि के विष का संचार हो जावे या किसी अग्नि आदि के उपद्रव से अत्यन्त पीड़ित हो जावे और उसकी वचन प्रवृत्ति का भी भंग हो जावे, बोलने की शक्ति भी नष्ट हो जावे उस समय परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण

होता है अर्थात् वचन उच्चारण करने की शक्ति न रहने पर परमनिरुद्ध मरण होता है। उस समय उस साधु को चाहिए कि अपने अन्तःकरण में अर्हन्त सिद्ध साधु को धारण कर शीघ्र आलोचना करले और शान्तचित्त से अपनी आत्मा के सिवा शरीरादि सब पदार्थों से ममता हटाकर आत्म ध्यान में तल्लीन रहे। उस साधु के मरण को परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

जैसी आराधना की विधि पूर्व सविस्तर वर्णन की गई है वैसी ही शेष विधि इस अविचार भक्त प्रत्याख्यान में भी समझना चाहिए।

पूर्वोक्त विधि से चार प्रकार की आराधना का प्रारम्भ करके यदि पूर्वोक्त सर्प विष अग्नि आदि आयु की शीघ्र उदीरणा (क्षय) करने वाले कारणों के उपस्थित हो जाने पर कोई आराधक शीघ्र प्राण त्याग करने का अवसर प्राप्त हो जावे तो कोई साधु इस पंडित मरण से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं और कोई २ मुनीश्वर उक्त आराधना के फल स्वरूप वैमानिक देवों मे उत्पन्न होते हैं। तथा अपने २ भावो के अनुसार उत्तम मध्यमादि देवों में जन्म धारण करते हैं।

शङ्का—इतने अल्पकाल में मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान- बहुत लम्बे काल तक आराधना का सेवन करके ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है ऐसा नहीं समझना चाहिए। कोई २ लघुकर्मा मुनिराज अंन्तर्मुहूर्त्त काल में ही रत्नत्रय की आराधना करके संसार समुद्र को पार कर लेते हैं।

वर्धन नाम नृपति अनादि मिथ्यादृष्टि था। वह श्री देवाधिदेव ऋषभ तीर्थंकर के पादमूल में आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर स्वपर का भेद-विज्ञानी होकर क्षणमात्र में निर्वाण पद का अधिकारी हुआ। जैसा कि कहा है :—

सिद्धो विवर्धनो राजा चिरं मिथ्यात्व भावितः।
वृषभस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकल्मषः ॥ २१०० ॥

इसका अर्थ ऊपर आगया है।

सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि।
सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥ २०२८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—श्री ऋषभ नाथ तीर्थंकर से लेकर शांतिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरों के जिस दिन दिव्य-ध्वनि की उत्पत्ति हुई थी उसी दिन कई महापुरुषों के मुनिदीक्षा केवलज्ञान और निर्वाण ये तीनों कार्य अन्तर्मुहूर्त्त काल मे निष्पन्न हुए।

इंगिणी मरण

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जितु लिंग कप्पं च ।
पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥ २०३१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो महानुभाव निर्ग्रन्थलिंग धारण करने योग्य है, अर्थात् दिगम्बर भेष धारण करने के लिए जो अयोग्यता पहले बता आये हैं उनसे रहित है, वह मुनिदीक्षा धारण कर आगम का अवगाहन करता है। आचारांगादि चारित्र-धर्म के निरूपण करने वाले तथा अन्य आगम ग्रन्थों का मनन करता है। विनय और समाधि में परिणमन करता है।

भावार्थ—पण्डितमरण का द्वितीय कल्प इंगिणी मरण है। इंगिणी मरण करने वाला साधु अपना वैयावृत्त्य आप खुद करता है। दूसरे से अपना वैयावृत्त्य नहीं करवाता है। जिसने आगम में वर्णन किये हुए मुनि पद धारण करने की योग्यता होने पर जिन लिंग (दिगम्बर भेष) को धारण किया है, तथा आचारांगादि आगम अथवा आचार के प्रतिपादक अन्य शास्त्रों में भले प्रकार अवगाहन किया है, उनके रहस्य को सम्यक प्रकार से जान लिया है, अपने आत्मा को विनय और समाधि में प्रवृत्त किया है, ऐसा साधु इंगिणी मरण के लिए उद्यत होता है। यदि आचार्य इस पंडित मरण में प्रवृत्ति करना चाहे तो उसे उचित है कि वह अपने संघ को इंगिणी मरण की विधि के साधन करने योग्य बनावे, पश्चात् वह एलाचार्य की स्थापना करके उसे संघ संचालन करने के योग्य उचित उपदेश (जैसा भक्त प्रत्याख्यान मरण में कह आये हैं वैसा उपदेश) देकर सम्पूर्ण संघ से अपना सम्बन्ध छोड़कर उससे पृथक हो जावे और संघ के वृद्ध बाल आदि सब मुनियों से क्षमा याचना करे। रत्नत्रय के पालन में जो अतिचार लगे हों उनकी आलोचना करे। संघ में आचार्य की स्थापना करने के अनन्तर सम्पूर्ण संघ को भी पूर्व की भांति उपदेश देवे। मैं जीवन पर्यन्त तुम से पृथक होता हूँ ऐसा कहकर अपने को कृतार्थ मानता हुआ आनन्द से प्रफुल्लचित्त होकर वहां से प्रयाण करे।

प्रश्न—अपने संघ से निकलकर आचार्य अथवा अन्य मुनि क्या करे ?

एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं च थंडिले जोगे ।
पुढवी सिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥ [भग. आ.]

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिर मधव पुव्वसिरं ॥ २०३६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—निज संघ से निकलकर योग्यमुनि वा आचार्य ऐसे स्थंडिल प्रदेश (कठिन भूमि प्रदेश) का आश्रय ले जो समतल हो और ऊंचा हो,जिसमें छिद्र व बिल न हो, तथा जीव जन्तु रहित हो। अथवा पाषाण शिला हो उसपर सस्तर की रचना करे। संस्तर बनाने के लिए बिना सधि (जोड़) वाले, छेद रहित, निर्जन्तुक व कोमल तृण पास के गाव या नगर मे जाकर गृहस्थों से याचना कर ले आवे। तृण उतने ही लंबे जिनपर उसका शरीर स्थिरता को प्राप्त हो सके और उनकी प्रतिलेखना भी अच्छी तरह कर सके। उन लाये हुए तृणों (घास) को स्थडिल भूमि या शिला पर बड़े यत्न से बिछावे अर्थात् तृणों को पृथक् २ कर देख शोधकर तथा संस्तर भूमि को पिच्छी से प्रमाजन करके संस्तर की रचना करे। अलग २ बिखेर कर शय्या रूप बिछावे। उत्तर दिशा में या पूर्व दिशा में संस्तर का शिर करे अर्थात् पूर्व या उत्तर दिशा में मस्तक रखने योग्य तृण का उपधान (तकिया) बनावे । संस्तर की रचना करने के पश्चात् अपने मस्तक हाथ पांव आदि समस्त शरीर के अवयवों का पिच्छी से प्रमार्जन करे। तत्पश्चात् इंगिणी मरण करने में प्रवृत्त हुआ वह साधु उस संस्तर पर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके खड़ा हो जाता है और मस्तक व हाथ जोड़कर अन्तःकरण मे परिणामों को उज्ज्वल करता है। अरिहंत, सिद्धादि को हृदय मे विराजमान कर उनके समीप अपने पूर्व कृत अपराधो की आलोचना करता है। निन्दा गर्हा करता है। उससे आत्मा को निर्मल करता हुआ रत्नत्रय को पवित्र बनाता है। अपनी लेश्या को विशुद्ध करता है। यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है तथा समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग करता है अर्थात उपकरणों से तथा शरीर से भी ममत्व हटा लेता है। अतः वह आगत परीषह और उपसर्गों का धैर्य से सहन करता है। अपने अन्तःकरण को निर्विकार रखता हुआ धर्मध्यान का आश्रय लेता है।

वह क्षपक महात्मा उक्त संस्तर पर कायोत्सर्ग मे खड़ा रहकर या पर्यंक (पालथी) आदि आसनों से बैठकर या एक पार्श्व (पसवाड़े) बाजू से लेटकर धर्मध्यान में तत्पर रहता है। वह मुनिराज अपनी शरीर सम्बन्धी तथा प्रतिलेखनादि सब क्रियाएं अपने आप करता है।

उपसर्ग रहित अवस्था में प्रतिलेखन, प्रतिष्ठापना समिति, शौच क्रिया के पालन करने में वह सदा सावधान रहता है। किसी कार्य में वह दूसरों की सहायता नहीं लेता है।

यदि पूर्व के शत्रु किसी देव के द्वारा अथवा प्रतिपक्षी किसी मनुष्य के द्वारा अथवा दुष्ट तिर्यंच द्वारा किसी प्रकार का उपसर्ग उपस्थित हो जावे तो वह धीर वीर महामना मुनीश्वर उसका प्रतीकार नहीं करता है। उसके धैर्य रूपी दृढ कवच को घोर उपसर्ग रूपी तीक्ष्ण

शस्त्र भेदन नहीं कर सकते हैं। उसके अन्तःकरण में लेशमात्र भी क्षोभ नहीं होता है। क्योंकि उनमें पूर्ण कष्ट-सहिष्णुता होती है। इस इंगिणी मरण की आराधना करने वाले महामुनि होते हैं। इनके आदिम तीन उत्तम संहनन होते हैं। हीन संहनन का धारक इस पंडित मरण का अधिकारी नहीं हो सकता। उनका संस्थान (शरीर का आकार) भी उत्तम होता है। वे निद्रा-विजयी होते हैं। उनका शारीरिक बल एवं आत्म-पराक्रम भी अपूर्व होता है।

वे आत्मध्यान में लवलीन रहते हैं। उनके तपश्चरण के प्रभाव से वैक्रियिक ऋद्धि, आहारक ऋद्धि, चारण ऋद्धि, आदि अनेक ऋद्धियां उत्पन्न हो जाती हैं फिर भी वे उनका उपयोग नहीं करते।

वे सदा मौनव्रत धारण करने हैं। रोगादि की तीव्र वेदना होने पर भी उसका इलाज नहीं करते हैं। तथा शीत उष्ण भूख प्यास आदि का प्रतीकार करने की इच्छा तक नहीं करते हैं।

वीभत्स और भयानक रूप धारण करने वाले भूत वेताल राक्षस शाकिनी पिशाचिनी आदि क्षोभ उत्पन्न करने के लिए आये हुए दुष्ट देवी देवताओं के अनेक प्रयत्न करने पर भी जिनको लेश मात्र भी त्रास उत्पन्न नहीं होती है।

अनेक सुन्दर रूपवाली किन्नर किम्पुरुषादि की देवकन्याएं उनको लुभाने का प्रयत्न करती हैं तो भी उनका मन-सुमेरु चलित नहीं होता है।

यदि सम्पूर्ण जगत् का पुद्गल समूह दुःख जनक पर्याय धारण कर उन धैर्य-धुरन्धर को पीड़ा देने के लिए उपस्थित हो जावे तो भी उनका चित्त ध्यान से च्युत नहीं होता है।

अथवा समस्त पुद्गल सुख जनक पर्यायों को धारण कर सम्मिलित हुआ उन परम ध्यानी को सुख देने के लिए चरणों में लौटा करे तो भी उन्हें विचलित करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है।

प्रश्न—व्याघ्र सिंहादि के द्वारा प्राणियों से व्याप्त भूमि पर गिरा देने पर वह साधु क्या करते हैं?

सच्चित्ते साहरिदो तत्थोवेक्खदि वियत्तसव्वंगो।
उवसग्गे य पसंते जदणाए थंडिलमुवेदि ॥ २०४९ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हरी घास या अन्य जीवों से व्याप्त भूमि में इंगिणी मरण करने वाले साधु को यदि व्याघ्रादि लेजाकर फेंक दें तो भी वह मुनीश्वर उपसर्ग काल पर्यन्त शरीर से मोह ममत्व रहित हुए परम शान्ति का आश्रय लेकर वहां पर ही ध्यान मे लीन रहते हैं और उपसर्ग दूर हो जाने पर स्वयंमेव यत्न से स्थंडिल भूमि की ओर चले आते हैं।

इस प्रकार वे मुनिराज उपसर्ग और कषायों को जीतते हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति द्वारा मन वचन काय की क्रियाओं को रोककर आत्म-ध्यान मे अपने को लगाते हैं। आध्यात्मिक तत्त्वो का चिन्तन करते हैं। इसके अतिरिक्त किसी विषय में उनकी चित्त-प्रवृत्ति नहीं ठहरती है। वचन का उच्चारण नहीं करते; क्योंकि उन्होंने मौन व्रत धारण किया है। काय से भी तो यदि कोई क्रिया करनी पड़ती हो तो वही क्रिया करते हैं जो आत्मध्यान की साधक होती है।

इस लोक और परलोक के पदार्थों में, जीवित रहने और मृत्यु की प्राप्ति में, सांसारिक सुख में और दुःख में न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं। विपत्ति मे धैर्य धारण कर दुःख से कभी नहीं घबराते हैं। केवल आत्म-स्मरण मनन चिन्तन और ध्यान मे लवलीन रहते हैं।

वे महामुनि वाचना, पृच्छना, परिवर्तन (पाठ) और धर्मोपदेश इन चार प्रकार के स्वाध्याय को छोड़कर केवल अनुप्रेक्षा (चिन्तन) स्वाध्याय को ही करते हैं। दिन का पूर्व भाग, मध्याह्न (दिन का मध्य भाग), दिन का अन्त भाग और अर्धरात्रि इन चार कालों में तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि होती है। ये स्वाध्याय के काल नहीं माने गये हैं। इनमे भी वे अनुप्रेक्षा (चिन्तन) रूप स्वाध्याय करते हैं।

तात्पर्य यह है कि रात्रि दिवस आठों पहर तत्त्व-चिन्तन में रत रहते हैं। निद्रा नहीं लेते हैं। यदि लेना ही पड़े तो अल्प निद्रा लेकर प्रमाद रहित हो पुनः तत्त्व-चिन्तना करने लगते हैं।

प्रश्न—इंगिणी मरण विधि का आचरण करने वाले मुनियों को स्वाध्याय काल का ध्यान (खयाल) रखना पड़ता है, उससे उनके चित्त में विक्षेप होता है तथा क्षेत्र अशुद्ध होने पर ध्यान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है; अतएव आपने उनके आठों पहर चौबीस घण्टे आत्मध्यान कैसे कहा ?

उत्तर—उन मुनिराज के स्वाध्याय के काल की गवेषणा और क्षेत्र की शुद्धि नहीं होती है। उनको तो श्मशान मे भी ध्यान करने का निषेध नहीं किया गया है।

प्रश्न—क्या वे मुनि के छह आवश्यक (सामयिकादि) कर्म भी नहीं करते हैं ? तथा उपकरणादि का प्रतिलेखन भी नहीं

करते हैं ?

उत्तर—वे यथासमय छह आवश्यक कर्त्तव्य कर्मों का आचरण अवश्य करते हैं। उपकरणों का प्रतिलेखन भी प्रयत्न पूर्वक प्रातः और सायं दोनो समय बराबर करते हैं। किन्तु यदि आवश्यक कम में स्खलन होजावे 'मिथ्या मया कृतं' मैंने मिथ्या किया ऐसा बोलते हैं और वन्दनादि क्रिया के लिए जाते समय 'आसिका' शब्द और वहां से निकलते समय 'निषीधिका' शब्द का उच्चारण करते हैं।

प्रश्न—उन महामुनीश्वरों के यदि पांव में कांटा लग जावे या नेत्र में कुछ गिर पड़े तो वे उन्हें (कंटकादि को) अपने हाथ से निकालते हैं या नहीं ?

उत्तर—उनके पादादि में कंटकादि लग जावे या आंखों मे रज कूड़ा आदि गिर जावे तो उसको वे अपने हाथ से नहीं निकालते हैं। न किसी को निकालने के लिए कहते हैं। यदि स्वयं दूसरा कोई मनुष्य निकालने लगे तो वे मौन धारण करते हैं। रोगादि का प्रतीकार भी नहीं करते हैं। तपश्चरण के प्रभाव से उत्पन्न हुई विक्रिया, चारण, क्षीरस्रावित्व आदि ऋद्धियों का उपयोग भी नहीं करते हैं।

प्रश्न—इंगिणी मरण विधि का पालन करने वाले मौन व्रती मुनीश्वर किसी के प्रश्न करने पर उत्तर देते हैं या नहीं ?

उत्तर—देव या मनुष्य के धर्म विषयक प्रश्न करने पर थोड़ा धर्मोपदेश भी देते हैं ऐसा दूसरे आचार्यों का मत है।

इस प्रकार इंगिणी मरण विधि का साधन कर कई कर्म-क्लेश का नाश कर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं और कई वैमानिक देव होते हैं।

इस प्रकार इंगिणी मरण का वर्णन समाप्त हुआ।

पंडितमरण का तृतीय भेद प्रायोपगमन

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥ २०६४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—भक्त प्रत्याख्यान विधि का आचरण करने वाला मुनि अपना वैयावृत्त्य आप भी करता है तथा दूसरे से भी करवाता है। इंगिणी मरण विधि का पालक अपना वैयावृत्त्य दूसरे से नहीं करवाता, वह अपना वैयावृत्त्य स्वयं करता है। किन्तु प्रायोपगमन नामक पंडित मरण का आचरण करने वाला महामुनीश्वर अपना वैयावृत्त्य आप भी नहीं करता है और दूसरों से भी नहीं करवाता है। उसके तृणों का संथारा

भी नहीं होता। उसके लिए सर्व प्रकार की शरीर-शुश्रूषा वर्जित है।

प्रश्न—रोगादि से पीड़ित होने पर औषधादि का सेवन, तथा परीषह उपसर्ग का निवारण, कंटकादि का उद्धरण (निकालना) आदि क्रियाएँ वे स्वयं नहीं करते हैं, न दूसरे से करवाते हैं और कोई करना चाहे तो न करने देते हैं। किन्तु मलमूत्रादि का निराकरण तो वे अवश्य करते ही होंगे?

उत्तर—वे महामुनीश्वर प्रयोग से अर्थात् स्व या परके प्रयत्न से मलमूत्रादि का निराकरण भी नहीं करते हैं। कहा है :—

सो सल्लेहिद देहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि।
उच्चारादिविकिंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥ २०६५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—प्रायोपगमन मरण विधि का प्रारम्भ करने वाला महामुनीश्वर पहले से अपने शरीर को सम्यक् प्रकार से इतना कृश कर लेता है कि उसके शरीर मे केवल अस्थि और चर्म ही शेष रह जाता है। पश्चात् प्रायोपगमन संन्यास विधि का प्रारम्भ करता है। अतएव उसके मलमूत्र की किसी प्रकार की बाधा नहीं होती है। बाधा के अभाव में स्व तथा परके प्रयत्न से मलमूत्र का निराकरण करने की आवश्यकता ही नहीं होती है।

प्रश्न—प्रायोपगमन सन्यास विधि का सेवन करने वाले महामुनीश्वर को यदि व्याघ्रादि किसी दुष्ट तिर्यंच ने अथवा किसी पूर्व जन्म के वैरी मनुष्य या देव ने जीव जन्तुओं से संकुल भूमि भाग में लेजाकर फेंक दिया हो तो वे क्या करेंगे? वहां ही रहेंगे या वहां से उठकर अन्य जीव जन्तु रहित स्थान मे चले जावेंगे?

उत्तर—वे महामुनीश्वर परम धैर्य के धारक व एकाग्रचित्त होते हैं। वे वहां से नहीं उठते। उसी जगह आत्मध्यान में लीन रहते हैं। शास्त्र मे कहा है :—

पुढवीआऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो।
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउगं पालए तत्थ ॥ २०६६ ॥ [भग. आ]

अर्थ—प्रायोपगमन विधि का सेवन करने वाले परम तपोधन को यदि कोई विरोधी मनुष्य या देव सचित्त पृथ्वी पर नदी समुद्रादि जलाशय में, दहकती हुई अग्नि के पुंज में, लहराती हुई सस्य आदि वनस्पति सहित बीहड़ वन मे, या जीव जन्तु से व्याप्त किसी

भयानक प्रदेश में लेजाकर पटक दे तो वे परम धीर वीर मुनीश्वर वहां से नहीं उठते हैं। आयु पर्यंत उसी स्थान में ज्यों के त्यों निश्चल रहकर आत्मध्यान में लीन रहते हैं।

मुनिमात्र जल स्नान के त्यागी होते हैं। यदि कोई अज्ञानी जीव भक्ति के वश उनका जलसे अभिषेक करने लगे या गंध पुष्पादि से पूजा करने लगे तो वे उस पर प्रेम नहीं करते हैं। तथा कोई विरोधी जीव उनपर शस्त्रादि का प्रहार करने लगे तो वे उस पर क्रोध नहीं करते हैं। कहीं भी वे उठा कर गिरा दिये जावें तो ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे। एकाग्रचित्त हो आत्म-स्वरूप में मग्न रहना ही वे अपना कर्तव्य समझते हैं।

उपसर्ग से हरण किये हुए महामुनि का अन्य स्थान में मरण होजाने पर वह नीहार मरण कहलाता है और उपसर्ग के अभाव में मुनिराज का जो स्वकीय स्थान में मरण होता है वह अनीहार मरण कहलाता है। इस प्रकार प्रायोपगमन सन्यास का वर्णन हुआ।

प्रश्न—उक्त तीन पंडित मरण के भेदों के अतिरिक्त भी पंडित मरण होता है या नहीं ?

आगाढे उवसग्गे दुब्भिक्खे सव्वदो वि दुत्तारे।
कदजोगिसमाधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति॥ २०७२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—बलवान् (प्राणघातक) उपसर्ग के प्राप्त होने तथा दुर्निवार दुष्काल पड़ जाने पर तथा अन्य आयु नाशक कारणों के उपस्थित होने पर परीषह उपसर्ग का सहन करने में समर्थ धीर वीर मुनीश्वर रत्नत्रय की साधना के लिए आत्मध्यान में लीन हुए प्राण त्याग करने में उत्साही होते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार उपसर्गादि आने पर आत्म ध्यान में लीन होकर प्राणों का उत्सर्ग करने वाले परम ध्यानी मुनि कौन २ हुए हैं ? उनका उदाहरण दीजिए।

उत्तर—धर्मसिंह वृषभसेनादि अनेक पुरुषपुंगव हुए हैं। जिन्होंने भयानक उपसर्गों के आने पर रत्नत्रय की आराधना करते हुए शान्ति से प्राणों का त्याग किया है।

कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुच्छेण।
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरिं विप्पजहिदूण॥ २०७३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—अयोध्या के राजा धर्मसिंह ने चन्द्रश्री नाम की अपनी पत्नी का त्यागकर कोल्लगिरि नामक पर्वत पर गृद्धपिच्छ से युक्त होकर अपने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) की साधना की।

पाटलीपुत्र (पटना) नगर में अपनी सुता के निमित्त मामा का उपसर्ग सहकर वृषभसेन नाम के पुरुषोत्तम ने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) का साधन करते हुए वैखानस मरण किया अर्थात् श्वास रोध कर आराधना की।

इस प्रकार अनेक उदाहरण आगम में विद्यमान हैं। जिन्होंने प्राण घातक संकट के आ जाने पर शान्ति से पंडित मरण कर आत्मा के कल्याणकारी सम्यग्दर्शनादि की साधना में बाधा न आने दी।

सारांश यह है कि यह शरीर किसी न किसी निमित्त को पाकर अवश्य नष्ट होने वाला है। इस मनुष्य शरीर को रत्नत्रय धम के आचरण मे लगाने से ही इस की सफलता है। इस लिए प्राणों का घात करने वाले भयानक संकट के उपस्थित होने पर भी भेद विज्ञान रूपी सजीवनी औषधि का सेवन करते हुए सब पदार्थों से ममत्व हटाकर आत्म ध्यान में-आत्मा के स्वरूप चिन्तन में—ही चित्त को एकाग्र करना उचित है।

अब पण्डित पण्डित मरण का निरूपण करते हुए प्रथम जीवन्मुक्ति की उत्पत्ति का क्रम दिखलाते हैं।

साहू जहुत्तचारी वट्टंतो अप्पमत्तकालम्मि।
झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठिकामो खवगसेढिं ॥ २०८८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ--आचार शास्त्रों (आचारांगादि) के अनुसार आचरण करने वाला अप्रमत्तगुण स्थान में वर्त्तमान साधु क्षपक श्रेणि में प्रवेश करने का इच्छुक हुआ उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होकर धर्मध्यान का आश्रय लेता है।

धर्म ध्यान का अन्तरङ्ग कारण आत्म-विशुद्धि है, उसकी निरन्तर प्राप्ति होती रहे इसके लिए बाह्य निमित्त की आवश्यकता होती है। अतः ध्यान के बाह्य निमित्त का निरूपण करते हैं—

सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जंतुए अणुण्णाए।
उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेत्तु पलिअंकं ॥ २०८८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ-जिस स्थान पर मुनि ध्यान करे वह उसके स्वामी की आज्ञा से प्राप्त हो अर्थात् क्षेत्र के स्वामी मनुष्य देवादि से आज्ञा लेली गई हो। तथा वह स्थान पवित्र हो, समतल और जीव जन्तुओं से रहित हो। उस स्थान में ध्याता निश्चल चार अंगुल अन्तर वाले दोनों पाँवों पर खड़ा रह कर अथवा पद्मासन, वीरासन, पर्यंकासनादि मे से जो आसन सुखकर प्रतीत हो उस आसन से बैठकर या उत्तानशयनादि से सोते हुए ध्यान कर सकते हैं। ध्यान की विधि पहले ध्यान के वर्णन में विशद रूप से कह आये हैं। उसको लक्ष्य में रखकर जिस प्रकार प्रमाद रहित हुआ चित्त की एकाग्रता कर सके वैसे ध्यान का परिकर ग्रहण करे। ध्याता की लेश्या अतिविशुद्ध होनी चाहिए और जिनागम में वर्णित जीवादि तत्त्वों की तरफ अपना उपयोग केन्द्रित करे और निरन्तर आत्म परिणामों की धारा को उत्तरोत्तर निर्मल करता हुआ धर्म ध्यान मय उपयोग करे।

धर्म ध्यान में लीन हुआ वह मुनि सप्तम गुण स्थान में अनन्तानुबन्धी क्रोध माना माया लोभ इन चार प्रकृतियों का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादि उत्तर प्रकृति रूप) करता है तथा मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति का क्रम से क्षय करता है। इन सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यक् दृष्टि होकर क्षपक श्रेणि के सम्मुख होता है और सप्तम गुण स्थान के सातिशय भाग में अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

सारांश यह है कि सम्यक्त्व की घातक उक्त सात प्रकृतियों का क्षय चौथे गुण स्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुण स्थानों में कहीं भी होता है। जिस मुनि ने पहले के चतुर्थादि तीन गुण स्थानों में उक्त सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त किया है वह सातवें गुणस्थान में उनका क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणी का आरोहण करता है और वहां पर अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

इसके पश्चात् वह क्षपक मुनि क्षपक श्रेणि की पहली सीढी जो अपूर्वकरण है उस पर आरूढ़ होता है। ये परिणाम कभी पहले प्राप्त नहीं हुए हैं इसलिए इनको अपूर्वकरण कहते हैं। क्योंकि अनादि काल से इस जीव ने धर्म्यध्यान का आराधन कर शुक्लध्यान का प्रथम भेद कभी प्राप्त नहीं किया है। अतः यह अपूर्व (पूर्व काल में अप्राप्त) करण (परिणाम) कहलाते हैं।

जब वह मुनि उक्त प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर लेते हैं तब उसके अनन्तर अनिवृत्ति करण नवमे गुणस्थान मे प्रविष्ट होकर १ निद्रा निद्रा, २ प्रचला प्रचला, ३ स्त्यानगृद्धि इन तीन निद्राओं का क्षय करते हैं। तथा ४ नरकगति, ५ नरकगत्यानुपूर्वी, ६ स्थावर, ७ सूक्ष्म, ८ साधारण, ९ आतप, १० उद्योत, ११ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, १२ एकेन्द्रिय, १३ द्वीन्द्रिय, १४ त्रीन्द्रिय, १५ चतुरिन्द्रिय, १६ तिर्यंचगति इस प्रकार इन सोलह प्रकृतियों का क्षय अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम भाग मे करते हैं।

तत्पश्चात् अप्रत्याख्यान १७ क्रोध, १८ मान, १६ माया, २० लोभ तथा प्रत्याख्यान २१ क्रोध, २२ मान, २३ माया, २४ लोभ ये आठ मध्यम कषाय हैं, इनका अनिवृत्ति करण के दूसरे भाग में क्षय करते हैं।

२५ नपुंसक वेद का अनिवृत्तिकरण के तीसरे भाग में क्षय करते हैं।

२६ स्त्री वेद का विनाश इसके चतुर्थ भाग में करते हैं।

२७ हास्य, २८ रति, २६ अरति, ३० शोक, ३१ भय, और ३२ जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों का घात इसके पाँचवें भाग में करते हैं।

छठे भाग मे ३३ पुरुष वेद का निपातन करते हैं।

सातवें भाग में ३४ सज्वलन क्रोध का विघात करते हैं।

आठवें भाग में ३५ सज्वलन मान का विलय करते हैं।

नवमें भाग मे ३६ संज्वलन माया का क्षय करते है। और बादर-कृष्टि विभाग मे लोभ को कृश करते हैं।

इस प्रकार उक्त छत्तीस प्रकृतियों का संहार वे क्षपक अनिवृत्तिकरण के नव भागों मे पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान के द्वारा करके सूक्ष्मसाम्परायगुण स्थान में पहुँचते हैं। वहां पर वे सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त होकर संज्वलन सूक्ष्म लोभ का अनुभव करते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्त्ती होकर पृथक्त्व शुक्लध्यान के प्रकर्ष से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त समय मे सूक्ष्मसंज्वलन लोभ का भी क्षय करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का क्षय होने पर क्षीणकषाय गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। वहां पर वे क्षपक एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान का आराधन करते हैं। अर्थात् क्षीणकषाय गुणस्थान के प्रथम समय में शुक्लध्यान के द्वितीय भेद एकत्ववितर्क अवीचार की प्राप्ति करते हैं।

इस शुक्लध्यान के द्वितीय भेद के प्रभाव से यथाख्यात चारित्र होता। इस चारित्र के बल से जीव ज्ञानादि गुणों को अन्यथा करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों का एक समय में नाश करते हैं।

जैसे तालवृक्ष की मस्तक सूची का छेदन होने पर सम्पूर्ण ताल का वृक्ष सूख जाता है, उसमें नये पत्र पुष्प फलादि नहीं आसकते हैं। वैसे ही मोहनीय कर्म का नाश होने पर ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का भी विनाश हो जाता है।

मोहनीय कर्म की सहायता पाकर ही वे ज्ञानावरणादि कर्म में अज्ञानादि भावों को उत्पन्न करते थे। मोहनीयकर्म का विनाश

होने पर उनमें अज्ञानादि भाव उत्पन्न करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है।

क्षीणकषाय के द्विचरम समय (उपान्त समय) में निन्द्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का नाश होता है और उसके अन्त समय में चौदह प्रकृतियों (५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय) का क्षय हो जाता है।

तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिबंधं।
केवलणाणं सुद्धं तध केवलदंसणं चेव ॥ २१०३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—उसके अनन्तर ही सम्पूर्ण द्रव्यों की त्रिकालवर्त्ती समस्त पर्यायों की युगपत् हस्तरेखा समान स्पष्ट प्रत्यक्ष जानने वाला सम्पूर्ण दोष रहित निर्मल केवलज्ञान व केवलदर्शन प्रादुर्भूत होता है। यह किसी पदार्थ में काल में व किसी क्षेत्र में रुकता नहीं है; इसलिए अव्याघात है। यह निश्चयात्मक है इसलिए असंदिग्ध है। समस्त गुणों में उत्कृष्ट है; इसलिए उत्तम है। मतिज्ञानादि की तरह संकुचित नहीं है; इसलिए असंकुचित है। यह नाश से रहित है इसलिए अनिवृत्त है। यह अधूरा नहीं है इसलिए सकल है। इसमें इन्द्रिय और मन की सहायता नहीं है अतएव यह केवल कहलाता है। जैसे भूत, भावी, वर्त्तमान पदार्थों के अनेक चित्र जिसमें लिखे हुए हैं ऐसे चित्रपट को वर्त्तमान मे हम स्पष्ट देख सकते हैं, वैसे ही त्रिकालवर्त्ती समस्त गुण पर्यायों सहित समस्त लोक अलोक का युगपत् एक समय में चित्रपट की तरह वे केवल ज्ञान के धारक भगवान् केवली क्षपक अवलोकन करते हैं।

वह क्षपक भुज्यमान आयुकर्म के शेष भाग पर्यन्त केवली अवस्था मे विहार करते हैं। अर्थात् अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष हीन एक पूर्व कोटी वर्ष पर्यन्त सयोग केवलज्ञान अवस्था में अघाति कर्मों को भोगते हुए इस मनुष्य पर्याय में रहकर आर्य-क्षेत्र में विहार करते हैं और यथाख्यात चारित्र को वृद्धिंगत करते हैं।

उसके अनन्तर वे केवली भगवान् अघाति कर्मों का नाश करने के लिए अवशिष्ट जो सात प्रकार का योग है उसका निरोध करते हैं। यह योग निरोध विना इच्छा के ही होता है। अर्थात् सत्य वचन योग, अनुभय वचन योग, सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, और कार्मणयोग इन सातों योगों के व्यापार को रोकते हैं।

समुद्घात का वर्णन

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा।
वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—उत्कृष्ट रूप से आयु के छह मास बाकी रहने पर जिनको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है वे अवश्य समुद्घात करते हैं। शेष केवलियों के लिए समुद्घात विकल्पनीय है।

भावार्थ—मूल शरीर को न छोड़कर आत्म-प्रदेशों का दण्ड कपाटादि रूप होकर शरीर के बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। जिनको उत्कृष्ट छह मास की आयु शेष रहने पर केवल ज्ञान उत्पन्न हो जावे वे तो नियम से समुद्घात करते हैं। जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे केवली समुद्घात नहीं करते हैं। जिनके नाम गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है वे केवली समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—आयु का कितना काल शेष रहने पर केवली भगवान् समुद्घात करते हैं ?

उत्तर—भुज्यमान आयु का अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाता है, उस समय उक्त तीनों कर्मों की स्थिति आयु कर्म के समान करने के लिए केवली भगवान् समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—समुद्घात करने से नामादि कर्मों की अधिक स्थिति कम कैसे हो जाती है ?

उत्तर—जैसे सिमटा हुआ गीला वस्त्र अधिक काल में सूखता है पर वही कपड़ा फैला देने पर शीघ्र सूख जाता है वैसे ही समुद्घात के द्वारा कर्म की स्थिति का कारण जो स्नेह (चिकनाई) है वह सूख जाती है और वह शीघ्र निर्जरा के योग्य हो जाता है। अर्थात् कर्मों की स्थिति कम हो जाती है।

प्रश्न—केवली भगवान् नामादि कर्मों को समान करने के लिए किस तरह समुद्घात करते हैं ? और उसमे कितना काल लगता है ?

उत्तर - केवली भगवान आत्म-प्रदेशों को प्रथम समय में दण्डाकार निकालते हैं। दूसरे समय मे वे कपाट रूप होते हैं। तीसरे समय में प्रतराकार होते हैं अर्थात् वातवलय को छोड़कर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं। चौथे समय मे वातवलय सहित समस्त लोक मे व्याप्त हो जाते हैं। पांचवें समय मे उनको संकोच कर प्रतराकार करते हैं। छठे समय मे कपाटाकार करते हैं। सातवें समय में दण्डाकार करते हैं और आठवें समय में वे आत्म शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। ये चार समय संकोच करने के है। इस प्रकार समुद्घात में आठ समय लगते हैं।

इस प्रकार समुद्घात के द्वारा तीनों कर्मों को स्थिती आयु कर्म के समान करके मुक्ति की प्राप्ति के लिए योग का निरोध करते हैं

योगनिरोध

प्रश्न—योगों का निरोध किस क्रम से करते हैं ?

उत्तर—वे केवली भगवान् बादर वचनयोग और बादर मनोयोग का बादर काययोग में स्थिर निरोध करते हैं। तथा बादर काययोग का सूक्ष्म काययोग में स्थिर होकर निरोध करते हैं। तथा सूक्ष्म वचनयोग, सूक्ष्म मनोयोग को भी सूक्ष्म काययोग में स्थिर होकर रोकते हैं।

उत्कृष्ट लेश्या के धारक वे केवली भगवान् सूक्ष्म काययोग से सातावेदनीय कर्म बन्ध करते हैं। तब उनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान होता है। उस ध्यान द्वारा वे सूक्ष्म काय योग का निरोध करते हैं। अब कोई योग नहीं रहता है; इसलिए उनके आत्म प्रदेश निश्चल हो जाते हैं। व उनके सातावेदनीय कर्म का भी बन्ध नहीं होता है। क्योंकि उनके बन्ध का कारण केवल योग था उसका भी नाश हो जाने पर उनके समस्त बन्ध का अभाव हो जाता है।

योगनिरोध के बाद कौनसी कर्म प्रकृतियां रहती हैं ?

उस समय उनके १ मनुष्यगति, २ पंचेन्द्रिय जाति, ३ पर्याप्ति, ४ आदेय ५ सुभग, ६ यशकीर्त्ति, ७ सातावेदनीय, या असातावेदनीय इन दोनों में से एक, ८ त्रस, ९ बादर, १० उच्चगोत्र और ११ मनुष्यायु इन ग्यारह कर्मों का वे अनुभव करते हैं। जो तीर्थंकर केवली हैं, उनके एक तीर्थंकर प्रकृति अधिक होने से उनके १२ कर्मों का अनुभव होता है। जो मूक केवली हैं, उनक उक्त ग्यारह कर्मों का ही उदय रहता है।

औदारिक शरीर, तैजस शरीर तथा कार्मण शरीर इन तीन शरीर का बन्ध नष्ट करने के लिए वे अयोग केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाती (व्युपरतक्रियानिवर्त्ती) नामक शुक्ल ध्यान के अर्थ भेद को ध्याते हैं।

अयोग केवली गुणस्थान का काल 'अ इ उ ऋ लृ,' इन पांच ह्रस्वस्वर के उच्चारण काल के समान काल है। अर्थात जितना समय इन पांच स्वरों के उच्चारण करने में लगता है, उतने समय तक वह इस शरीर में रहते हैं।

इस गुणस्थान के उपान्त्य (द्विचरम) समय में उदय में नहीं आई हुई सब प्रकृतियों का क्षय करते हैं। अर्थात् तिहत्तर प्रकृतियों का क्षय करते हैं। और इसके अन्त समय में वह अयोग केवली भगवान् यदि तीर्थंकर हों तो बारह प्रकृतियों का और सामान्य केवली हों तो ग्यारह प्रकृतियों का क्षय करते हैं।

नाम कर्म के क्षय से तैजस बन्ध का नाश होता है और आयु कर्म के नाश से औदारिक बन्ध का क्षय होता है। इस प्रकार बन्धन से मुक्त हुए वे केवली भगवान् बन्धन मुक्त एरण्ड बीज के समान उत्कृष्ट वेग से ऊपर गति करके सिद्धालय में जाकर विराजमान होते हैं

शुद्ध जीव की गति कैसे होती है ?

जैसे मिट्टी आदि के लेप से युक्त तूम्बी जल में डूबी रहती है, लेप रहित होते ही जल के ऊपर आजाती है, वैसे ही जीव कर्म लेप से युक्त हुए संसार में पड़े रहते हैं और कर्म लेप से रहित होकर प्रयोगवश से स्वभावतः ऊर्ध्व गमन कर लोक के शिखर में जाकर विराजमान होते हैं। वे एक समय में सात राजू क्षेत्र को पार कर वातवलय के अन्त भाग में जाकर निश्चल हुए आत्म-स्वरूप में लीन रहते हैं।

जैसे वायु के झोंके के अभाव में अग्नि की लौ सदा ऊर्ध्व गमन करती है वैसे कर्मोदय के झोंके से रहित हुए मुक्त परमात्मा स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करते हैं। आगे गति में कारण भूत धर्म द्रव्य के न होने से लोक के अन्तिम सिरे पर जाकर वे स्थिर हो जाते हैं। अलोक में उनका गमन इसलिए नहीं होता है कि वहां धर्म द्रव्य नहीं है। धर्म द्रव्य ही गति करते हुए जीव पुद्गलों का गमन कर्म में सहायक होता है। जैसे रेल के गमन करने के लिए पटरी तथा मछली की गति के लिए जल सहायक होता है वैसे ही जीव और पुद्गलों की गमन क्रिया में धर्म द्रव्य सहकारी होता है। वह आगे नहीं है; अतः मुक्त जीव लोक की अन्तिम सीमा पर जो सिद्धालय है, वहां विराजमान हो जाते हैं। सो ही कहा है :—

सिद्धशिला कहां है ?

ईसप्पब्भाराए उवरिं अच्छदि सो जोयणम्मि सीदाए।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥ २१३३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—ईषत्प्राग्भारा नाम की आठवीं पृथ्वी है। उसके ऊपर किंचित ऊन (कुछ कम) एक योजन प्रमाण वातवलय का क्षेत्र है। उसके अन्त में जो लोक का शिखर है उसमें सिद्ध भगवान विराजमान हैं। वे शाश्वत और अचल हैं। तथा जरा जन्म मरणादि दोषों से रहित अनन्त चतुष्टय में मग्न हैं।

सारांश यह है कि लोक के अग्रभाग में ईषत्प्राग्भार नाम की एक पृथ्वी है। जो मध्य में आठ योजन मोटी (जाडी) है और फिर क्रमशः हीन (पतली) होती हुई अन्त में सिरे पर अंगुल के असंख्यातवें भाग पतली हो गई है। उसका विस्तार (लम्बाई-चौड़ाई)

पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है। वह उत्तानित श्वेत छत्र के समान आकार वाली है। उसकी परिधि (गोलाई) १४२३०२४६ एक करोड़ बियालीस लाख तीस हजार दोसौ उनचास योजन प्रमाण है। उसके ऊपर कुछ कम एक योजन प्रमाण वातवलय है। उसके अन्तिम भाग में अपनी अपनी अन्तिम शरीर प्रमाण अवगाहना से सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। वे शाश्वत हैं, अचल हैं और जरा मरणादि सब दूषणों से पृथक् हैं तथा अनन्त दर्शन-ज्ञान सुख और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय से शोभित हैं।

सिद्ध भगवान् की अवगाहना (आत्मप्रदेशों का आकार) जिस शरीर से योग निरोध कर मुक्त हुए हैं, उस चरम शरीर से किंचित् न्यून होती है। अर्थात् नख केशादि जिन अवयवों में आत्म प्रदेश नहीं होता हैं, उतनी कम अवगाहना के धारक होते हैं।

सिद्धावस्था का सुख

प्रश्न—सिद्ध भगवान् को किस प्रकार का सुख होता है ?

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति ।
सद्दरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥ २१४८ ॥
अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे ।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥ २१४९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—लोक में उत्कृष्ट सुख का अनुभव करने वाले देवेन्द्र तथा चक्रवर्ती उत्तमोत्तम स्पर्श रस गन्ध रूप व शब्द इत्यादि का सेवन कर जो सुख भोगते हैं वह सुख इस लोक मे सर्वोत्कृष्ट माना गया है। वह लोक का एकत्र किया हुआ सम्पूर्ण सुख सिद्ध भगवान् के सुख का अनन्तवाँ भाग है और यह कहना भी केवल समझाने के लिए है; क्योंकि संसार सुख और मुक्ति सुख की जाति भिन्न है।

भावार्थ—सिद्धों का सुख अतीन्द्रिय व आत्मजन्य है। संसार के सुख पराधीन इन्द्रियजन्य होने से तुच्छ हैं। सिद्धों का सुख अव्याबाध (बाधा रहित) है और सांसारिक सुख बाधा सहित है। अतः आत्मजन्य और पुद्गलजन्य सुख में समानता किसी प्रकार नहीं हो सकती है। संसार का सुख सुख नहीं; किन्तु दुःख की किंचित् निवृत्ति रूप कल्पना मात्र है। इसलिए वास्तव में सुख नहीं है और सिद्ध भगवान् के कर्मों का सर्वथा अभाव होने से लेश मात्र दुःख का अस्तित्व नहीं रहा है। वहाँ केवल निरन्तर अनुपम सुख का स्रोत बहता रहता है। अतः उनको अनन्त सुखी कहा जाता है। ऊपर दृष्टान्त द्वारा जो सिद्ध भगवान् के सुख की तुलना की गई है वह केवल मूढ बुद्धि संसारी

जीवो के समझाने मात्र के लिए है उनका अनिन्द्रिय सुख का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है।

अणुवममेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभवं च।
एयंतियमच्चंतियमव्वाबाधं सुहमजेयं ॥ २१५३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—हे भव्योत्तमों! इस जगत् में सिद्धों के सुख के समान या उससे अधिक सुख दूसरा कोई सुख नहीं है जिसकी उपमा सिद्ध सुख को दी जा सके। इसलिए सिद्धों का सुख अनुपम (उपमा रहति) है। छद्मस्थ जीव सिद्धों के सुख को जानने में तथा उसका परिमाण प्रतीत करने मे असमर्थ हैं; अतःवह अतुल (अमेय) है। इसमें प्रतिपक्षी दुःख का सर्वथा अभाव है; इसलिए यह अक्षय है। इसमें राग द्वेषादि का सम्पर्क नहीं है, अतः यह अमल है। जरा (वृद्धावस्था) से रहित होने से यह अजर है। इसमें रोग का संसर्ग तक नहीं है; इस लिए यह अरुज है। भय रहित होने से यह अभय है। संसार भ्रमण से मुक्त है अतः येह अभव है। यह सिद्ध सुख आत्मा से ही उत्पन्न होता है; इसलिए इसको एकान्तिक असहाय कहते हैं। इस प्रकार यह अनिन्द्रिय सिद्धों का सुख सब बाधाओं से रहित होने के कारण अव्याबाध सुख है।

इस भगवती (समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाली) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र और तपश्चरण की आराधना का आराधन (सेवन) करने से यह आत्मा तत्काल या सात आठ भव के भीतर परमानन्द पद को प्राप्त करलेती है। अतएव हे भव्य जीवो! इस भगवती का सेवन कर स्वय भगवान बनो।

इस प्रकार श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज द्वारा विरचि
सयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध की वृहत्समाधि अधिकार
नामक पञ्चम किरण समाप्त हुई।

मुद्रक

पं० भँवरलाल जैन न्यायतीर्थ,

श्री वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर।